भाषाकी शिक्षा

(सुपरिवर्द्धित संस्करण)

[उसकी समस्याएँ, समाधान और शिक्षण-विधियाँ]

भाषा-शिक्षणपर सबसे अधिक प्रामाणिक तथा सर्वाङ्गपूर्ण ग्रन्थ

—लेखक—

शिक्षण-शास्त्रके आचार्य

साहित्याचार्य्य पण्डित सीताराम चतुर्वेदी,

एम्० ए० (संस्कृत, हिन्दी, पालि, प्राच्य भारतीय इतिहास और संस्कृति), बी० टी०, एल् एल्० बी०

तथा

पण्डित शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र',

एम्. ए., बी. टी.,

प्राध्यापक, हरिश्चन्द्र कौलेज्, काशी

—प्रकाशक—

हिन्दी - साहित्य - कुटीर

बनारस

संवत् २०१२ विक्रमीय

विषयोंका विवेचन किया गया है उतने विषय मेरे ज्ञानमें किसी एक ग्रन्थमें नहीं हैं। इसे तो भाषा-शिक्षणका कोष समझना चाहिए। इसमें केवल भाषा-शिक्षणके सिद्धान्त और उसकी प्रणाली मात्रका ही समावेश नहीं है वरन् भाषा-शिक्षकके सामने उठ खड़ी होनेवाली सभी कठिनाइयाँ तथा समस्याओंपर भी विस्तारसे विचार किया गया है और उन्हें सुलझानेके उपाय भी सुझाए गए हैं। भाषा-शिक्षणके जितने भी रूप हो सकते थे उन सभीपर इस पुस्तकमें प्रकाश डाला गया है। इसमें यह भी ध्यान रक्खा गया है कि प्रत्येक सिद्धान्त मनोविज्ञान-सम्मत, तर्क-सिद्ध तथा बोधगम्य हों जिससे प्रत्येक अध्यापक सरलतासे उसे अपना सके। यह पुस्तक उन सभी अध्यापकोंके कामकी है जो प्राथमिक कक्षासे लेकर कौलेज्की ऊँची कक्षाओं तकमें भाषाकी शिक्षा देते हैं। प्रत्येक वर्गके अध्यापकको इसमें उसकी आवश्यकताके अनुसार सब सामग्री मिल जायगी।

इस पुस्तकके प्रणेता पण्डित सीताराम चतुर्वेदी स्वयं कई भारतीय तथा योरोपीय भाषाओंके ज्ञाता, सुयोग्य अध्यापक और शिक्षण-सिद्धान्तोंके पण्डित हैं। ये भाषा-शिक्षककी कठिनाइयोंसे तथा उनके दूर करनेकी विधियोंसे भी परिचित हैं। कई वर्षोंसे ये काशीके टीचर्स ट्रेनिङ्ग कौलेजमें संस्कृत, हिन्दी तथा अँगरेजीकी शिक्षण-विधियोंकी शिक्षा योग्यतापूर्वक दे रहे हैं, अतः इनकी लेखनीसे जो शिक्षण-सम्बन्धी-साहित्य निकल रहा है वह केवल पुस्तक-सिद्ध ही नहीं अनुभव-सिद्ध भी है।

मुझे आशा है कि ट्रेनिंग कौलेजों तथा ट्रेनिंग स्कूलोंमें भाषाकी शिक्षा देनेवाले सभी शिक्षक तथा अन्य भाषाओंके अध्यापक इस पुस्तकसे लाभ उठावेंगे।

गणेशचतुर्थी,
सं० १९९६ वि०,
२८ जनवरी,
सन् १९४० ई०

हरिकृष्णदास बूलचन्द मलकानी
एम्० ए०, एस्० टी० सी० डी०,
प्रिन्सिपल, टीचर्स ट्रेनिंग कौलेज,
काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय।

प्रथम संस्करणपर

प्रवचन

कई वर्षोंसे मैं इस पुस्तकका स्वप्न देख रहा था। न जाने कितनी बार कितने रूप, आकार तथा नाम लेकर यह पुस्तक मेरी कल्पनाकी रङ्गशालामें आकर अपना लास्य दिखा गई किन्तु भौतिक जगत्में वह सरूप न हो सकी। उसके कई कारण थे। मेरे बहुधन्धी जीवनकी व्यस्तताने मेरे कल्पना-लोकके द्वार सबके लिये बन्द कर दिए थे। मेरी लेखनी न जाने कितनी बार सपरिकर सन्नद्ध हुई, कितनी बार उसने बलपूर्वक मेरे विचारोंको बन्दी करनेका प्रयत्न किया, किन्तु वह असफल रहती चली आई। मैं अत्यन्त उत्सुक होनेपर भी अपनी लेखनीकी साध पूरी न कर सका।

फिर मैंने विचार किया कि यदि कोई गणेश मिले तो मैं व्यास बन जाऊँ। ग्रन्थकी सम्पूर्ण सामग्री सूत्र रूपमें सुरक्षित थी, उसका व्यास करने भरकी देर थी, पर गणेश न मिल सके। गत वर्ष पूज्यपाद प्रातः स्मरणीय गुरुवर महामना पंडित मदनमोहन मालवीयजीके आशीर्वादसे तथा सौजन्यमूर्त्ति गुरुवर श्री हरिकृष्णदास मलकानीजीके स्नेहसे जब मैं टीचर्स ट्रेनिङ्ग कौलेजमें भाषा-शिक्षण-शास्त्रका आचार्य्य बनाया गया, तब इस ग्रन्थका अभाव खटकने लगा। इस क्षेत्रमें अभीतक गुरुवर पंडित लज्जाशंकर झाजीकी 'भाषा-शिक्षण-पद्धति' एकमात्र पुस्तक थी। अतः पढ़ानेके लिये उसी पुस्तकका आश्रय लेना पड़ा। उसकी प्रेरणासे अनेक नये विचार मनमें उठे और अनेक समस्याएँ सामने आईं, साथ ही शिक्षा-युगकी अनेक नई क्रान्तियों और गतियोंसे भी परिचय हुआ। अतः एक ऐसी पोथीके निर्माणकी आवश्यकता प्रतीत होने लगी जो एक ओर भाषा-शिक्षककी सब कठिनाइयोंका भी समाधान कर सके और दूसरी ओर उसे शिक्षण-शास्त्रसे भी भली प्रकार परिचित करा सके।

एक बार लेखनी भी जाग उठी किन्तु जागकर भी केवल ऊँघकर, जँभाई लेकर, अंग मोड़कर फिर लेट गई। मेरा वश ही क्या था ?

किन्तु भावना प्रबल थी। जेठकी बनारसी गर्मीकी एक मंगलमयी सन्ध्याको संयोगवश पण्डित शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र' जीसे भेंट हो गई। मैंने उनसे अपनी विवशता कह सुनाई। उन्होंने गणेश बनना स्वीकार किया। रुद्रसे गणेश बननेमें उन्हें कितना बड़ा त्याग करना पड़ा यह तो प्रत्येक साहित्यकार समझ सकता है किन्तु मेरे लिये उन्होंने यह परम त्याग भी स्वीकार कर लिया। रुद्र गणेश बने और पुस्तकका श्रीगणेश हो गया। नित्य सन्ध्याको किंग-एडवर्ड छात्रावासमें मैं एक-एक अध्यायका प्रवचन करता जाता था, रुद्रजी उसे अलंकृत करके भाषा-निबद्ध करते चलते थे। धीरे-धीरे ग्रन्थ पूरा हो गया। मैं उनका इसलिये विशेष कृतज्ञ हूँ कि उन्होंने कृपा करके ग्रन्थके लेखकके रूपमें भी अपना नाम देनेकी अनुमति दे दी।

अब प्रकाशककी खोज होने लगी। मैं अनेक प्रकाशकोंको आँक चुका था। मैं चाहता था सच्चा, सज्जन तथा समझदार प्रकाशक। इधर-उधर आँखें दौड़ाईं। अन्तमें जिन खोजा तिन पाइयाँ। राजा बाबू (श्रीद्वारिकादास) मिल गए और उन्होंने झट प्रकाशन-भार ले लिया।

पुस्तक छपाईके लिये दे देनेपर प्रिंसिपल मलकानीजीने अनेक नये संशोधन और नये विचार सुझाए। मुझे भी यह बात जँची कि पुस्तक निकले तो सर्वांगपूर्ण होकर। ऐसा न हो कि कोई विषय छूट जाय। अब मेरी लेखनी भी गतिशील हो चली और जितना ग्रन्थ लिखा जा चुका था उतना ही मैंने और बढ़ा दिया। पुस्तक छपने लगी और जैसे-जैसे वह छपती चली वैसे ही वैसे नये-नये विचार आते चले। पुस्तक हनुमानजीकी पूँछके समान बढ़ती चली जा रही थी। मेरे प्रूफ-संशोधनको देख-देखकर प्रकाशक और मुद्रक दोनों खीझ रहे थे किन्तु और कोई चारा न था। पुस्तक बढ़ती गई, पर अनन्त तो थी नहीं, आज समाप्त हो गई। जिस प्रकार गोस्वामी तुलसीदासजीने—

'नाना पुराणनिगमागमसम्मतं यत्
रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोपि ॥'

—अनेक पुराण, शास्त्र और वेदका मत लेकर तथा और भी स्थानों-से जो प्राप्त हुआ उसे रामायणमें कह डाला, उसी प्रकार भाषा-शिक्षण-शास्त्रके सभी प्राप्य ग्रन्थोंको मथकर हमने भी सामग्री लेकर अपने अनुभवसे सिद्ध करके इस पुस्तकमें ला रक्खी। इसलिये मुझे विश्वास है कि भाषा-शिक्षककी प्रत्येक जिज्ञासा इस ग्रन्थसे तृप्त हो सकेगी।

मैं गुरुवर प्रिंसिपल मलकानीजीका विशेष रूपसे आभारी हूँ, जिन्होंने बड़ी कृपा करके इसके लिखनेमें सहायता दी और भूमिका लिखकर मुझे कृतज्ञ किया। नागरीमें ध्वनितत्त्वके विषयमें जो कुछ पहले लिखा गया था उसमें हिन्दी और संस्कृतके विचक्षण विद्वान्, हमारे मित्र साहित्य शास्त्री, व्याकरणाचार्य पंडित करुणापति त्रिपाठी एम्० ए०, ने कुछ परिवर्द्धन करके उक्त अध्यायको अधिक स्पष्ट और सुबोध बना दिया है। इस सहायताके लिये मैं उनका भी अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। मेरे प्रकाशक मित्र राजा बाबूने जिस लगन और दौड़-धूपसे इस पुस्तकको शुद्ध तथा मनोहर बनानेका प्रयास किया है उसके लिये वे अधिक धन्यवादके पात्र हैं।

पुस्तकमें सब ज्ञातव्य विषयोंका समावेश कर देनेपर भी यह सम्भव है कि कुछ विषय छूट गए हों, और अनेक स्थानोंपर छापेकी भूलें भी रह गई हों। ऐसी स्थितिमें हमें आशा है कि पाठकगण हमें हमारी त्रुटियाँ तथा भूलें सुझानेकी कृपा करेंगे।

काशी,
गणेशचतुर्थी,
सं० १९९६ वि०

सीताराम चतुर्वेदी

द्वितीय संस्करण

धीरे-धीरे भारतके ट्रेनिंग कौलेजोंमें हिन्दी-शिक्षणपर विशेष बल दिया जाने लगा है, इसलिये स्वभावतः पिछला संस्करण समाप्त होते ही

अत्यन्त साधारण परिवर्त्तनोंके साथ यह दूसरा संस्करण प्रकाशित किया जा रहा है। हमें बड़ी प्रसन्नता होगी यदि हिन्दीके अध्यापक अपनी समस्याएँ भेजकर तथा अपने प्रश्न उपस्थित करके इस पुस्तकके उचित संस्कारमें हमारी सहायता करेंगे।

काशी,
श्रावणी, सं० २००० } सीताराम चतुर्वेदी

तृतीय संस्करणके सम्बन्धमें

निवेदन

प्रथम संस्करणके पश्चात् द्वितीय संस्करण जब प्रकाशित होने लगा तब उसमें साधारणसे हेरफेरकी आवश्यकता तो प्रतीत हुई किन्तु कोई विशेष परिवर्त्तन और परिवर्द्धन अपेक्षित न समझा गया। किन्तु दूसरे संस्करणके समाप्त होनेतक यह पोथी इतने अधिक कृपालु हाथोंमें पहुँची कि उन्होंने अपनी शंकाएँ और कठिनाइयाँ प्रारम्भ कीं और कुछ विशेष स्थलोंका विस्तारसे स्पष्टीकरण करनेकी आवश्यकता बताई। इन कृपालु मित्रोंके सुझावकी उपेक्षा करना उचित नहीं था इसलिये तृतीय संस्करणमें तदनुसार कुछ अंश बढ़ा दिया गया है।

काशी,
वैशाख कृ० १४,
सं० २००६ वि० } सीताराम चतुर्वेदी

चतुर्थ संस्करणका आधार

भाषाके अध्यापकोंने व्यापक रूपसे इस ग्रन्थका जितना सम्मान किया और इसके प्रति जितनी सजग रुचि दिखाई वह इसी बातसे प्रमाणित है कि जिज्ञासु तथा सत्यनिष्ठ अध्यापकगण समय-समयपर

इस ग्रन्थकी सामग्रीके सम्बन्धमें निरंतर अपनी समस्याएँ हमारे सम्मुख उपस्थित करते रहे हैं और जिन अंशोंका अभाव उन्हें खटका या जिन अंशोंका उन्होंने अधिक विवेचन आवश्यक समझा उन्हें बढ़ानेके लिये वे निरंतर आग्रह करते रहे। यही कारण है कि हमें उन सम्माननीय मित्रोंका आवश्यक अनुरोध स्वीकार करके चतुर्थ संस्करणका कलेवर कुछ बढ़ा देना पड़ा है।

पिछले संस्करणोंमें भाषा-शिक्षणके विविध अङ्गोंके सम्बन्धमें कुछ विषय सूत्र-रूपमें दे दिए गए थे और यह आशा की गई थी कि शिक्षण-विद्यालयोंमें शिक्षा देनेवाले आचार्यगण अन्य ग्रन्थोंकी सहायतासे उन सूत्रोंके आधारपर काम चला लेंगे किन्तु सभी विद्यालयोंमें न तो उतनी पुस्तकें उपलब्ध हैं न अन्य प्रकारके सहायक साधन ही। इसलिये उन आचार्योंने यह आग्रह किया कि जो विषय इस ग्रन्थमें संक्षिप्त रूपमें दिए गए हैं उनका यथावश्यक विस्तार कर दिया जाय। अतः इस संस्करणमें उन सभी स्थलोंका उतना विस्तार कर दिया गया है जितना ग्रन्थकी परिधिकी दृष्टिसे तथा अध्यापकोंकी आवश्यकताकी दृष्टिसे अनिवार्यतः उपादेय समझा गया।

भाषा-शैलीके सम्बन्धमें विवेचन करते हुए हमने जिन आदर्शोंका संकेत किया था उनके विषयमें हमारे मित्र अध्यापकोंने यह आग्रह किया कि भाषा-शैलियोंके विवेचनके साथ-साथ उनके आदर्श भी प्रस्तुत कर दिए जायँ तो अच्छा हो। तदनुसार इस संस्करणमें यथास्थान उदाहरणस्वरूप भाषा-शैलियोंके तथा पाठरूपोंके उदाहरण भी बढ़ा दिए गए हैं। पाठसूत्रोंके प्रकरणमें द्रुतपाठके लिये श्री दादाभाई नौरोजी-पर जो पाठ दिया गया था उसे इस दृष्टिसे बदल दिया गया है कि उसकी भाषा हिन्दी-भाषा-भाषीतर प्रान्तोंके विद्यालयोंके भाषा-मानकी दृष्टिसे कुछ कठिन पड़ती थी इसलिये उसके बदले महामना पंडित मदनमोहन मालवीयजीपर द्रुत-पाठकी शैलीके अनुरूप ठेठ तद्भवात्मिका शैलीमें पाठ जोड़ दिया गया है।

जहाँ-जहाँ किसी विषयकी शाखा-प्रशाखाओं तथा अंगों-उपांगोंका विवेचन किया गया है वहाँ उसके साथ मानचित्र भी दे दिए गए हैं जिससे उन्हें समझनेमें पर्याप्त सुविधा हो सके। मुझे विश्वास है कि इस परिवर्द्धनसे भाषाके शिक्षक पूर्णतः सन्तुष्ट हो सकेंगे। पुस्तकका कलेवर बढ़ने तथा कागजकी महार्घताके कारण हमें इस ग्रन्थका मूल्य बढ़ानेको विवश होना पड़ा है। मैं इस ग्रन्थके प्रकाशक अपने मित्र हिन्दी-साहित्य कुटीरके अध्यक्ष श्रीराजाबाबू (श्रीद्वारिकादास वैद्य) का अत्यन्त कृतज्ञ हूँ जिन्होंने अत्यन्त मनोयोगपूर्वक इस संस्करणके प्रकाशनमें सहयोग दिया है।

गंगादशहरा, सम्वत् २०१० वि०,
उत्तर बेनिया बाग,
बनारस

सीताराम चतुर्वेदी
एम्. ए., बी. टी., एल्-एल्. बी.,
साहित्याचार्य

पञ्चम संस्करणकी पृष्ठभूमि

यह संस्करण अन्य सभी संस्करणोंकी अपेक्षा अधिक विस्तृत हो गया है क्योंकि भारतवर्ष भरमें फैले हुए हिन्दीके अनेक अध्यापक तथा छात्र निरन्तर अपनी समस्याएँ प्रस्तुत करके इस ग्रन्थमें ही उसके समाधानका सन्निवेश करनेका आग्रह करते रहे हैं। यद्यपि पिछले संस्करणमें बहुतसे विषय भी बढ़ा दिए गए थे और यथास्थान उदाहरण भी प्रस्तुत कर दिए गए थे फिर भी हमारे मित्रोंको पर्याप्त सन्तोष नहीं मिल पाया। उन्हींके विशेष आग्रहपर इस संस्करणमें कुछ नये प्रसंग और उदाहरण बढ़ाकर इसे और भी उपादेय बनानेका प्रयत्न किया गया है।

इस संस्करणमें लिपि-सम्बन्धी दोनों अध्याय एकमें मिला दिए गए हैं, व्याकरणके अध्यायको दो अध्यायोंमें बाँटकर रूढोक्तिका प्रकरण पूर्णतः पृथक् कर दिया है और उसमें उदाहरण बढ़ा दिए गए हैं। लिपि-सुधारकी समस्यापर शास्त्रीय तथा वैज्ञानिक दृष्टिसे विस्तृत सोदाहरण विचार किया गया है। अन्य अनेक स्थानोंपर जहाँ अधिक स्पष्टीकरण अपेक्षित था वहाँ व्याख्या और उदाहरण देनेमें कोई संकोच नहीं किया गया।

इस परिवर्द्धनके साथ-साथ अनावश्यक वाक्य या वाक्यांश निकाल दिए गए हैं। नये अनुभव, शोध तथा प्रयोगोंके आधारपर कहीं-कहीं आवश्यक परिवर्त्तन करके इस संस्करणको अधिकाधिक उपयोगी और पूर्ण बनानेका प्रयास किया गया है।

चतुर्थ संस्करण इतने वेगसे समाप्त हो गया कि पंचम संस्करण अत्यन्त शीघ्रतासे छापनेकी आवश्यकता पड़ गई किन्तु इसे पूर्णतः नवीनतम बनानेकी सद्वृत्तिके कारण दो मासका विलम्ब भी हो गया क्योंकि संशोधनमें स्वभावतः इतना समय लग गया कि बहुतसे पुस्तक-विक्रेताओंकी माँग विवश होकर अस्वीकृत करनी पड़ी। किन्तु यह विश्वास अवश्य है कि यह संस्करण और भी अधिक उपादेय सिद्ध होगा।

श्रीकृष्ण जन्माष्टमी
सं० २०१२
काशी

सीताराम चतुर्वेदी

विषय-सूची

मेथड , -. .-श्लेषण-संश्लेषण-प्रणाली (एनैलिटिको सिन्थेटिक मेथड) : विश्लेषण तथा परिणाम-प्रणाली ग्राह्य है : सिद्धान्त-सूत्र (मैक्सिम्स) : व्यक्तिगत अनुभवसे व्यापक अनुभवकी ओर : प्रकट-से अप्रकटकी ओर : उदाहरणसे नियमकी ओर : ज्ञातसे अज्ञातकी ओर : साधारणसे असाधारणकी ओर : अनिश्चितसे निश्चितकी ओर : अनुभूतसे युक्ति-युक्तिकी ओर : सरलसे जटिलकी ओर : पूर्णसे खंडकी ओर : सिद्धान्त-सूत्रोंका लक्ष्य ।

१५. पाठ्य-पुस्तकों-द्वारा गद्य-शिक्षाका विधान

गद्य-पाठ : गद्य पढ़ानेके सामान्य उद्देश्य : मुख्य उद्देश्य : हरबार्टीय पञ्चपदी : प्रस्तावना (इन्ट्रोडक्शन) : विषय-प्रवेश (प्रेजेन्टेशन) : वाचन : सस्वर वाचनके तीन रूप : आदर्श वाचन (मौडल रीडिंग) : व्यक्तिगत सस्वर वाचन (इंडिविजुअल लाउड रीडिंग) : समवेत वाचन (साइमल्टेनियस रीडिंग) : मौन वाचन (साइलेंट रीडिंग) : कविता-शिक्षणमें मौन पाठ वर्जित : वाचनाचार : सुवाचकोंको निमंत्रण : सारांश : वाचन भी कला है : वाचन-क्रम : आत्मीकरण (एसीमिलेशन) : विस्तृत व्याख्या (डिटेल्ड एक्स्पोज़िशन) : सावधानी : मौखिक प्रणालियाँ (ओरल मेथड्स) : विचार-विश्लेषण (थौट एनैलिसस) : सिद्धान्त-निरूपण, पुनरावृत्ति (जनरलाइज़ेशन, रिकैपिचुलेशन) : प्रयोग : पाठन-क्रम ।

१६. कविता पढ़ानेके उद्देश्य और शिक्षण-विधियाँ

कविताकी परिभाषा : छन्दोबद्ध रचनाके तीन रूप : गद्य और पद्यकी शिक्षामें अन्तर : कविता-शिक्षणके साधारण उद्देश्य : मुख्य उद्देश्य : कविता-शिक्षण-प्रणालियाँ : गीत तथा अभिनय-प्रणाली : गीत-प्रणाली : अभिनय-प्रणाली : अर्थ-बोध-प्रणाली : व्याख्या-प्रणाली : खण्डान्वय-प्रणाली : व्यास-प्रणाली : तुलना-प्रणाली : तुलनाकी अन्य प्रणालियाँ : समभाषा-कवितुलना-प्रणाली : भिन्न-भाषा-कवि-तुलना-प्रणाली : भाव-तुलना-प्रणाली : समीक्षा-प्रणाली :

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

भाषाकी शिक्षा

[भाषा-शिक्षणकी समस्याएँ, उनके समाधान और शिक्षा-विधियाँ]

१

भाषा और उसकी शिक्षाके उद्देश्य

भाषाका महत्त्व

मनोगत भाव प्रकट करनेका सर्वोत्कृष्ट साधन भाषा है। यद्यपि आँख, सिर और हाथ आदि अंगोंके सञ्चालनसे भी भाव प्रकट किए जा सकते हैं किन्तु भाषा जितनी शीघ्रता, सुगमता और स्पष्टतासे भाव प्रकट करती है, उतनी सरलतासे अन्य साधन नहीं। यदि भाषा न होती तो मनुष्य, पशुओंसे भी गया-बीता होता; क्योंकि पशु भी करुणा, क्रोध, प्रेम, भय आदि कुछ भाव अपने कान-पूँछ हिलाकर या गरज-

भूँककर व्यक्त कर लेते हैं। भाषाके आविर्भावसे सारा मानव-संसार गूँगोंकी विराट् बस्ती बननेसे बच गया।

भाषाके चार प्रयोजन

ईश्वरने हमें वाणी भी दी और बुद्धि भी। हमने इन दोनोंके उचित संयोगसे भाषाका आविष्कार किया। भाषाने भी बदलेमें हमें इस योग्य बनाया कि हम अपने मनकी बात एक दूसरेसे कह सकें, अपना दुख-सुख दूसरोंको सुना सकें और दूसरोंका दुख-सुख स्वयं समझ सकें।

परन्तु भाषाकी उपयोगिता केवल कहने-सुननेतक ही परिमित नहीं है। कहने-सुननेके साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि हम जो कुछ कहना चाहें, वह सब ऐसे नपे-तुले शब्दोंमें इस ढंगसे कहें कि सुननेवाला, शब्दोंके सहारे हमारी बात ठीक-ठीक समझ जाय। ऐसा न हो कि हम कहें खेतकी, वह सुने खलिहानकी।

बोलने और समझनेके अतिरिक्त भाषाका उपयोग पढ़ने और लिखनेमें भी होता है। कहने और समझनेकी भाँति लिखने और पढ़नेमें भी उपयुक्त शब्दोंके द्वारा भाव प्रकट करने और उसे ठीक-ठीक पढ़कर समझनेकी आवश्यकता होती है। अतः भाषाकी शिक्षा देनेका उद्देश्य यह है कि मनुष्य ठीक-ठीक बोल, समझ, लिख और पढ़ सके।

प्रभाव और शैली

किन्तु केवल ठीक-ठीक बोलने, समझने, पढ़ने और लिखने मात्रकी योग्यता आ जानेसे ही भाषा-शिक्षाका उद्देश्य पूरा नहीं होता। व्याकरणकी कड़ियोंमें कसकर शुद्ध ढंगसे किसी बातको कह-सुन लेनेसे ही हमारी तृप्ति नहीं होती। हमारी आकांक्षा यह भी रहती है कि हम जो बात कहें उसका श्रोतापर भी प्रभाव पड़े। साथ ही हम यह भी चाहते हैं कि लिखने और बोलनेमें हमारा एक अपना निरालापन हो, हमारी एक अपनी शैली हो, जिससे हम लाखोंमें अलग पहचान लिए जायँ; अर्थात् हमारे लिखने

और बोलनेपर हमारे व्यक्तित्वकी छाप पड़ी हो। इस भावनाको अग्रसर और उत्साहित करनेमें हमारी आत्मप्रियता अथवा यदि खुले शब्दोंमें कहें तो हमारा अहङ्कार बराबर सहायक होता है। ऐसी स्थितिमें दूसरोंसे अपनी बात मनवानेकी अभिलाषा—'हमचुनीं दीगरे नेस्त' की प्रवृत्ति—कभी-कभी भारी बखेड़ा उपस्थित कर देती है। दूसरोंपर प्रभाव डालनेके लिये जब हम ओजपूर्ण शैलीमें कोई बात कहने लगते हैं तब इसकी चिन्ता नहीं करते कि श्रोता हमारी बातकी चोटसे तिलमिलाता है या खिलखिलाता है। ऊँचे स्वरसे चिल्ला-चिल्लाकर अपशब्दोंके प्रयोगको ही हम लोग भ्रमवश प्रभावपूर्ण और ओजपूर्ण शैली समझ बैठते हैं। परिणाम यह होता है कि प्रभावके स्थानपर असद्भाव उत्पन्न हो जाता है; बात माननेके बदले, श्रोता बात काटने लगता है।

मधुरता

अतः यह आवश्यक है कि लिखते और बोलते समय कोई भी बात ठीक-ठीक प्रभावोत्पादक और ओजपूर्ण शैलीमें कही जानेके साथ-साथ मधुर ढंगसे भी कही जाय, क्योंकि बात कहना कठिन नहीं है, ढंगसे कहना कठिन है। '*वाणी उस बाणके समान होनी चाहिए जो भीतरतक पहुँचकर श्रोताका हृदय बेधे तो, किन्तु चोट खानेवाला न रोवे, न चिल्लावे, न आह करे, न कराहे, वरन् बाण निकालकर चूम ले और तड़पकर कह उठे—भाई वाह! क्या बाण चलाया है।*' तात्पर्य्य यह कि बात इस ढंगसे कही जाय कि सुननेवाला उसकी कटुतापर चिढ़े नहीं, वरन् उलटे उसकी कथन-शैलीपर लोटपोट हो जाय।

कहा जाता है कि राजा भोज जब छोटे थे तब उनके चाचा मुंजने राज्य हड़प लेनेकी इच्छासे भोजका वध करा डालना चाहा। जब भोजका वध करनेके लिये वधिक उसे वनमें ले गए और उन्होंने भोजसे सब बातें बताईं। भोजने वधिकोंसे कहा—'ठीक है, जब चाचाजीकी यही इच्छा है तो तुम लोग मेरा वध कर डालो। किन्तु मैं एक पत्र लिखकर देता हूँ, वह

ले जाकर मेरे चाचाजीको दे देना।' भोजने झट अपनी छठी उँगली काटकर रक्तसे यह श्लोक लिखा—

मान्धाता च महीपतिः कृतयुगालंकारभूतो गतः
सेतुर्येन महोदधौ विरचितः क्वासौ दशास्यान्तकः।
अन्ये चापि युधिष्ठिरप्रभृतयो याता दिवं भूपते!
नैकेनापि समं गता वसुमती नूनं त्वया यास्यति॥

[सत्ययुगके प्रतापी राजा मान्धाता भी समाप्त हो गए। जिस रामने समुद्रपर पुल बाँधकर रावणको मार डाला था, वे भी कहाँ रह गए? इनके अतिरिक्त युधिष्ठिर आदि बड़े-बड़े राजा भी चलते बने किन्तु पृथ्वी किसीके साथ नहीं गई। पर जान पड़ता है आपके साथ यह अवश्य जायगी।]

जब यह पत्र वधिकोंने पढ़ा तो उनकी आँखें भर आईं। उन्होंने भोजको लाकर छिपा दिया और वह पत्र लाकर मुञ्जको दे दिया। पत्र पढ़ते ही मुञ्ज रोने लगा और उसने खोज कराकर भोजको राज्य दे दिया।

इसी प्रकार शेरशाह सूरी जब मलिक मुहम्मद जायसीकी कानी आँखपर हँसा, तो जायसी बोला—मोहिका हँसेसि कि कोहरहिं? [मुझपर हँस रहे हो या मेरे निर्मातापर?] यह सुनकर शेरशाह अपना-सा मुँह लेकर रह गया।

तुलसीदासजी भी अपनी स्त्रीकी इन बातोंसे ही प्रभावित होकर तुलसी बने—

अस्थि-चरममय देह मम, तामें जैसी प्रीति।
तैसी जौ श्रीराम महँ, होति न तौ भव-भीति॥

महापात्र नरहरि बन्दीजनने गौओंकी ओरसे यह छप्पय लिखकर सम्राट् अकबरसे गोवध बन्द करा दिया था—

अरिहु दन्त तिनु धरै ताहि नहिं मार सकत कोइ।
हम संतत तिनु चरहिं बचन उच्चरहिं दीन होइ॥
अमृत पय नित स्त्रवहिं बच्छ महि-थम्भन जावहिं।
हिन्दुहिं मधुर न देहिं, कटुक तुरकहिं न पियावहिं॥

कह कवि नरहरि अकबर सुनौ, बिनवति गउ जोरे करन।
अपराध कौन मोहि मारियतु, मुएहु चाम सेवहिं चरन॥

एक बार अटककी लड़ाईपर जब बीरबल गया और सम्राट् अकबरको वहाँके गम्भीर समाचार मिलने लगे तब उसने डौंड़ी पिटवा दी कि जो कोई मुझे बीरबलके समाप्त होनेका समाचार देगा उसे मैं प्राण-दण्ड दूँगा। उस युद्धमें बीरबल सचमुच वीरगतिको प्राप्त हुए। समाचार देना भी आवश्यक था। अतः एक साहसी कविने सम्राट् अकबरसे जाकर निवेदन किया—

कटक अटकमैं अटकि रहि, अटक न आयौ हाथ।
सब सोभा दरबारकी, गई बीरबर साथ॥

[अटकमें पहुँचकर सेनाकी गति रुक गई और अटक भी हाथ न लग पाया उल्टे दरबारकी सारी शोभा बीरबलके साथ चली गई।]

अकबरने पूछा—क्या बीरबल मारे गए?

उसने कहा—हुजूर ही कह रहे हैं, खादिमने तो इसका ज़िक्र भी नहीं किया।

जयपुरके राजा जयसिंह जब एक बालकुमारीके मोहमें पड़कर राज्य-कार्यसे उदासीन हो चले, उस समय कविवर बिहारीने यह दोहा भेजकर ही उन्हें मोहसे छुड़ाया था—

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहि काल।
अली कली ही तैं बँध्यौ, आगे कौन हवाल॥

एक बार शाह मुअज्ज़मने कविवर आलमकी पत्नी शेख़ रँगरेज़िनसे हँसी करते हुए कहा—

कहिए! आलम (संसार) की औरत आप ही हैं? शेख़ रँगरेज़िनके पुत्रका नाम था जहान। उसने झटसे उत्तर दिया—जी हाँ! जहान (संसार) की माँ मैं ही हूँ। [व्यंग्य यह हुआ कि मैं संसारकी माँ हूँ, पत्नी नहीं।]

कहनेका तात्पर्य यह है कि वाणीमें विचित्र शक्ति तो होती है पर उसका

उचित प्रयोग भी जानना चाहिए। यह शक्ति वाणीके उचित संस्कारसे ही प्राप्त हो सकती है। इसीलिये कबीरने कहा है—

जिभ्यामें अमृत बसै, जो कोई जानै बोल।
बिस बासिकका ऊतरै, जिभ्या काहि हिलोल॥

[यदि कोई बोलनेका ढंग जान सके तो जीभमें ही अमृत रहता है। देखो, सर्पका विष उतारनेवाला गारुडी, केवल जीभ ही तो हिलाता है। पर उसीसे विष उतार देता है।]

चमत्कार

विधाताकी सृष्टिमें सबसे अधिक असंतुष्ट प्राणी मनुष्य है। वह आवश्यकताकी पूर्त्ति मात्रसे संतुष्ट नहीं होता। उसे भूख लगनेपर केवल भोजन ही नहीं चाहिए वरन् भोजनमें उसे कुछ चटपटापन, कुछ स्वाद, कुछ नमक-मसाला भी मिलना चाहिए। इसी प्रकार धूप-वर्षा, चोरी-डाकेसे बचनेके लिये मनुष्य घर बनाता है, पर घर बन जाने भरसे ही उसका मन नहीं भरता। वह उसे भिन्न-भिन्न रंगोंसे रँगवाता है, उसपर बेलबूटे बनवाता है, चित्रकारी कराता है। आवश्यकताकी पूर्त्तिके साथ वह अपनी सौन्दर्य-भावनाकी तृप्तिके साधन भी प्रस्तुत करता जाता है। उसकी यही प्रवृत्ति, भाषाका प्रयोग करते समय भी सचेष्ट हो जाती है। वह प्रभावशाली ढंगसे, व्याकरणकी दृष्टिसे शुद्ध और मधुर भाषाका प्रयोग करनेके साथ-साथ उसमें चमत्कार तथा सौन्दर्य लानेका भी प्रयत्न करता है, क्योंकि वह जानता है कि इस प्रकारकी चमत्कारपूर्ण वाणी लोगोंको शीघ्र ही आकृष्ट कर सकेगी और उसका प्रभाव भी स्थायी होगा।

भाषाका उद्देश्य

अतः भाषाकी शिक्षाका उद्देश्य यह है कि हम दूसरोंकी कही और लिखी हुई बातें ठीक-ठीक समझ और पढ़ सकें तथा शुद्ध, प्रभावोत्पादक, मधुर और रमणीय ढंगसे बोल और लिख सकें।

शुद्ध भाषा

शुद्ध भाषाका अर्थ यह है कि वक्ता अथवा लेखकको अपनी भाषाके व्याकरणपर आश्रित शिष्ट-जनमें प्रयुक्त होनेवाली भाषा-शैलीका ही प्रयोग करना चाहिए। यह शुद्धता चार प्रकारकी होती है—१. व्याकरणसे शुद्ध हो, जिसके अन्तर्गत शब्द-रूप, लिंग, वचन, वाक्य-विन्यासादिकी शुद्धताका समावेश होता है, २. अन्य भाषाओंके शब्दोंसे मिली हुई न हो, ३. अश्लील या अशिष्ट शब्दोंका प्रयोग न हो, ४. उच्चारणकी शुद्धता हो, ५. मुहावरोंका उचित प्रयोग हो। इन पाँचोंको हम निम्नलिखित उदाहरणोंसे समझा सकते हैं—

१. व्याकरणकी शुद्धता

राम दशरथसे कहे	—	अशुद्ध
रामने दशरथसे कहा	—	शुद्ध
कितनी मूली लाए हो ?	—	अशुद्ध
कितनी मूलियाँ लाए हो ?	—	शुद्ध
हाथी आती है	—	अशुद्ध
हाथी आता है	—	शुद्ध
उपरोक्त नियम ठीक है	—	अशुद्ध
उपर्युक्त नियम ठीक है	—	शुद्ध
निम्न सज्जन पधारे	—	अशुद्ध
निम्नलिखित सज्जन पधारे	—	शुद्ध
वायु (पवन, समीर) चल रही है	—	अशुद्ध
वायु (पवन, समीर) चल रहा है	—	शुद्ध
हमारी आत्मा स्वीकार नहीं करती	—	अशुद्ध
हमारा आत्मा स्वीकार नहीं करता	—	शुद्ध
राम, जो दशरथके पुत्र थे, ने कहा	—	अशुद्ध
दशरथके पुत्र रामने कहा	—	शुद्ध

२. भाषा-रूपकी शुद्धता

मैं सन्डे मौर्निङ्गको काशीसे रवाना होऊँगा — अशुद्ध
मैं रविवारको प्रातः काशीसे प्रस्थान करूँगा — शुद्ध
या
मैं इतवारको सबेरे काशीसे चलूँगा

वह खूबसूरत महिला है — अशुद्ध
वह सुन्दर महिला है — शुद्ध

सूरदासकी कविता फार चाँगलां है — अशुद्ध
सूरदासकी कविता अत्यन्त श्रेष्ठ है — शुद्ध

हमारी चोपड़ी ले आओ — अशुद्ध
हमारी पोथी ले आओ — शुद्ध

३. शिष्ट प्रयोग

तुम कहाँसे आ रहे हो? (बड़ोंसे) — अशुद्ध
आप कहाँसे आ रहे हैं? — शुद्ध

तुम्हारा बाप मिला था — अशुद्ध
आपके पिताजीसे भेंट हुई थी — शुद्ध

४. उच्चारणकी शुद्धता

बिजुलीके परकासमें आँखें चुँधिया जाती हैं — अशुद्ध
बिजलीके प्रकाशमें आँखें चौंधिया जाती हैं — शुद्ध

५. रूढोक्तियों (मुहावरों) का प्रयोग

इनके मुखपर वायु उड़ने लगे — अशुद्ध
इनके मुँहपर हवाइयाँ उड़ने लगीं — शुद्ध

चरणतलसे पृथ्वी लुप्त हो गई — अशुद्ध
पैरों तलेसे धरती खिसक गई — शुद्ध

प्रभावोत्पादक भाषा

प्रभावोत्पादक भाषाका तात्पर्य यह है कि हम जो

सुननेवालेपर ऐसा प्रभाव पड़े कि वह तदनुकूल आचरण करके हमारी इच्छाके अनुरूप कार्य करने लगे। जैसे—

शरणार्थियोंके लिये आप भी कुछ दान दीजिए—	प्रभावहीन
निराश्रित, गृहहीन, अपना देश छोड़कर आनेवाले उन लोगोंके लिये आपके आगे झोली पसार रहे हैं, जिनके दिन भूखसे और रातें शीतसे कटती हैं, जिन्हें देखकर करुणा भी आठ-आठ आँसू रोती है।	प्रभावोत्पादक

मधुर भाषा

मधुर भाषाका तात्पर्य यह है कि शब्दोंमें सामाजिक शील तथा कहनेके ढंगमें कोमलता हो। जैसे—

आपका नाम?	—	रूक्ष
क्या आपका शुभ नाम जान सकता हूँ?	—	मधुर
आप कहाँसे आए?	—	रूक्ष
आप किस स्थानसे पधारे हैं?	—	मधुर
कहिए आप क्यों आए?	—	रूक्ष
आपने कैसे कष्ट किया? या मैं आपकी क्या सेवा करूँ?	—	मधुर

रमणीय या कलात्मक भाषा

रमणीय भाषाका तात्पर्य यह है कि उसे सुननेवाला तत्काल भाषाके सौन्दर्यसे ही प्रभावित हो जाय। जैसे—

चलिए, खाना खा लीजिए	—	असुन्दर
पधारिए, थाली आपकी प्रतीक्षा कर रही है	—	सुन्दर

किन्तु कलात्मक भाषाका प्रयोग करते समय यह भी ध्यान रखना चाहिए कि वह इतनी गूढ़, जटिल और दुरूह न हो जाय कि सुननेवालेकी समझमें ही न आवे, जैसे—'चलिए, भोजन कर लीजिए' के बदले आप कहें—

'कुशल पाचकके सम्पूर्ण पाक-विद्या-कौशलका उत्कृष्टतम विन्यास श्रीमान्‌के मुखारविन्दके अन्तर्गत व्याप्त रसनाके भोगका विषय बननेके लिये अगणित व्यञ्जन-समन्वित होकर श्रीमान्‌के उदर-कोशका सान्निध्य प्राप्त करके अन्नमय कोषकी पुष्टिके लिये लालायित है।'

भाषा-शिक्षणका विशेष उद्देश्य

यह तो भाषाकी शिक्षाका सामान्य उद्देश्य बताया गया है किन्तु भाषा-शिक्षणका विशिष्ट उद्देश्य यह है कि 'हम उस भाषाके कवियों और लेखकोंकी मनोहर कृतियोंको समझ सकें और उनका आनन्द ले सकें क्योंकि भाषाकी सार्थकता इसीमें है कि हम लब्धप्रतिष्ठ लेखकोंकी कल्पनाके साथ उड़ते हुए अपनी कल्पनाका परिमार्जन करें, उनके गम्भीर विचारोंका परिशीलन करके अपने विचारोंका संस्कार करें, उनकी भावानुभूतियोंका अनुभव करके अपने भावोंका परिष्कार करें तथा उनकी अभिव्यंजना-पद्धतियोंका परिचय पाकर अपनी भाषा-शैलीका समुद्धार करें।'

भाषाओंके रूप

भाषा-शिक्षणका उद्देश्य जान लेनेपर यह जानना भी आवश्यक हो जाता है कि हम कौनसी भाषा किस उद्देश्यसे सीखें। संसारमें व्यवहृत नवीन तथा प्राचीन भाषाओंकी संख्या सहस्रोंतक पहुँच गई है। किन्तु हम भाषा-शिक्षणकी दृष्टिसे उन्हें केवल छह भागोंमें ही बाँटते हैं— (१) प्राचीन भाषा, (२) संस्कृति-भाषा, (३) मातृ-भाषा, (४) राष्ट्र-भाषा, (५) राज-भाषा और (६) विदेशी-भाषा। भाषाओंका यह वर्गीकरण भारतमें भाषा-शिक्षणकी दृष्टिसे किया जा रहा है। संसारके अन्य स्वतन्त्र देशोंमें प्रायः राजभाषा और राष्ट्रभाषामें तथा राजभाषा और मातृभाषामें कोई अन्तर नहीं होता। यह दुर्भाग्य भारतकी अपनी विशेष विभूति है अतः इसका विचार भी यहाँ आवश्यक हो गया है।

प्राचीन भाषा

प्राचीन भाषासे हमारा तात्पर्य उन भाषाओंसे है जो भारत या अन्य

देशों में आजसे सैकड़ों या सहस्रों वर्ष पूर्व या तो साहित्यकी भाषाएँ रहीं या साधारण जनसमाजके बोलचालकी, किन्तु जो राजनीतिक, सामाजिक अथवा धार्मिक क्रान्तियों के आघातसे अब निर्वंश अथवा अव्यवहृत हो गई हैं। ऐसी भाषाओं में पालि तथा प्राकृतों के नाम लिए जा सकते हैं। इन भाषाओंका अध्ययन इसी उद्देश्यसे किया जाता है कि इन भाषा-भाषियों के सामाजिक जीवन तथा ज्ञानका परिचय प्राप्त करते हुए हम उनमें अपनी परम्परा-गत भाषा, साहित्य तथा संस्कृतिके इतिहासका क्रमिक विकास ढूँढ़ सकें।

संस्कृति-भाषा

संस्कृति-भाषासे हमारा तात्पर्य उस भाषासे है जिसमें हमारी जातिकी पूर्ण संस्कृति, सभ्यता, उसके आचार-विचार और ज्ञानका भाण्डार निहित हो। इस दृष्टिसे हमारे लिये संस्कृत ही ऐसी भाषा है जो हिन्दू-जीवनके आदिसे अंततकके संस्कारोंका सञ्चालन करती है और जिसमें हमारी प्राचीन ज्ञान-गरिमा सुरक्षित है। संस्कृति-भाषा पढ़ानेका यही उद्देश्य होता है कि हम अपनी सभ्यता, संस्कृति, चिर-संचित ज्ञान और विज्ञानका परिचय प्राप्त करें और अपने पूर्वजोंकी रूढ़ियोंसे संबद्ध बने रहें। अपनी व्यावहारिक भाषाका ज्ञान प्राप्त करने लिये भी इसका ज्ञान प्राप्त करना अनिवार्य है।

मातृ-भाषा

माता, मातृभूमि और मातृभाषाका महत्त्व विचारशील व्यक्तियोंकी दृष्टिमें अत्यधिक हुआ करता है। कवि, लेखक, वीर और दार्शनिक सभी अपने-अपने ढंगसे इन तीनोंका गुणानुवाद किया करते हैं। ऊपर भाषाकी शिक्षाका जो विवेचन किया गया है उसे विशेषतः मातृभाषाकी शिक्षापर ही व्यवहृत समझना चाहिए। इस स्थलपर यह प्रश्न उठ सकता है कि हम मातृभाषा किसे समझें ? वास्तवमें वही भाषा मातृभाषा कहला सकती है जो बालक अपनी माँके मुखसे सुनता है किन्तु उक्त प्रश्नका

उत्तर देनेके पहले यह भी समझ लेना चाहिए कि प्रत्येक भाषाके साथ उसके अनेक ग्राम्य या जानपद रूप भी चलते रहते हैं। इस दृष्टिसे माता जिस प्रादेशिक या जानपद भाषाका प्रयोग करती है वही भाषा मातृभाषा कहलाती है। उदाहरणके लिये काशीवालोंकी भाषा बनारसी भोजपुरी है। काशी-निवासी किसी हिन्दीके विद्वान्के घर आप जाइए तो आपको देखकर वे कहेंगे—'नमस्कार! आइए पधारिए। बड़ी कृपाकी आपने। कहिए कैसे कष्ट किया?' और तत्काल अपने सेवकको पुकारेंगे—'अरे भगेलुआ! तनी पान त ली आव।' अर्थात् हम घरमें अपनी आदेशिक बोली बोलते हैं किन्तु सामाजिक व्यवहारमें नागरी भाषाका व्यवहार करते हैं। अतः समाजके शिष्ट जन जिस भाषामें विचार-विनिमय, काम-काज और लिखा-पढ़ी करते हों, वही भाषा, शिक्षाकी दृष्टिसे मातृभाषा कहलाती है। अर्थात् यहाँ मातृभाषासे हमारा तात्पर्य उस भाषासे है जिसके द्वारा हम परस्पर लिख और बोलकर अपने भाव व्यक्त करते हैं, जिसमें हमारे गद्य-साहित्यकी रचना हो रही है, पत्र-पत्रिकाओंका प्रकाशन होता है तथा जो विभिन्न शैलियों में हमारे समाजके पढ़े-लिखे शिष्टजनोंके बोलचालकी तथा लिखा-पढ़ीकी भाषा है। अतः मातृ-भाषाकी शिक्षा देनेका यही उद्देश्य होगा कि हमारे बालक नागरी भाषामें शुद्ध लिख और बोल सकें, सत्साहित्यकी सृष्टि कर सकें और समाजमें उचित तथा परिष्कृत भाषाका व्यवहार कर सकें।

राष्ट्र-भाषा

हमारी राष्ट्रभाषाका स्वरूप नागरी भाषाका वह व्यापक रूप है जिसे समूचे भारतमें तथा भारतसे बाहरके भी कुल मिलाकर कमसे कम पैंतीस करोड़ प्राणी बोलते और समझते हैं और जिसमें देश-भेदके अनुरूप संज्ञा, विशेषण आदिके लिये तत्तत्प्रदेशीय शब्दोंका प्रयोग होता रहता है। राष्ट्रभाषासे अपरिचित व्यक्ति अपने ही देशके अन्य प्रान्तों में जानेपर भारी कठिनाइयों में पड़ जा सकता है। हम भले ही राष्ट्रभाषाके विद्वान्

न हों, राष्ट्रभाषा भली प्रकार बोल भी न सकें, पर समझ सकनेका अभ्यास तो हमें अवश्य करना ही चाहिए। राष्ट्रभाषाका अध्ययन इसी उद्देश्यसे किया जाता है कि हम प्रत्येक देशवासीको अपनी बात समझा सकें और उसकी बात समझ सकें।

राष्ट्रभाषाकी समस्या

भारतीय संविधान-द्वारा राष्ट्रभाषाका प्रश्न निर्णीत हो जानेपर भी कुछ लोगोंने उसे जटिल बना रक्खा है। अतः यह विचार करना अत्यन्त आवश्यक हो गया है कि हमारी राष्ट्रभाषाका स्वरूप क्या हो। वास्तवमें संस्कृत ही हमारी राष्ट्रभाषा है जिसे समझने और बोलनेवाले आज भी कश्मीरसे लेकर लंकातक और सीमाप्रान्तसे लेकर ब्रह्मातक मिलेंगे। यह संस्कृतका ही प्रभाव है कि भारतकी सभी देशी भाषाओंमें अधिकांश शब्द संस्कृतके तत्सम या तद्भव रूपमें व्यवहृत होते हैं। अतः हमारी राष्ट्रभाषाकी पहली पहचान तो यह होगी कि उसमें अधिकांश शब्द संस्कृतके तत्सम या तद्भव हों अर्थात् वह संस्कृत-निष्ठ हो। संस्कृत-निष्ठ कहनेसे कुछ लोग अब चिढ़ने लगे हैं। वे समझते हैं कि संस्कृत-निष्ठ बनाकर नागरी भाषा कठिन और दुर्बोध की जा रही है। इस सम्बन्धमें इतना तो अवश्य सत्य है कि नागरी भाषाकी मूल प्रकृति वास्तवमें तद्भवात्मिका है किन्तु वह प्रकृति उस परिमित क्षेत्रके लिये सरल हो सकती है जहाँ वह शताब्दियोंसे लोगोंकी बोलीमें मँज चुकी है और लोक-व्यवहृत होनेके कारण-लोक-बोध्य हो चुकी है किन्तु अन्य भाषाओंका प्रयोग करनेवालोंके लिये नागरीके उन तद्भव शब्दोंकी अपेक्षा तत्सम संस्कृतके शब्द अधिक सुगम और बोधगम्य होंगे। एक उदाहरण लीजिए। ठेठ नागरी भाषामें हम कहते हैं—

'पराई संपदा देखकर तुम्हें क्यों बाई चढ़ती है?'

इस वाक्यमें 'संपदा' शब्द तो संस्कृत-मूलक भाषावाले समझ जायँगे किन्तु 'बाई चढ़ना' हमारे लिये जितना सरल है उतना ही दूसरोंके लिये कठिन है। यदि हम कहें—

'दूसरोंकी समृद्धि देखकर तुहें क्यों ईर्ष्या होती है' तो तुम भी समझ जायँगे और अन्य भाषा-भाषी भी।

दूसरी महत्त्वकी बात यह भी है कि राष्ट्रभाषा उसी प्रदेशकी भाषा हो सकती है जिसमें राज-क्षेत्र या धार्मिक क्षेत्र हों, क्योंकि संपूर्ण देश चाहे और कहीं जाय या न जाय किन्तु राजक्षेत्र और धार्मिक क्षेत्रोंमें अवश्य जाता है। भारतके राजक्षेत्र और धार्मिक क्षेत्र सब उत्तरीय भारतमें ही हैं। गंगोत्री, यमुनोत्री, कैलास, बदरीनाथ, हरिद्वार, गढ़मुक्तेश्वर, प्रयाग, काशी, सोरों, अयोध्या, मथुरा, वृन्दावन, चित्रकूट आदि हिन्दुओंके शैव और वैष्णव केन्द्र और राजधानी दिल्ली सब गंगा-यमुनाके आस-पास ही हैं। अतः यहाँकी भाषा ही राष्ट्रभाषा हो सकती है।

तीसरी बात यह है कि घने बसे हुए होनेके कारण उत्तर प्रदेशके लोग व्यवसाय और नौकरीके लिये भारत और भारतके बाहरके प्रदेशोंमें जा बसे हैं। वे सभी बाहर जाकर भी अपनी भाषाकी परम्परा निभा रहे हैं। जिन देशोंमें वे गए हैं, वहाँकी भाषा भी उन्होंने सीखी, पर वहाँवालोंको भी अपनी भाषा सीखनेको उन्होंने बाध्य किया। भारतके अहिन्दी भाषा-भाषी प्रान्तोंके बड़े हाटोंके व्यापारी, सेवक, बैंकोंके चपरासी, ट्राम तथा मोटर चलानेवाले, दूध, तरकारी, फल आदि बेचनेवाले तथा घरोंमें भोजन बनाने और नौकरी करनेवाले प्रायः उत्तर-प्रदेशके लोग ही हैं। भारतके पुतलीघरोंमें काम करनेवाले भी अधिकांश उत्तरप्रदेशके ही हैं। इनके अतिरिक्त मौरिशस, ट्रीनीडाड, डच गाइना, ब्रिटिश गाइना, नैटाल और दक्षिण अफ्रीका आदि देशोंमें जो प्रवासी भारतीय हैं उनकी भी व्यवहार-भाषा नागरी ही है और वे भारतसे नागरीकी पोथियाँ मँगाकर अपने बच्चोंको नागरी ही पढ़ाते हैं। अतः इस दृष्टिसे नागरी ही राष्ट्रभाषा हो सकती है।

चौथी बात यह है कि राष्ट्रभाषा वह होनी चाहिए जिसे अधिकांश लोग बोल या समझ सकें। यदि हम उत्तरप्रदेशमें कहते हैं—मुझे आपसे एक बात कहनी है, तो हमारे पंजाबी मित्र कहेंगे—मैंने आपसे इक बात

कैणी ऐ। राजपूतानेके सज्जन कहेंगे—मुजै आपसै एक बात बोलणी है। हमारे बंगाली मित्र कहेंगे—हाम आपको एक बात बोलने माँगता है। ये सब वक्तव्य नागरीके ही प्रान्तीय रूपान्तर हैं जो किसी प्रकारसे भी भावके कहने या समझनेमें बाधा नहीं डालते। अतः व्यापक रूपसे नागरी ही एक ऐसी भाषा है जिसे हिमालय और भारतीय सागरके बीच रहनेवाले लगभग पैंतीस करोड़ नर-नारी किसी न किसी रूपमें बोलते और समझते हैं।

उर्दूकी बात

कभी यह भी प्रश्न उठाया गया था कि उर्दू राष्ट्रभाषा होनी चाहिए। किन्तु उर्दू तो हिन्दीकी वह शैली है जिसमें क्रियापद, कारक आदिके प्रयोग तो नागरी भाषाके हैं, शेष संज्ञाओं और विशेषणोंमें फ़ारसी तथा अरबी शब्दोंकी बहुतायत होती है। हम नागरीमें कहते हैं—

मैं अत्यन्त विनयके साथ निवेदन करता हूँ कि आप मेरी प्रार्थना स्वीकार करके मुझे संकटसे छुड़ा लें।

इसीको उर्दूमें कहेंगे—

मैं निहायत आजिज़ीके साथ गुज़ारिश करता हूँ कि हुज़ूर मेरी इस्तद्आ मंज़ूर फ़र्माकर मुझे मुसीबतसे रिहा फ़रमावें।

इस वाक्यमें *'अत्यन्त, विनय, निवेदन, आप, प्रार्थना, स्वीकार, संकट'* शब्दोंके बदले *'निहायत, आजिज़ी, गुज़ारिश, हुज़ूर, इस्तद्आ, मंज़ूर, मुसीबत'* शब्द रख दिए गए हैं। यदि हम अँगरेज़ी पढ़े-लिखे लोगोंका यही वक्तव्य सुनें तो वे कहते सुने जायँगे—

मैं बहुत ह्यूमलिटीके साथ रिक्वेस्ट करता हूँ कि आप मेरी प्रेयर एक्सेप्ट करके मुझे कैटेस्ट्रोफीसे सेव कर लें।

यह वाक्य भी हिन्दीका ही है, शैलीका केवल भेद है। अँगरेज़ोंके आनेसे पहले मुसलमानी शासन होनेके कारण उत्तरीय भारतकी राज-भाषा फ़ारसी हो गई थी किन्तु वही युग हिन्दी साहित्यका भी स्वर्ण-युग था। जहाँ एक ओर कचहरियोंमें फ़ारसी छाँटी जाती थी, वहीं दूसरी

और सभाओंमें, तीर्थोंमें, यहाँतक कि मुगलोंकी राज-सभामें भी लोकभाषा हिन्दी अपना स्वाभाविक और उन्नित विकास प्राप्त कर रही थी। उस समयके लोग राज्य-व्यवहारके लिये फ़ारसीका प्रयोग करते थे, किन्तु अन्य सब कार्योंमें अपनी भाषाओंका प्रयोग करते थे। इसके अतिरिक्त उर्दू भाषाका क्षेत्र भी अत्यन्त परिमित है और वह है—दिल्ली, लखनऊ और हैदराबाद दक्षिण। पंजाबमें पंजाबी बोली जाती है, दिल्लीके चारों ओर ब्रज, नागरी, राजस्थानी आदि भाषाएँ बोली जाती हैं और लखनऊके चारों ओर अवधी बोली जाती है। हाँ, एक मंडल मुरादाबाद, बरेली, रामपुर, शाहजहाँपुर और बदायूँका भी है जहाँके मुसलमान और मुसलमानोंसे प्रभावित हिन्दू, हिन्दीकी इस उर्दू शैलीका प्रयोग करते रहे हैं। यदि इसको भी उर्दूका क्षेत्र मान लिया जाय तब भी, इस छोटेसे क्षेत्रकी मुँह-लगी उर्दू, राष्ट्रभाषा बननेका अधिकार कैसे पा सकती है!

यह हिन्दुस्तानी क्या है ?

पर इसके अतिरिक्त एक नई भाषा हिन्दुस्तानीकी चर्चा उठाई जा रही थी और उनका कहना था कि हिंन्दी-उर्दू सबको मिलाकर एक हिन्दुस्तानी भाषा बनाई जाय। यह स्मरण रखना चाहिए कि हिन्दुस्तानी नामकी भाषाका चलन अँगरेज़ोंने चलाया। भारतमें नौकरीके लिये आनेवाले सब अँगरेज़ोंको वे एक हिन्दुस्तानी सिखाते थे जिसमें संज्ञा और विशेषण सब फ़ारसी और अरबीके होते थे किन्तु क्रियापद, सर्वनाम कारक और अधिकांश प्रत्यय सब नागरीके होते थे। नवीन हिन्दुस्तानीके समर्थकोंका कहना है कि भाषा मिली-जुली होनी चाहिए, जैसे तालीमी-संघ, सदाक़त-आश्रम, महकमा मालूमात गुड़ सुधार ट्रेनिंग, इल्म-मन्दिर आदि। वे भाषाकी कुछ ऐसी कल्पना करना चाहते हैं जो नीचे सुथना पहने हुए हो और ऊपर साड़ी लपेटे हुए। ऐसी निरर्थक, अस्वाभाविक और अवैज्ञानिक भाषाकी कल्पना वे ही लोग करते हैं जिन्हें न हिन्दी आती है न उर्दू और जिन्हें यह भी ज्ञान नहीं है कि भारतमें अधिकांश व्यक्ति किस भाषाका प्रयोग करते हैं। यह बात तो समझमें

आ सकती है कि जो शब्द विदेशी भाषाओंसे आकर हमारी भाषाओंमें घुलमिल गए हैं उन्हें स्वीकार कर लिया जाय, किन्तु यह अत्यन्त हास्यास्पद है कि हमारी भाषा ऐसी बेढंगी बना दी जाय कि उसमें विभिन्न भाषाओंके शब्द अस्वाभाविक रूपसे मिलाकर या किसी अनुपात अथवा क्रमसे प्रयुक्त हों। ऐसी भाषा न तो स्वाभाविक रूपसे बोली ही जा सकती है न लिखी ही जा सकती है। अतः यदि राष्ट्रभाषा होनेकी शक्ति किसी भाषामें है तो वह केवल नागरी भाषामें है।

विदेशी शब्दोंका पाचन

कुछ लोगोंका कहना है कि जो विदेशी शब्द हमारी भाषामें अति प्रचलित (आम फ़हम) होकर आ गए हैं उन्हें चलाते रहना चाहिए। यह प्रस्ताव इस संशोधनके साथ स्वीकार किया जा सकता है कि जो विदेशी शब्द अपनी विदेशी प्रकृति छोड़कर हमारी भाषाकी प्रकृति ग्रहण करके जनसाधारणकी भाषामें आत्मसात् कर लिए गए हैं उनका प्रयोग चलाए रखना चाहिए। इस सम्बन्धमें स्पष्ट रूपसे यह नियम समझ लेना चाहिए कि जिस वस्तु, भाव या क्रियाके लिये हमारी भाषामें शब्द न हों, केवल उन्हीं वस्तुओं, भावों और क्रियाओंका बोध करानेवाले विदेशी शब्द अपनी भाषामें इस प्रकार मिलाए जायँ कि उनका रूप-संस्कार और ध्वनि-संस्कार हमारी भाषाकी प्रकृतिके अनुकूल हो। यदि हम यह छूट दे दें कि सभी प्रचलित विदेशी शब्द मिला लिए जायँ तो अरबी, फ़ारसी और अँगरेज़ीके न जाने कितने शब्दोंका व्यवहार ऐसे लोगोंके द्वारा चल जायगा जिन्होंने हिन्दी या संस्कृत कभी पढ़ी ही नहीं।

शब्दोंका प्रचलन तो व्यवहार-पर है। जो शब्द चलाइए वही थोड़े दिनमें टकसाली बन जायगा और पुराने अति प्रचलित शब्दको निकाल बाहर करेगा। इसलिये यदि हम विदेशी शब्दोंके स्वीकरणकी नीति व्यापक बना देंगे तो उसका परिणाम यह होगा कि जिन्हें अन्य भाषाओंका संस्कार होगा वे अति प्रचलितके नामपर उन भाषाओंके शब्दोंका अधिक प्रयोग करने लगेंगे और भाषा बिगाड़नेके साथ

उन नागरी या संस्कृत शब्दोंका व्यवहार रोक देंगे जो विदेशी शब्दोंकी अपेक्षा अधिक सरल, मधुर तथा सुबोध होंगे। अतः नागरीमें केवल हिन्दीके सर्वबोध अथवा संस्कृतके तत्सम शब्दोंका ही प्रयोग हो और केवल वे ही विदेशी शब्द स्वीकार किए जायँ जिनका उचित सर्वबोध पर्याय हमारी भाषा या संस्कृतमें न हो, जैसे—कोट, टिकट, बटन, रेल आदि। पारिभाषिक शब्द केवल संस्कृतसे ही लिए जायँ।

राजभाषा

हमारे देशकी राजभाषा पिछले सौ वर्षोंसे अँगरेजी रही है अतः राजभाषा पढ़नेके लिये लोग स्वभावतः उत्सुक रहा करते हैं। जिसके पास चार पैसे हैं, वही अपने लड़केको अँगरेजी पढ़ाता है। किन्तु इसमें जो स्वार्थकी दुर्गन्ध उड़ रही है वह विद्याध्ययनके उच्च आदर्शको मिट्टीमें मिला देती है। राजाभाषाका अध्ययन ज्ञानकी प्राप्तिके लिये प्रायः नहीं हुआ करता। उदर-पालन तथा राज्यशासनकी गति-विधियों और नियमोंसे परिचित होना ही इसका मुख्य उद्देश्य होता है। कुछ लोग अँगरेजी भाषा और साहित्यका अध्ययन ज्ञान-प्राप्तिके लिये भी करते हैं। किन्तु वे उसे राजभाषा मानकर नहीं, वरन् एक साहित्य-श्री-सम्पन्न विदेशी भाषा मानकर ही करते हैं। पठित कहलानेवाले प्रत्येक मनुष्यके लिये राजभाषाकी थोड़ी-बहुत जानकारी आवश्यक है। किन्तु अब तो भारतकी राजभाषा ही हिन्दी हो गई है इसलिये अब जो लोग अँगरेजीका राग अलापते हैं वे भारतके हितैषी नहीं हैं।

विशेष अध्ययन

विशुद्ध ज्ञानार्जनके लिये अथवा भाषाओंकी साहित्यिक प्रगति, उसके लेखकोंकी शैलियाँ आदिका अध्ययन करके अपनी भाषा और अपने साहित्यका तुलनात्मक विवेचन करने और अपना साहित्य-भांडार भरनेके उद्देश्यसे भी विदेशी भाषाओंका ज्ञान प्राप्त किया जाता है। यह 'आबे-हयात' उन्हीं ज्ञान-पिपासुओंके लिये है जिन्होंने साहित्यिक तपस्याका

ात ले रक्खा है। प्रत्येक साहित्यकार, साहित्य-शिक्षक तथा साहित्य-प्रेमीके लिये आवश्यक है कि वह विदेशी साहित्यका भी परिचय प्राप्त करता रहे।

हमारी भाषाकी समस्याएँ

अपनी मातृभाषाको हम लोग प्रायः 'हिन्दी' कहा करते हैं। पर वास्तवमें 'हिन्दी' उस भाषा-समूहका नाम है जो आर्यावर्त्तमें बोली जाती है। आज दिन हमारी शिष्ट और सामाजिक भाषा नागरी है जिसे लोग 'खड़ी बोली' के नामसे पुकारनेकी व्यापक भूल करते हैं। यदि विचार-पूर्वक देखा जाय तो खड़ी, पड़ी, टेढ़ी और सीधी बोली किसी भाषाका नाम नहीं हुआ करता। भाषाका नाम या तो उस भूभागसे सम्बद्ध होता है जहाँ वह बोली जाती है जैसे मराठी, गुजराती, बँगला, पंजाबी आदि या उस भाषाके लक्षणके आधारपर, जैसे बिगड़ी हुई भाषाको अपभ्रंश; स्वच्छ, मँजी हुई भाषाको संस्कृत और नागरिकों तथा शिष्ट व्यक्तियों-द्वारा बोली जानेवाली भाषाको नागरी। इस प्रकार या तो हिन्दकी भाषाका नाम हिन्दी मानना होगा या उसके लक्षणके कारण नागरी नाम स्वीकार करना होगा क्योंकि वह नगरों और नागरिकोंकी भाषा है।

हिन्दीकी व्यापकता

हम ऊपर कह चुके हैं कि हिन्दी उस भाषा-समूहका नाम है जिसके अन्तर्गत पंजाबी, राजस्थानी, ब्रज, अवधी, मैथिली, भोजपुरी, मगही, बुन्देलखंडी, छत्तीसगढ़ी, उर्दू आदि भाषाएँ और शैलियाँ आती हैं। जिस शैलीका नाम आजकल उर्दू है वह भी पहले 'हिन्दी' या 'हिन्दवी' ही कहलाती थी, पर दिन-दिन बढ़नेवाले साम्प्रदायिक विद्वेषने हिन्दीकी इस शैलीमे अरबी, तुर्की, फ़ारसी आदि सेमेटिक भाषाओंके शब्द धीरे-धीरे खपाकर उसे हिन्दीकी प्रतिद्वंद्विनी भाषाका रूप दे दिया है। फिर भी उसके व्याकरणकी बाँध देखते हुए, जानकारोंके निकट वह हिन्दी (नागरी) ही जानी और मानी जायगी। इस प्रकार हमारी बोलचालका माध्यम बनी हुई वर्त्तमान नागरी भाषा वह भाषा है जिसका संस्कृतसे अविच्छेद्य

सम्बन्ध बना हुआ है, जिसके क्रियापद स्वाभाविक लोकवाणीमें अपना लोकव्यवहृत रूप स्थिर करके साहित्य और पत्र-व्यवहारमें प्रयुक्त होते हैं, जिसमें देशी उपसर्गों और प्रत्ययों के साथ-साथ संस्कृत-प्रत्ययों और उपसर्गोंका भी प्रयोग होता है, जिसमें संज्ञा और विशेषण विशेषतः संस्कृतके तत्सम और तद्भव होते हैं और जिसमें उन विदेशी शब्दोंका भी नागरीकी ध्वनि और रूपके अनुसार स्वीकरण हो गया है जिनका पर्याय नागरी और संस्कृतमें नहीं है और जिनका पर्याय बनानेमें उन विदेशी शब्दों के ठीक भावका बोध होनेमें बाधा या भ्रान्ति होनेकी संभावना है।

घातक प्रवृत्तियाँ

आजकल नागरीके प्रयोजकोंमें दो प्रवृत्तियाँ विशेष रूपसे देखनेमें आ रही हैं—एक तो 'आमफ़हम' या 'लोक-प्रचलित' की आड़में अरबी-फ़ारसी शब्दों से लदी हुई नागरी लिखनेकी प्रवृत्ति, जिसे उर्दू कहना चाहिए, दूसरे अनावश्यक रूपसे या शब्द-ज्ञान कम होनेके कारण अँगरेज़ी शब्दों से भरी नागरी बोलनेकी प्रवृत्ति, जिसे अँगरेज़ी नागरी कहना चाहिए। ये दोनों प्रवृत्तियाँ भाषाके सुस्थिर विकासके लिये हानिकारक हैं। अतः इन दोनों प्रवृत्तियोंको किसी प्रकार भी प्रोत्साहन नहीं देना चाहिए। भाषाके अध्यापकको अत्यन्त सजग होकर ऐसी खिचड़ी भाषाका न तो स्वयं प्रयोग करना चाहिए, न छात्रोंको प्रयोग करने देना चाहिए।

नागरी भाषा

जिस नागरी भाषाकी हम चर्चा कर रहे हैं उसे सर्वप्रथम भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रने खड़ी बोलीके नामसे स्मरण किया था। इस सम्बन्धमें इस भाषाका 'नागरी' नाम अत्यन्त उल्लेखनीय है। संसारमें सर्वत्र प्रायः लिपि और भाषाका एक ही नाम हुआ करता है। अतः नागरी लिपिमें लिखी जानेवाली भाषा भी नागरी ही कही जानी चाहिए। मेरठ और मुज़फ़्फ़र-नगर ज़िलों में अब भी खड़ी बोलीके नामसे पुकारी जानेवाली भाषाको

नागरी ही कहते हैं। यही नागरी हमारी साहित्य-रचनाका माध्यम है। इसका गद्य और पद्य रूप हिन्दीके अन्तर्गत ही है। ऐसी स्थितिमें हमारी राष्ट्रभाषा और मातृभाषाका नाम नागरी ही है, भले ही हम अपने घरों में ब्रज, अवधी, छत्तीसगढ़ी या भोजपुरी बोलते रहें जिनकी गणना उप-भाषाओं और प्रादेशिक बोलियों में ही हो सकती है।

राजभाषा हिन्दी

अतः हिन्दी भाषा या राजभाषाके नामसे जिसका परिचय हम दे रहे हैं वह देवनागरी लिपिमें लिखी जानेवाली वह 'नागरी' भाषा है जिसे अब व्यापक रूपसे 'हिन्दी' कहा जाने लगा है और जो भारतकी राष्ट्रभाषा स्वीकार कर ली गई है।

दूसरी ओर हमारा प्राचीन पद्यात्मक साहित्य प्रायः अवधी और ब्रज इत्यादि हिन्दीकी उपभाषाओं में है जिसे पुराने हिन्दू और मुसलमान 'भाखा' कहते थे। उसका ह्रास होते देख मुंशी सदासुखलालने रोते हुए कहा था कि—'रस्मो रिवाज भाखाका दुनियासे उठ गया।'

अतः सब बातोंपर विचार करते हुए हम निःसंकोच कह सकते हैं कि जिस भाषाके पढ़ने-पढ़ानेका हम निश्चय करना चाहते हैं उसका गद्य-भाग नागरी है और शेष व्यापक साहित्य हिन्दी है जिसके अन्तर्गत सिन्धु नदीके पूर्वीय तटसे लेकर बिहार-तक तथा हिमालयकी दक्षिणी उपत्यकासे लेकर ताप्तीके उत्तरीय तटतक उत्तर भारतमें बोली जानेवाली सभी भाषाएँ, उपभाषाएँ और बोलियाँ आ जाती हैं।

नागरी भाषाका ध्वनितत्त्व

शास्त्रीय विवेचन

स्वर और व्यञ्जन

हमारे वर्णोंकी मूल ध्वनियाँ प्रधानतः दो समूहोंमें विभक्त हैं, जिन्हें स्वर और व्यञ्जन कहते हैं। इनकी संख्या पाणिनीय शिक्षाके अनुसार ६३ अथवा ६४ है[1]। अ आ आ३, इ ई ई३, उ ऊ ऊ३, ऋ ॠ ॠ३, ऌ, ए ए३, ऐ ऐ३, ओ ओ३, क ख ग घ ङ, च छ ज झ ञ, ट ठ ड ढ ण, त थ द ध न, प फ ब भ म, य र ल व श ष स ह, चार यम[2], अनुस्वार (ं), विसर्ग (:), ᳵक् जिह्वामूलीय, और ᳵप् उपध्मानीय; प्लुत ऌकार और दुःस्पृष्ट।

उच्चारण-स्थान

लौकिक संस्कृतमें प्रयुक्त वर्णमालाके अनुसार 'अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ऌ, ए, ऐ, ओ, औ' स्वर वर्ण कहलाते हैं। 'क, ख, ग, घ, ङ, च, छ,

---

१—त्रिषष्टिश्चतुषष्टिर्वा वर्णाः शम्भुमते मताः।
संस्कृते प्राकृते चापि स्वयं प्रोक्ताः स्वयम्भुवा॥
स्वराः विंशतिरेकश्च स्पर्शानां पञ्चविंशतिः।
यादयश्च स्मृता ह्यष्टौ चत्वारश्च यमाः स्मृताः॥
अनुस्वारो विसर्गश्च ᳵक ᳵपौ चापि पराश्रितौ।
दुःस्पृष्टश्चेति विज्ञेयो ऌकारः प्लुत एव च॥

२—वर्गेष्वाद्यानां चतुर्णां पञ्चमे परे मध्ये यमो नाम पूर्व-सदृशो वर्णः प्रातिशाख्ये प्रसिद्धः (पलिक्क्नी, चख्ख्नतुः, अग्ग्निः, घ्घ्नन्ति।)—सिद्धान्तकौमुदी संज्ञाप्रकरण

ज, झ, ञ, ट, ठ, ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ, ब, भ, म, य, र, ल, व, श, ष, स, ह' व्यञ्जन वर्ण कहलाते हैं। इसके अतिरिक्त अनुस्वार (ं), विसर्ग (:) और अनुनासिक (ँ) का भी प्रयोग मिलता है। इस सम्बन्धमें सबसे अधिक ध्यान देनेकी बात इन वर्णों के उच्चारण-स्थानका निर्देश है। नीचे दिए कोठेसे विदित होगा कि नागरी वर्णों का क्रम सर्वथा वैज्ञानिक पद्धतिपर निश्चित किया गया है। वे एक क्रमसे सजाए गए हैं। ऐसा नहीं किया गया कि कण्ठ्य वर्णके पश्चात् ओष्ठ्य वर्ण हो, उसके पश्चात् तालव्य वर्ण आ जाय, फिर तुरन्त ही दूसरे कण्ठ्य वर्णको स्थान दे दिया गया हो।

वर्ण	उच्चारण-स्थान	वर्ग
अ आ, ह ❁	कण्ठ	स्वर, अन्तःस्थ
क ख ग घ ङ ❁	जिह्वामूल	कवर्ग
इ ई, च छ ज झ ञ, य श	तालु	स्वर, चवर्ग, अन्तःस्थ
ऋ ॠ, ट ठ ड ढ ण, र ष	मूर्द्धा	स्वर, टवर्ग, अन्तःस्थ
लृ, त थ द ध न, ल स	दन्त	स्वर, तवर्ग, अन्तःस्थ
उ ऊ, प फ ब भ म	ओष्ठ	स्वर, पवर्ग
ए ऐ	कण्ठ-तालु	स्वर
ओ औ	कण्ठोष्ठ	स्वर
व	दन्तोष्ठ	अन्तःस्थ

❁ 'अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः' के अनुसार 'अ आ ह क ख ग घ ङ' के उच्चारणका स्थान कण्ठ है। किन्तु स्वर्गीय ईश्वरचन्द्र विद्यासागरने इसमें संशोधन करते हुए 'अ आ ह' का उच्चारण-स्थान कण्ठ तथा कवर्गका उच्चारण-स्थान जिह्वामूल निर्दिष्ट किया है—'जिह्वामूले तु कुः प्रोक्तः'। पाणिनीय शिक्षापर उक्त मत 'क ख ग' के सम्बन्धमें है। इनका प्रयोग नागरीमें तो नहीं पर

शब्दोच्चारणकी प्रक्रिया

इसी सम्बन्धमेँ यहाँ एक और बात भी कह देनी आवश्यक है। कोई कार्य करनेसे पूर्व हमेँ उस कार्यका ज्ञान होता है, तदनन्तर इच्छा होती है और तब मनुष्य उसके लिये यत्न करता है। इसी प्रकार शब्दोच्चारणमेँ भी अनेक प्रक्रियाएँ पहले हो चुकती हैँ तब मनुष्य शब्दोच्चारण करता है। पाणिनि मुनिने अपनी शिक्षामेँ इस विषयकी कुछ महत्त्व-पूर्ण बातेँ कही हैँ जो अवश्य ध्यानमेँ रखनी चाहिएँ। उन्होँने कहा है—

आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्॥
मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम्।
सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुतः॥
वर्णान् जनयते तेषां विभागः पञ्चधा स्मृतः।
स्वरतः कालतः स्थानात् प्रयत्नानुप्रदानतः॥

[शब्दोच्चारणके पूर्व बुद्धिके साथ मिलकर आत्मा पहले अर्थज्ञान करता है। तदनन्तर वह मनको बोलनेकी इच्छासे प्रेरित करता है। शरीरकी अग्निपर मन आघात करता है, जिसके कारण वायुको अग्नि प्रेरित करती है। वह वायु हृदय-स्थानमेँ पहुँचनेपर गम्भीर ध्वनि उत्पन्न करता है। वहाँसे चलकर फिर वह ऊपर जाकर मूर्धासे टक्कर खाकर लौटता है और मुख-मार्गसे बाहर निकलते हुए विभिन्न प्रकारकी ध्वनियाँ उत्पन्न करता है। कारणके अनुसार इन वर्णोँके पाँच भेद माने जाते हैँ—

१. स्वरकृत भेद, अर्थात् उदात्त (ऊँचे स्वरसे), अनुदात्त (नीचे या

विदेशी 'क़ाग़ज़' आदि शब्दोँमेँ होता है। नागरीमेँ उन्हेँ तद्भव रूपमेँ ग्रहण करना चाहिए, तत्सम रूपमेँ नहीँ। अतः इन नवीन ध्वनियोँके स्वीकारकी कोई आवश्यकता हमारी नागरीमेँ नहीँ है। हमारा कार्य क ख ग आदिसे 'कागज' लिखकर चल जायगा। हाँ, तत्सम लिखते समय शुद्धिके लिये नीचे बिन्दु लगाकर उनका प्रयोग अवश्य करना चाहिए।

मन्द स्वरसे) और स्वरित (समाहार, अर्थात् न बहुत ऊँचे स्वरसे न बहुत नीचे स्वरसे) बोलना । २. कालकृत भेद, अर्थात् एक स्वरके उच्चारणमें लगनेवाले समयके अनुसार भेद, जैसे ३. इ, ई, ई ३ स्थानकृत भेद, अर्थात् मुखके भीतर जिन स्थानोंसे ध्वनिका उच्चारण हुआ है उनके अनुसार भेद। ४. आभ्यन्तर प्रयत्नकृत भेद, अर्थात् कोई ध्वनि उच्चरित करनेमें मुखके भीतर जीभके संयोगसे कितना प्रयत्न करना पड़ता है उसके अनुसार भेद। ५. बाह्य प्रयत्नकृत भेद, अर्थात् वर्णोंको कितनी साँसके साथ ध्वनित करके मुखसे बाहर व्यक्त करना पड़ता है उसके अनुसार भेद।

भौगोलिक प्रभाव

उच्चारणके सम्बन्धमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि मनुष्यपर भौगोलिक स्थितियोंका भी गहरा प्रभाव पड़ा करता है। यही कारण है कि अरबवालोंको लू और धूपसे बचनेके लिये अपने सिरपर सदा एक वस्त्र रखना पड़ता है तथा बलुई आँधीमें वह कहीं उड़ न जाय इसलिये उसे गलेसे बाँधकर रखना पड़ता है। दिन-रात गला कसा रहनेका उनकी वाणीपर यह प्रभाव पड़ा कि भारतीय 'क ग ज' आदि ध्वनियाँ अस्वाभाविक रीतिसे 'क़ ग़ ज़' हो गईं, 'ऐ औ' भी अपनी स्वाभाविक ध्वनिसे वंचित होकर 'अइ अउ' के स्थानपर 'अए अओ' बोले जाने लगे और बेचारा सीधा-साधा 'अ' भी 'अ़' हो गया। अपनी भाषामें इन नवीन और अस्वाभाविक उच्चारणोंका समावेश हो जानेपर हमें भी अरबोंकी देखा-देखी अक्षरके नीचे बिन्दु लगाकर उन ध्वनियोंका स्पष्टीकरण करना पड़ा। एक दूसरा भौगोलिक प्रभाव यह भी होता है कि मनुष्य जहाँ रहने लगता है वहाँकी बोलीकी ध्वनियाँ सुनते-सुनते अनजाने उन्हें अपनाकर प्रयोग करने लगता है।

हमारी भाषापर विदेशी प्रभाव

यही बात अँगरेज़ी, फ़राँसीसी, डच और पुर्तगालियोंके आगमन-

पर भी हुई। हमारी भाषाकी ध्वनियोंपर इन विदेशियोंकी ध्वनियोंका भी प्रभाव पड़ा। कुछ भारतीय भाषाओंमें उन ध्वनियोंके निर्देशक चिह्न भी बनाए गए, जिनकी देखा-देखी लोग कहीं-कहीं हिन्दीमें भी उनका प्रयोग करने लगे हैं। उदाहरणके लिये 'कौलेज, जौली, ऐंड' शब्द उद्धृत किए जा सकते हैं। प्रथम दो शब्दोंमें 'कौ' और 'जौ' का उच्चारण 'आ' और 'औ' के बीचका है और 'ऐंड'में हल्के 'ऐ' का। कुछ लोग प्रायः 'औ' और 'ऐ' पर पूरा बल देते हुए इन शब्दोंका उच्चारण 'कउलेज, जउली, अइंड' करते हैं। मराठीमें उक्त ध्वनियोंको स्पष्ट करनेके लिये अनुस्वार-विहीन अर्धचन्द्रका प्रयोग करते हैं। वे इन शब्दोंको इस प्रकार लिखते हैं—कॉलेज, जॉली, ऍण्ड। उक्त ध्वनियोंका निर्देश करनेके लिये हिन्दीमें भी मराठीवाले चिह्नका प्रयोग होने लगा है। किन्तु जब 'बैंक' लिखना हो तो इस चिह्नके अनुसार लिखेंगे-'बँक', जो अनुनासिक सहित 'ब' बन जाता है।

उच्चारण-दोष

इस प्रकारके विदेशी प्रभावके कारण तथा अपने यहाँ सविधि उच्चारण सिखानेकी व्यवस्था छूट जानेसे नागरी लिपि लिखनेवाले तथा नागरी भाषाभाषी भी इन ध्वनियोंके उच्चारणमें भूल करने लगे। कुछ वर्ण तो ऐसे भी हैं जिनके वास्तविक उच्चारणमें लोगोंको बड़ा भ्रम है। ऐसी अनेक ध्वनियोंका उच्चारण भारतके विभिन्न प्रान्तोंमें भिन्न-भिन्न ढङ्गसे होने लगा है। नागरी वर्णमालाको पंजाबमें 'का, खा, गा, घा' पढ़ते हैं, पश्चिमी संयुक्तप्रान्तमें 'कै खै गै घै', बिहारवाले प्रत्येक वर्णका उच्चारण हल्का ओकार लगाकर किया करते हैं और बंगाली तो स्पष्ट गोल मुँह बनाकर सभी अक्षरोंको गोल करते हुए 'को खो गो घो' पढ़ते हैं। बंगालियोंका अशुद्ध उच्चारण तो साहित्यिक कहानीकी वस्तु हो गया है। आज ही नहीं, न जाने कबसे बंगाली लोग भारतीय ध्वनियोंका अशुद्ध उच्चारण करते आ रहे हैं। इस सम्बन्धमें किसी पुराने परिहास-

प्रिय संस्कृत कविका निम्नलिखित श्लोक द्रष्टव्य है जिसमें बङ्गीय उच्चारणसे व्याकुल होकर सरस्वतीजीने ब्रह्माजीसे निवेदन किया है कि 'या तो बंगाली लोग गाथा (संस्कृत श्लोक) पढ़ना छोड़ दें या आप कोई नई सरस्वती बनाइए'—

> ब्रह्मन्विज्ञापयामि त्वां स्वाधिकारजिहासया ।
> गौडस्त्यजतु वा गाथामन्या वाऽस्तु सरस्वती ॥

संतोषकी बात है कि पूरबी संयुक्तप्रान्त और नागरी भाषाभाषी मध्यप्रान्तके लोग नागरी ध्वनियोँका उच्चारण शुद्ध करते हैँ। इस सम्बन्धमेँ सबसे बढ़कर चमत्कारकी बात तो यह है कि जो लोग पृथक् ध्वनियोँका विकृत उच्चारण करते हैँ वे भी उनसे शब्द बन जानेपर उसका शुद्ध उच्चारण करने लगते हैँ। उदाहरणके लिये पश्चिमी उत्तर-प्रदेशके अलग-अलग 'कै लै मै' कहनेवाले भी मिलाकर 'कलम' ही लिखते और पढ़ते हैँ।

अनिश्चित प्रयोग

जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैँ, नागरी वर्णमालामेँ कुछ ध्वनियाँ ऐसी भी हैँ जिनका प्रयोग उठ चुका है या जिनका उच्चारण इस समय अनिश्चित है। अतः उनका संक्षिप्त विवेचन कर देना यहाँ आवश्यक है। वैदिक संस्कृतमेँ 'ह्रस्व' अ का उच्चारण विवृत (मुँह खोलकर 'आ' के समान) होता था। पर यह प्रारम्भिक अवस्थाकी बात है। पीछे काव्य-संस्कृत एवं प्रातिशाख्योँमेँ और पाणिनीय शिक्षादिके द्वारा इसका उच्चारण आजकलकी भाँति संवृत ही होने लगा।

ऋ और लृका उच्चारण

'ऋ' और 'लृ' का भी उच्चारण वैदिक कालमेँ भिन्न होता था। इसके साथ 'र' ध्वनि तो अवश्य उच्चरित होती थी—क्योंकि ऋक् प्रातिशाख्य और महाभाष्य इसके प्रमाण हैं, पर इसका ठीक-ठीक उच्चारण क्या था यह निश्चित रूपसे नहीँ कहा जा सकता। पालि और

प्राकृतमेँ 'ऋ' का प्रयोग नहीँ मिलता। उनमें 'ऋ' के बदले कभी 'अ' कभी 'इ' और कभी 'उ' हो जाता है जैसे—'कृत' का 'कद', 'ऋषि' का 'इसि' और 'वृक्ष' का 'रुक्ख'। 'ऋ' के उक्त तीन विकार संस्कृतमेँ भी उपलब्ध हैँ—'कृ' का 'करण', 'तृ' का 'तीर्ण' और 'पृ' का 'पूर्ति'। ऐसी स्थितिमेँ 'ऋ' का उच्चारण न तो 'अमृताञ्जन' वाला ठीक है और न 'रिषि' ही उचित है।

'लृ' का प्रयोग तो वैदिक संस्कृतमेँ ही अत्यल्प मात्रामेँ होता था। लौकिक संस्कृतमेँ तो 'लृ' का प्रयोग लगभग होता ही नहीँ था ❀। आधुनिक पाश्चात्य विद्वानोँका कहना है कि प्राचीन 'लृ' का उच्चारण अँगरेजीके 'लिटिल्' शब्दमेँ उच्चरित होने वाले 'ल' के समान था। किन्तु वह वास्तवमेँ 'ल' को तालुपर कँपानेसे बोला जाता था। पालि, प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दीमेँ 'लृ' का प्रयोग कहीं उपलब्ध नहीँ है।

स्वरोँ मेँ सन्ध्यक्षर

'ए ऐ ओ औ' को वैदिक और लौकिक संस्कृतमे सन्ध्यक्षर माना गया है। इनके उच्चारण-स्थान भी (एदौतो कण्ठतालुः। ओदौतोः कण्ठोष्ठम्) एकके बदले दो बताए गए हैँ। महाभाष्यने भी इन्हें सन्ध्यक्षर ही माना है। इसी आधारपर यह कल्पना की जाती है कि इन चार अक्षरोँका उच्चारण एक स्वरके समान अर्थात् समान स्वरके समान नहीँ वरन् दो स्वरोँके समान, सन्ध्यक्षरके समान होता रहा होगा। पर इनका ठीक-ठीक उच्चारण क्या था यह संदिग्ध ही है। पर प्रायः 'ए ओ ऐ औ' का प्राचीन उच्चारण क्रमशः 'अइ अउ आइ आउ'

❀अथ लृकारोपदेशः किमर्थः। किं विशेषेण लृकारोपदेशश्चोद्यते न पुनरन्येषां वर्णानामुपदेशश्चोद्यते। यदि किंचिदन्येषामपि वर्णानामुपदेशे प्रयोजनमस्ति लृकारोपदेशस्यापि तद्भवितुमर्हति। को वा विशेषः। अयमस्ति विशेषः। अस्य लृकारस्याल्पीयाँश्चैव प्रयोगविषयः। यश्चापि प्रयोगविषयः स क्लृपिस्थस्यैव। (महाभाष्य १।१।२।२)।

माना जाता है। इसका आधार यह भी है कि सन्धिस्थलों के **'ए'** **'ओ'** **'ऐ'** **'औ'** की रचना **'अ+इ'**, **'अ+उ'**, **'अ+ए'**, **'अ+ओ'** के योगसे भी होती है। 'अए अओ' भी **'ऐ औ'** का एक उच्चारण माना जाता है जो आधुनिक नागरीमें उपलब्ध है। पर नागरीकी स्थिति कुछ विचित्र है। आधुनिक नागरीमें **'ए ओ'** का उच्चारण एक स्वर-सा होता है और **'ऐ औ'** का सन्ध्यक्षर-सा। अतः कुछ निर्णय करनेके पूर्व इन वर्णोंके इतिहासपर भी दृष्टिपात कर लेना चाहिए। यह कहा जा चुका है कि संस्कृतमें ये स्वर संयुक्ताक्षर माने गए हैं। पालि और प्राकृतमें **'ए ओ'** तो उपलब्ध हैं पर **'ऐ औ'** नहीं मिलते। प्राकृतमें प्रायः **'ऐ'** का **'ए'** और **'औ'** का **'ओ'** हो जाता है। पर कुछ ऐसे परिवर्त्तन भी उपलब्ध हैं जो आधुनिक नागरी उच्चारणके कारण माने जा सकते हैं। प्राकृतमें 'दैत्य' शब्दके 'दै' का उच्चारण 'दइ' और 'पौरव' के 'पौ' का 'पउ' हो जाता है। अतः संस्कृत-कालमें चाहे इनका उच्चारण सन्ध्यक्षर-सा भी रहा हो पर हमारा आधुनिक उच्चारण भी निराधार नहीं है। प्राकृतमें ही इनका उच्चारण आज-सा ही था। अतः **ऐ औ** का शुद्ध उच्चारण **'अइ'** **'अउ'** ही मानना चाहिए। किन्तु वृद्धि-सन्धिके नियमानुसार इनका निर्माण अ+ए, अ+ओ से होनेके कारण इनका उच्चारण 'ऐश' तथा 'औरत' आदि शब्दोंमें उच्चरित होनेवाले 'ऐ' 'औ' (अए अओ) का भी प्रतिनिधि कहा जा सकता है।

ह्रस्व ध्वनियाँ

इसके अतिरिक्त हिन्दीकी उपभाषाओंमें ह्रस्व **'ए ओ ऐ औ'** का भी प्रयोग मिलता है जैसे कवितावलीमें—'अवलोकि**हौं** सोच बिमोचनको' 'नाथ न नाव चढ़ा**इहौं** जू' 'बरु मारिए मोहिं बिना पग **धोए**'। आधुनिक नागरीमें भी ह्रस्व ध्वनियाँ '**लोहार**' '**सोनार**' '**प**क्का' आदि शब्दोंमें उपलब्ध हैं। प्राकृतके व्याकरणोंमें यद्यपि इसका उल्लेख नहीं

मिलता पर गाथाओंमें ह्रस्व 'ए ओ' मिलते हैं। लौकिक संस्कृतमें यद्यपि ह्रस्व 'ए ओ' उपलब्ध नहीं हैं किन्तु वेदकी 'सात्यमुग्रिराणायनीय' शाखामें ह्रस्व 'ए ओ' का उच्चारण होता था जिसका ज्ञान आज हमें महाभाष्यसे प्राप्त है[1]। आज भी दक्षिणके सात्यमुग्रिराणायनी 'ए ओ' का ह्रस्व ही उच्चारण करते हैं। पर इनके लिये हमारी नागरीमें नये संकेतोंकी आवश्यकता नहीं है क्योंकि हम लोग अवधी-व्रजके कवित्त-सवैयोंमें आनेवाले एवं 'एक्का, लोहार, सोनार' के ह्रस्व 'ए ओ' का उच्चारण ठीक रीतिसे कर ही लेते हैं।

भारतके विभिन्न प्रदेश-वासियोंके उच्चारणका सूक्ष्म परीक्षण बारहवीं शताब्दिमें राजशेखरने भी किया था। उनका इस विषयका श्लोक काव्यमीमांसासे उद्धृत किया जाता है—

> गौडाद्याः संस्कृतस्थाः परिचितरुचयः प्राकृते लाटदेश्याः।
> सापभ्रंशप्रयोगाः सकलमरुभुवष्टक्कभादानकाश्च ॥
> आवन्त्याः पारियात्राः सह दशपुरजैर्भूतभाषां भजन्ते।
> यो मध्ये मध्यदेशे निवसति स कविः सर्वभाषानिषण्णः ॥

[गौड़ आदि (बंगालके निवासी) संस्कृतके प्रेमी होते हैं, गुजरात (लाट) निवासियोंकी रुचि प्राकृतकी ओर अधिक रहती है, सारे मारवाड़ और पूर्वी पंजाब (टक्क) से आनक (आना सागर, अजमेर) तकके लोग अपभ्रंश-का प्रयोग करते हैं। उज्जैन, मालवा (पारियात्र पर्वतके बीच) और दशपुरके निवासी पैशाचीका व्यवहार करते हैं, किन्तु मध्यदेश (हिमालय और विंध्यके बीचके देश) का रहनेवाला भारतके मध्यमें रहनेके कारण सभी भाषाओंमें

१. ननु चैङः सस्थानतरावर्द्ध एकारोऽर्द्ध ओकारः। न तौ स्तः। यदि तौ स्यातां तावेवायमुपदिशेत्। ननु च भोश्छन्दोगानां सात्यमुग्रिराणायनीया अर्द्धमेकारमर्द्धमोकारं चाधीयते। सुजाते ए अश्वसूनृते! अध्वर्यो ओ अद्रिभिः सुतम्। शुक्रं ते ए अन्यत्। यजतं ते ए अन्यत्। इति। (महा० एओङ्, ऐऔच्)

निष्णात होता है।] उक्त उदाहरणसे मध्यदेश-निवासियोंकी उच्चारण-पटुतामें कोई सन्देह नहीं रह जाता।

पञ्चम वर्णका प्रयोग

'ङ' का प्रयोग नागरीमें केवल तत्सम शब्दों में होता है, जैसे 'गङ्गा' 'विहङ्गम' 'अङ्ग' आदिमें। इनका काम अनुस्वारके द्वारा भी चल सकता है, जैसे गंगा, विहंगम, अंग। 'ञ' का प्रयोग तो नागरीमें रह ही नहीं गया है। 'चञ्चल' 'अञ्चल' आदि भी वस्तुतः चन्चल, अन्चल ही पढ़े जाते हैं। केवल अनुकरणात्मक 'साञ्-साञ्' आदि शब्दोंमें ही 'ञ' का उच्चारण होता है। इसी प्रकार संयुक्ताक्षरमें आनेवाला 'ण' भी 'कुण्ठित' 'दण्ड' आदि शब्दों में 'न' के रूपमें ही उच्चरित होता है। पर पञ्चम-वर्ण-संयुक्त वर्णोंकी उपर्युक्त स्थितिका एक कारण और भी है। महाभाष्यकार पतञ्जलिने भी कहा है कि अनुस्वार और **ङ**, **ञ**, **ण**, **न**, **म** के पश्चात् यदि **क**, **ख**, **ग**, **घ**, **च**, **छ**, **ज**, **झ**, **ट**, **ठ**, **ड**, **ढ**, **त**, **थ**, **द**, **ध**, **प**, **फ**, **ब**, **भ**, **श**, **ष**, **स**, **ह** आवें तो उन्हें (अनुस्वार और **ङ**, **ञ**, **ण**, **न**, **म**) को नकारोत्पन्न ही समझना चाहिए। ऐसी स्थितिमें आधुनिक नागरीके अनुस्वार और कुछ वर्गों के पंचम वर्णोंका '**न**' जैसा उच्चारण अकारण नहीं है।

नागरी ध्वनियोंके अनिश्चित उच्चारण

जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, नागरी वर्णमालामें कुछ ध्वनियाँ ऐसी भी हैं जिनका प्रयोग या तो उठ चुका है या जिनका उच्चारण इस समय अनिश्चित है। **ङ ञ ऋ ष ऌ क्ष** और **ज्ञ** ऐसे ही अक्षर हैं। इनमें **ङ ञ** और **ऌ** का प्रयोग प्रायः लुप्त हो चुका है, शेष **ऋ ष क्ष** और **ज्ञ** का उच्चारण भ्रमात्मक और अनिश्चित हो रहा है। लोग प्रायः '**ऋ**' का उच्चारण ह्रस्व '**रि**' की तरह किया करते हैं। वे यह भूल करते हैं। '**रि**' और '**ऋ**' के समान उच्चारणका भ्रम संभवतः दोनोंके मूर्धन्य वर्ण होनेका परिणाम है। वास्तवमें '**रि**' तो '**र**' पर

ह्रस्व इकारकी मात्रा लगाकर बनती है परन्तु 'ऋ' का उच्चारण 'र' में हल्का कंपन देकर होता है। कृपण, कृषि, सरीसृप आदिमें लगी हुई 'ृ' इसी 'ऋ' का दूसरा रूप है। इनको हम इस प्रकार लिख सकते हैं—क्ऋपण, क्ऋषि तथा सरीस्ऋप।

'ष' की स्थिति भी 'ऋ' से मिलती-जुलती है।* नागरी वर्णमालामें यद्यपि दन्त्य 'स', तालव्य 'श' और मूर्धन्य 'ष' अलग-अलग स्पष्ट निश्चित किए गए हैं फिर भी लोग तालव्य 'श' और मूर्धन्य 'ष' में भेद नहीं करते। मूर्धन्य 'ष' को या तो लोग तालव्य 'श' पढ़ते हैं या सीधे 'ख' पढ़ते हैं। इन वर्णोंमें परस्पर इतना स्पष्ट अन्तर होते हुए भी भ्रमात्मक उच्चारण करना अपनी अनभिज्ञताका विज्ञापन देना है।

यद्यपि ऊपरकी विवेचनासे यह स्पष्ट है कि आजकल हमारे यहाँ 'श' और 'ष' के उच्चारणमें भेद नहीं रह गया है तथापि यह परम्परा आजकी नहीं है। इसके लिये हम दोषी नहीं कहे जा सकते। हमें यह परम्परा अपनी पूर्ववर्त्तिनी भाषाओंसे मिली है। 'श' 'स' और 'ष' के उच्चारणका विभेद संस्कृततक तो उपलब्ध है पर पालि, प्राकृत, अपभ्रंश आदिमें यह भेद नहीं दिखाई पड़ता। पालिमें 'श' 'ष' और 'स' के लिये केवल दन्त्य 'स' का ही प्रयोग होता था। इसी प्रकार शौरसेनी और महाराष्ट्री प्राकृतमें भी तीनों ध्वनियोंके स्थानपर केवल 'स' का ही प्रयोग होता था। मागधी प्राकृतमें तीनों ध्वनियोंके स्थानपर केवल तालव्य 'श' का ही प्रयोग होता था। यही परम्परा हमें भी प्राप्त हुई। पर हमारी आजकी प्रवृत्ति तत्सम शब्दोंका शुद्ध रूपमें उच्चारण करनेकी ओर है। अतः हमने प्रयोग तो तीनों ध्वनियोंका कर रहे हैं परन्तु उच्चारणमें अबतक केवल दन्त्य 'स' और तालव्य 'श' का ही उपयोग करते हैं। यदि वैज्ञानिक दृष्टिसे देखा जाय तो वस्तुतः दन्त्य 'स' का ही कुछ विशेष परिस्थितियोंमें मूर्धन्य 'ष' हो जाता है। यह नागरीके उच्चारणका अपना ध्वनि-नियम है, जैसे प्रायः **इ ऊ ऋ ए ओ ऐ ह य व र ल क ख ग घ ङ ट ठ ड ढ ण** और ष के पश्चात् दन्त्य 'स' के

स्थानमेँ ही संस्कृतमेँ मूर्धन्य ष हो जाता है। जैसे—विष, ऋषि आदि। किन्तु तालव्य 'श' और मूर्धन्य 'ष' की गड़बड़ी उच्चारणकी अनभिज्ञताका फल है।

ऐसा भ्रम 'क्ष' के उच्चारणमे भी दिखाई देता है। विभिन्न स्थानोँमे लोग क्ष का उच्चारण च्छ, क्श या क्स के समान करते हैँ। परन्तु नागरीका क्ष वास्तवमेँ क और मूर्धन्य ष के योगसे बनता है। प्रमाणके लिये ब्राह्मी शिलालेखोँ मेँ आए हुए क्ष को देखना चाहिए। उसमेँ क और ष के संयोगसे बने हुए क्ष का यह रूप देखनेमेँ आता है—

क ष = क्ष

इसके अतिरिक्त संस्कृत व्याकरण पढ़नेवाला एक साधारण विद्यार्थी भी जानता है कि क् ष के संयोसे 'क्ष' होता है। इसी प्रकार 'धुक्षु' 'मोक्ष' आदिमें 'क्ष' की रचना भी क्+ष से ही होती है। अस्तु, इसके उच्चारणमेँ सन्देहका तनिक भी स्थान न रहना चाहिए। किन्तु यह भी ध्यान रखना चाहिए कि क ष का संयोग होनेपर इस ध्वनिने एक मिश्रित रूप धारण कर लिया है अतः उसके लिये 'क्ष' अक्षर अलग बना दिया गया है। उसे 'क्ष' लिखनेकी भूल नहीँ करनी चाहिए अन्यथा उसका उच्चारण 'रिक्शा' मेँ प्रयुक्त 'क्श' के समान होने लगेगा। उसका 'क्ष' रूप ही लिखनेमेँ प्रयुक्त होना चाहिए और उसका उच्चारण भी क्+ष की मिश्रित ध्वनिके साथ होना चाहिए, क् और ष की क्रमिक ध्वनि लेकर नहीँ।

सबसे अधिक गड़बड़ी ज्ञ के उच्चारणमेँ पाई जाती है। पंजाबवाले इसे शुद्ध 'ग्य' बोलते हैँ, उत्तरप्रदेश और मध्यप्रान्तमेँ 'ग्यँ' कहते हैं, महाराष्ट्रमें यही वर्ण 'द्न्य' उच्चरित होता है, गुजराती 'ग्न' उच्चारण करते हैँ और वेदपाठी-मण्डल इसका उच्चारण ज्ञ करता है। ऐसी स्थितिमेँ

इसका प्रामाणिक उच्चारण स्थिर कर लेना परमावश्यक है।

इस सम्बन्धमें सर्वप्रथम हमें एक सूत्र मिलता है 'ज्ञोर्ज्ञः', जो यह प्रमाणित करता है कि 'ज्ञ' न तो ग और ञ के योगसे बना है और न तो द् न् और य से, वरन् यह सन्ध्यक्षर ज और ञ से बनता है। दूसरी ओर ईसासे सौ वर्ष पूर्ववाले पभोसाके ब्राह्मी शिलालेखसे भी यही बात प्रमाणित होती है, जिसमे ब्राह्मी 'ज्' और 'ञ' के योगसे बना हुआ 'ज्ञ' इस प्रकार लिखा मिलता है—

ज ञ = ज्ञ

तीसरा प्रमाण यह है कि सर्वथा प्राचीनतावादी वैदिक मंडली भी 'ज्ञ' ही उच्चारण करती है। संस्कृतमें 'ज ञ संयोगे ज्ञ' कहा भी जाता है। अनेक स्थलोंपर 'ज्ञ' वर्ण की रचना भी ज+ञ के योगसे ही होती है। अस्तु, वेदकी विभिन्न शाखाओं, प्रतिशाख्यों और और शिक्षाओंके अनुसार चाहे उच्चारणमे कुछ वैचित्र्य हो किन्तु हमारी नागरीमें इसका उच्चारण 'ज्ञ' ही होना उचित है।

अनुनासिकका प्रयोग

नागरी भाषाके अध्ययनसे सिद्ध होगा कि संस्कृतकी ध्वनियोँके अतिरिक्त नागरी भाषाकी प्रकृतिमेँ अनुनासिकका प्रयोग अधिक है। अँधेरा, आँख, पाँच, कुँआ, इँडुआ, ईँट, उँगली, ऊँट, एँच-पेँच, ऐँठ, ओँठ, औँधा, कँपकँपी, खाँड़, गेँद, घुँघरू, चाँदनी, छीँक, जाँघ, झाँझ, ताँत, थूँथड़ा, दाँत, धौँकनी, दोनोँ, पोँगा, फूँक, बाँध, भाँग, माँ, मेँ, मैँ, टाँयँ-टाँयँ, रँगाई, लँगड़ा, गाँव, चाँटा, गाँजा, साँड़, हँड़िया, हँसना, हैँ आदि शब्दोँ; भाइयोँ, लेखोँ, पुस्तकोँ आदि बहुवचनोँ और होना आदि क्रियाओँ-के होँ, हैँ, होँगे आदि रूपोँमें अनुनासिक ध्वनिका ही प्रयोग होता है। कालिदासके अभिज्ञान-शाकुन्तलके एक प्राकृत पदमेँ भी यह मिलता है—

ईसीसि चुम्बिआइँ भमरेहिँ सुउमारदरकेसरसिहाइँ।
ओदंसअन्ति दअमाणा पमदाओ सिरीसकुसुमाइँ॥

[सिरसके फूलोँके जिन केसरोँको भौँरे चूम-चूमकर उड़ते-बैठते रहते हैं उन्हेँ बड़े प्यारसे चुनकर प्रमदाएँ अपने कनफूल बना लेती हैं।]
और अपभ्रंशमें भी—

पुत्तेँ जाएँ कवणु गुणु, अवगुणु कवणु मुएण।
जा बप्पीकी भुंहड़ी, चम्पिज्जइ अवरेण॥

[उस पुत्रके उत्पन्न होनेसे क्या सुख और मरनेसे क्या दुःख, जिसके होते हुए उसके पिताकी भूमि औरोँके हाथ चली जाय।]
—प्राप्त होता है।

नागरीकी मूल प्रकृति

इसके अतिरिक्त नागरीकी मूल प्रकृति तद्भवात्मिका है जो अब तत्समात्मिका होती चली जा रही है। यदि हमें प्रातःकालका वर्णन ठेठ मूल नागरी भाषामें करना हो तो हम कहेँगे—

"तड़का हो गया। पौ फट चली। पूरबमेँ लाली छा गई। पंछी चहकने लगे। तारे डूब गए। तालोँमेँ कमल खिलने लगे। भौँरे गूँजने लगे। सारी धरती जाग उठी। चारोँ ओर एक निराली चहल-पहल मच गई।"

इसीको आजका लेखक योँ लिखेगा—

"प्रातःकाल हो गया। उषा उदित हो गई। पूर्वके आकाशमेँ लालिमा व्याप्त हो गई। पक्षी कलरव करने लगे। तारे अस्त हो गए। सरोवरोँमेँ कमल विकसित होने लगे। भ्रमर गुञ्जन करने लगे। सम्पूर्ण धरित्री उद्बुद्ध हो उठी। चारोँ ओर एक अद्भुत सक्रियताका साम्राज्य फैल गया।"

यद्यपि यह प्रवृत्ति नागरीकी मूल तद्भवात्मिका प्रकृतिसे अत्यन्त भिन्न है किन्तु भारतके अन्य भाषा-भाषियोँके लिये यह अधिक निकट और सरल है इसलिये राज-व्यवहार और पारस्परिक लेख-व्यवहारमें तो संस्कृत-निष्ठ नागरीका प्रयोग आवश्यक है किन्तु साधारण हिन्दी भाषा-भाषी जन-समाजके लिये तद्भवात्मिका नागरीका प्रयोग ही अभीष्ट है।

नागरीकी विशेष ध्वनियाँ

क़ ख़ ग़ ज़ ड़ ढ़ फ़ म्ह न्ह ल्ह नागरीकी विशेष ध्वनियाँ हैं। नागरी भाषाकी गढ़न देखनेसे ज्ञात होगा कि विदेशी जातियोंके सम्पर्क और अपनी देशी प्रकृतिसे इसमें संस्कृतके अतिरिक्त कुछ ऐसी ध्वनियाँ भी आ गई हैं जो संस्कृतके वर्णसमाम्नायमें नहीं हैं। जैसे हम सुनते हैं—

"काग़ज़के बड़े-बड़े टुकड़े लेकर उन्होंने गढ़ोंमें भर दिए और साफ़ पानी डालकर तुम्हारे दरवाज़ेपर कोल्हूमें डाला तो सबको ख़याल आया कि इन्हें कोल्हूमें डालनेसे काम नहीं चलेगा।"

कुछ लोगोंका कहना है क़ ख़ ग़ ज़ फ़ जो अरबी-फ़ारसीके क़ाफ़, ख़े, ग़ैन, ज़े, ज़ोय, ज़्वाद, फ़े से आए हैं उन्हें **क ख ग ज फ** ही पढ़ा-लिखा जाय। यह बात नागरीकी प्रकृतिके अनुकूल भी है। किन्तु फ़ारसी और अरबीका प्रभाव नागरीपर इतना पड़ा है कि बहुतसे शब्दोंको कभी-कभी तत्सम रूपमें प्रयोग करना ही पड़ जाता है। नागरीके बहुतसे नाटककारोंने मुसलमान पात्रोंके मुखसे फ़ारसी-निष्ठ नागरी कहलाई है। वह जबतक उसी प्रकार उच्चरित न होगी तबतक उसका ठीक रूप नहीं बैठ सकता। अतः व्यवहारतः नागरी भाषामें जो फ़ारसी या अरबीके शब्द **क़ ख़ ग़ ज़ फ़** से युक्त आवें उनमें प्रयुक्त होनेवाली ये ध्वनियाँ **क ख ग ज फ** ही उच्चरित की जायँ किन्तु यदि कहीं तत्सम रूपमें इन ध्वनियोंका प्रयोग कराना हो तो मूल रूपमें कराया जाय।

ड़ और **ढ़** का प्रयोग बड़ा, सड़ा, कड़ा, पड़ा, जोड़, तोड़, बड़ाई, बूढ़ा, पढ़ना, गढ़ा, कढ़ी, मढ़ी, गाढ़ा आदि शब्दोंमें होता है। ये ध्वनियाँ शुद्ध मूर्धन्य न होकर विसर्प मूर्धन्य हैं अर्थात् जीभको मूर्धासे लगाकर उच्चरित करनेके बदले जीभको मूर्धासे रगड़कर इनका उच्चारण किया जाता है। इन दो ध्वनियोंका संस्कार इतना प्रबल हो गया है कि संस्कृतवाले भी गरुड को गरुड़ और गूढ को गूढ़ पढ़ते-बोलते हैं।

वैदिक ळ का प्रयोग

ळ का प्रयोग वेदोंमें हुआ है, नागरीमें इसका प्रयोग नहीं होता। मेरठके आसपास 'हल्दी, बैल' आदि कुछ शब्दोंके 'हळदी, बळद' आदि पर्यायोंमें इसका प्रयोग होता है। कुछ लोगोंने ड़ को ही ळ समझने की भूल की है और वे 'खिचड़ी'को 'खिचळी' लिखते हैं किन्तु ड़ और ळ में अन्तर यह है कि ड को मूर्धापर जीभ रगड़कर बोलनेसे ड़ होता है और तालुपर ल के साथ जीभ रगड़कर बोलनेसे ल़ या ळ होता है।

नागरीकी कुछ विचित्र ध्वनियाँ

नागरीकी कुछ ध्वनियाँ बड़ी विचित्र हैं। ये हैं तो मिश्र ध्वनियाँ किन्तु सन्ध्यक्षरके समान लिखे जानेपर भी उनका उच्चारण स्पर्शाघातसे किया जाता है, पूर्णाघातसे नहीं। ये ध्वनियाँ हैं म्ह, न्ह और ल्ह। पालि और प्राकृतोंके 'अह्मा़कं, पन्ह और कल्हार' में जो म्ह न्ह और ल्ह आते हैं उनके म्, न् और ल् पूर्ण स्वराघातके साथ अम्‌हाकं, पन्‌ह और कल्‌हारमें उच्चरित होते हैं किन्तु नागरीके 'तुम्हारा', 'पिन्हाना' और 'कोल्हू' में आनेवाले म् न् और ल् अत्यन्त अल्प स्पर्शके साथ बोले जाते हैं। कभी-कभी इन म्ह और न्ह में प्रयुक्त म् और न् के अल्प स्पर्शका यह परिणाम हुआ है कि 'कुम्हार'को 'कुँभार', 'जम्हाई'को 'जँभाई' और 'कान्हा'को 'काँधा', अर्थात् म्ह और न्ह को लोग भ घ पढ़ने-बोलने लगे।

देश-भेदसे उच्चारणमें विकार

नागरीमें उच्चारणकी इतनी व्यवस्था होनेपर भी देश-भेदसे कुछ विकार आ ही गए हैं। अ या अकारयुक्त सभी व्यंजनोंको पंजाबमें का खा गा घा पढ़ते हैं, पश्चिमी उत्तर प्रदेशवाले क ख ग घ को कै खै गै घै कहते हैं और 'रहना' को 'रैहना', 'कहना' को 'कैहना',

'पहले' को 'पैहले' पढ़ते-बोलते हैं किन्तु 'कलम' को ठीक पढ़ते हैं अर्थात् **ह** के पूर्वके व्यंजनको **ऐ** कर देते हैं। अक्षरको अलग-अलग **का खा गा घा** उच्चारण करनेवाले पंजाबी भी शब्दोच्चारणमें 'कहना' को 'कैणा' बोलेंगे और पढ़ते समय यदि उन्होंने बड़ी कृपा की तो 'कैना' पढ़ेंगे। यही अकारकी ध्वनि पूर्वमें जाकर कुछ ओकारकी ओर प्रवृत्त होती है और बंगाल में जाकर **क ख ग घ** भी शुद्ध **को खो गो घो** हो जाते हैं। विलक्षण बात यह है कि वे कभी-कभी एक शब्दमें एक-दो अक्षरोंको तो गोल ओकारके साथ बोलते हैं और एक-आधको शुद्ध, जैसे 'कमल' शब्दको वे 'कोमोल' बोलते हैं।

ह्रस्व **इ** और ह्रस्व **उ** को दीर्घ पढ़ना और बोलना नागरीवालोंकी साधारण प्रकृति है। वे 'कवि' को 'कवी', 'भानु' को 'भानू', 'वायु' को 'वायू' पढ़ते-बोलते हैं।

ऐ और **औ** के संबंध में हम ऊपर विस्तारसे कह आए हैं। 'ऐसा' को 'एसा', 'मैं' को 'में' कहनेकी प्रकृति मारवाड़ और गुजरातमें बहुत है। मारवाड़में 'और' को 'ओर', 'कौन' को 'कोन' पढ़ा-बोला जाता है। इसके ठीक विपरीत ब्रजमें **ए** को **ऐ** और **ओ** को **औ** पढ़ने-बोलनेका अभ्यास है। वे 'जिसने' को 'जिसनै' 'प्रेम' को 'प्रैम', 'उसको' को 'उसकौ,' उसकौं' 'दोनों' को दौनौं' पढ़ते-बोलते हैं।

यद्यपि **ङ** का उच्चारण जीभको घण्टीसे आगे लगाकर नाकसे किया जाता है और इसका प्रयोग भी नागरी में अलग नहं होता किन्तु वर्णमाला में पढ़ते हुए इसे पंजाबवाले 'अंगऽ' और 'ङे' पढ़ते हैं।

च छ ज झ हैं तो तालव्य, किन्तु महाराष्ट्रवाले ठेठ मराठी शब्दोंमें वर्त्स्य और दन्त्य बनाकर **च़ छ़ ज़ झ़** बोलते हैं।

ऊपर बताया जा चुका है कि **ड** और **ढ** को प्रायः लोग **ड़** और **ढ़** पढ़ते और बोलते हैं जैसे 'गुडाकेश' को 'गुड़ाकेश', 'गूढ' को 'गूढ़' आदि। किन्तु यदि **ड** औ **ढ** किसी शब्दके प्रारंभमें आवें तब वे मूल रूपमें ही

बोले जाते हैं जैसे 'डकार, डलिया, ढकना, ढोल, ढमाढम' । बिहार और सिंधमें 'ड़' का 'र' हो जाता है, 'सड़क' भी 'सरक' बन जाती है । हमारे कवि लोग भी इसी झोंकमें 'पतझड़' को 'पतझर' लिखने लगे हैं ।

ण को प्रायः लोग **ड़** से मिला देते हैं । ऐसे लोग 'गरुड़' को 'गरुण' और 'गणेश' को 'गड़ेश' लिखते-बोलते हैं ।

ध को पंजाबमें **त** ही पढ़ते-बोलते हैं और 'धेनु' वहाँ 'तेनू' हो जाती है ।

ब और **व** का भी ऐसा ही घपला होता है । उत्तर भारतमें **ब** का अधिक प्रयोग होता है । वहाँ 'वन, वृक्ष, वानर, विमान' भी 'बन, बृक्ष, बानर, बिमान' हो जाते हैं । किन्तु दक्षिणवाले **व** का शुद्ध उच्चारण करते हैं । वहाँ 'वहिणी (बहन), वाँदरा (वानर)' में **व** का ही प्रयोग होता है । राजस्थानमें दो **व** बोले जाते हैं । एक दन्तोष्ठ जैसे 'वात = वायु'में, दूसरा द्व्योष्ठ्य जैसे 'वा़त = कहानी' में ।

पंजाबमें **भ** को **प** बोलते हैं जिससे 'भानु' भी 'पानू' हो जाता है ।

य को **ज** पढ़ने-बोलनेकी प्रवृत्ति भी उत्तर भारतके पूर्वी भागमे है । वहाँ 'यज्ञ'को 'जग्य', 'यजमान'को 'जजमान', 'यदाकदा'को 'जदाकदा' कहते हैं किन्तु वहाँ भी 'यहाँ, यार, ये, यहूदी' आदिको 'जहाँ, जार, जे, जहूदी' नहीं कहते अर्थात् वे तत्सम शब्दोंके प्रारम्भमे आनेवाले **य** को ही **ज** बोलते हैं । 'नियन्ता' को वे 'निजन्ता' नहीं कहेंगे ।

श, ष, स में कहीं तो **श** का **स** जैसे 'प्रकाश'का 'प्रकास', कहीं **स** का **श** जैसे 'कैलास' का 'कैलाश' हो जाता है । मेवाड़में तो **स** का **ह** हो जाता है । वहाँ 'साढ़े सात' भी 'हाड़े हात' बन जाता है ।

मध्यभारतमें 'वह'को 'वो' कहनेका अभ्यास है ।

'रलयोरभेदः' से **ल** का **र** या **र** का **ल** हो जाता है । 'गाली' भी 'गारी' हो जाती है, 'खरी' भी 'खली' (सरसोंकी) हो जाती है ।

नागरीकी विश्लेषण-प्रकृति

नागरीकी वास्तविक प्रकृति सन्ध्यक्षरोंको तोड़कर बोलनेकी है। 'दरपन, करम, धरम, परगट, गुपुत, सरग' आदि सच्चे ठेठ नागरी शब्द हैं जिनका प्रयोग कवियोंने खुलकर किया है, किन्तु अब प्रवृत्ति है 'दर्पण, कर्म, धर्म, प्रकट, गुप्त, स्वर्ग' आदि तत्सम रूपमें लिखनेकी। अतः लिखते तो लोग तत्सम रूपमें हैं किन्तु प्रायः बोलते हैं 'दरपण, करम, धरम' ही।

स के साथ बने हुए सन्ध्यक्षरोंसे प्रारंभ होनेवाले शब्दोंसे पहले प्रायः **अ** या **इ** जोड़कर उनका उच्चारण किया जाता है जैसे स्नानको अस्नान, स्कूलको इस्कूल, स्तोत्रको अस्तोत्र आदि।

अवधके रहनेवालोंकी कुछ अपनी विशेषता है। वे **ए** को **या**, **ओ** को **वा** कर देते हैं। उनका 'लोटा' भी 'ल्वाटा' और 'देखो' भी 'द्याखौ' हो जाता है।

अनेक भाषा-भाषियोंके संसर्गसे और कुछ प्रादेशिक उच्चारणके कारण नागरी भाषाकी सरल और सिद्ध ध्वनियोंमें भी दोष आ गए हैं। **ङ ञ ऋ ष क्ष** और **ज्ञ** आदि ध्वनियोंके विषयमें हम पीछे बता चुके हैं।

सिन्धी वर्णमालामें नागरी वर्णमालाकी ध्वनियोंके अतिरिक्त उपध्मानीय **ब** और अन्तःश्वसित **ड** हैं जो भीतर ही साँस लेकर बोले जाते हैं जैसे—'**ब**करी', '**डी**अल' में।

पंजाबवाले संध्यक्षरोंको अलग-अलग उच्चरित करते हैं जैसे 'प्रकार' को 'परकार', 'स्टेशन' को 'सटेशन'। गुजरातीमें 'च' और 'ज' तो ठीक बोला जाता है पर 'झ' को वे भी 'झ़' बोलते हैं।

मध्यभारत और मध्यप्रान्तमें 'रक्खा जाता है' को 'रखा जाता है' लिखते और बोलते हैं।

दक्षिण भारतमें ह्रस्व 'ओ' तथा 'ए' का प्रयोग भी होता है जिसके सम्बन्धमें हम पीछे बता चुके हैं। तमिळमें 'सीताराम' भी 'सीथाराम' हो जाता है।

'ढ़' को पच्छिमी उत्तरप्रदेशमें 'ढ' ही कहते हैं—'मैं तो नागरी पढरया (पढ़ रहा) हूँ।' कोटा तथा राजपूतानेके कुछ भागोंमें भी 'पड़ा है' को 'पडा है' तथा 'पढ़ता है' को 'पडता है' बोलते हैं। इस ड़ ढ़ के कारण नागरीवाले जब संस्कृत पढ़ते हैं तो 'गुडाकेश' को 'गुड़ाकेश' और 'गूढ' को 'गूढ़' पढ़ते हैं। सिन्धवाले इस 'ढ़'को 'ऱ्ह' बोलते हैं जैसे 'पऱ्हना'।

इसके अतिरिक्त प्रत्येक प्रदेशमें एक वाक्य-ध्वनि होती है अर्थात् एक विशेष स्वरके आरोह-अवरोहके साथ वाक्य कहनेकी चाल होती है। यह ध्वनि लिखकर नहीँ बताई जा सकती।

भारतके विभिन्न प्रान्तोँमे दुरुच्चारणकी सभी संभावनाओंका यथासंभव परिचय दे दिया गया है। वहाँके नागरी अध्यापक उन दोषोँका परिहार करते हुए उच्चारणकी शिक्षा देँ। इस समय भारत भरमेँ नागरी भाषा पढ़ाई तो जा रही है किन्तु उच्चारण और भाषा-रूपकी ऐसी अवर्णनीय दुर्गति हो रही है कि कुछ पूछिए मत। विभिन्न प्रान्तोँके शिक्षा-विभागोँ और भाषा-शिक्षकोँका यह कर्त्तव्य है कि वे हिन्दी भाषा-क्षेत्रोँसे अच्छे विद्वानोँको अपने-अपने प्रदेशोँमे निमन्त्रित करेँ और फिर उनसे उच्चारण तथा भाषा-स्वरूपकी शिक्षा लेकर भाषाका प्रचार करेँ अन्यथा ऐसी अव्यवस्था उत्पन्न हो जायगी कि भाषाका सम्पूर्ण सौन्दर्य और संस्कार नष्ट हो जायगा।

नागरीके व्यंजनोंका कोष्ठक

उच्चारण-करण		ओष्ठ		जिह्वाग्र	जिह्वाग्र	जिह्वोपाग्र	जिह्वाग्र	जिह्वोपाग्र	जिह्वाग्र	जिह्वामध्य	जिह्वामूल	
प्रयत्नकृत भेद	स्थानकृत भेद	द्व्योष्ठ्य	दन्त्योष्ठ्य	दन्त्य	वर्त्स्य	दन्त्य-वर्त्स्य	तालव्य	तालु-वर्त्स्य	मूर्धन्य	कंठ्य	जिह्वा-मूलीय	काकल्य
स्पर्श	अल्प-प्राण	प् ब्	...	त् द्	...	...	...	...	ट् ड्	...	क् ग्	*क्
	महाप्राण	फ् भ्	...	थ् ध्	...	...	...	...	ठ् ढ्	...	ख् घ्	...
स्पर्श-घर्ष	अल्प-प्राण	...	...	...	...	...	...	च् ज्	...	...	...	...
	महाप्राण	...	...	...	...	...	...	छ् झ्	...	...	...	...
अनुनासिक	अल्प-प्राण	म्	...	...	न्	...	ञ्	...	ण्	ङ्	...	...
	महाप्राण	+ म्ह्	...	...	+ न्ह्	...	...	...	...	...	...	...
पार्श्विक	अल्प-प्राण	...	...	...	ल्	...	...	...	...	...	...	...
	महाप्राण	...	...	...	+ ल्ह्	...	...	...	...	...	...	...
लुंठित	अल्प-प्राण	...	...	...	र्	...	...	...	...	...	...	...
	महाप्राण	...	...	...	+ र्ह्	...	...	...	...	...	...	...
उत्क्षिप्त	अल्प-प्राण	...	...	...	...	...	...	...	ड़् (ळ्)	...	...	...
	महाप्राण	...	...	...	...	...	...	...	ढ़् (ळ्ह)	...	...	...
घर्ष			*फ़्	...	...	स् *ज़्	श्	...	ष्	...	*ख़् *ग़्	(ह्(:, ह्
अन्तस्थ (अर्ध-स्वर)		व्	व्	...	...	...	य्	...	...	व् (संयुक्ताक्षरमें)	...	...

३

शुद्ध उच्चारणकी महत्ता और शिक्षा

उच्चारणके गुण-दोष

वर्णोंके उच्चारण-स्थानका निश्चय हो जानेपर यह प्रश्न सामने आता है कि शुद्ध उच्चारण करनेका अभ्यास किस प्रकार कराया जाय। उच्चारण सिखानेकी विधियोंका निर्देश करनेसे पूर्व यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि हमारी भाषा-ध्वनियाँ हमारे शरीरके किन अवयवोंकी क्रियाओं और गतियोंसे उत्पन्न होती हैं। इसके लिये सर्वप्रथम हमें बालकोंकी श्वास-गतिका ध्यान रखना चाहिए अर्थात् उन्हें श्वास भीतर लेने, उसे रोक रखने और नियमित रूपसे उसका प्रयोग करनेका अभ्यास कराना चाहिए, क्योंकि बोलीकी ध्वनियाँ तब बनती हैं जब हम बोलीकी डिबिया (स्वरयन्त्र)से होकर आनेवाली भीतरकी साँसको मुँहके भीतर जीभका अटकाव देकर या ओठोंको सिकोड़-फैलाकर या नकियाकर एक सधे हुए ढंगसे निकालते हैं।

भीतरके मैले वायुसे बोली बनती है

बाहरका वायु या भोजन-पानी मुँहमें पहुँचानेके लिये हमारे मुँहपर दो छेद बने हुए हैं—एक नाक और दूसरा मुँह। नाकका काम है साँस लेना और सूँघकर किसी वस्तुको अच्छी या बुरी गंधवाला समझकर यह बताना कि यह खाई-पीई जा सकती है या नहीं। मुँहका काम भी है खाना या पीना, पर उससे हम बोलनेका भी काम लेते हैं। बच्चोंको प्यार करनेके लिये हम मुँहसे उन्हें चूमते भी हैं, सीटी भी दे लेते हैं, बीन या बाँसरी भी बजा लेते हैं, पर सबसे बड़ा काम जो हम मुँहसे लेते हैं

वह बोलना ही है। यह बोलनेका काम मुँहका उल्टा काम होता है, क्योंकि मुँहसे जो कुछ हम खाते या पीते हैं वह बाहरसे हमारे पेटमें जाता है और केवल अपच होनेपर न पचा हुआ अन्न ही उल्टी बनकर मुँहसे निकलता है। यह रोग समझा जाता है और बुरा भी माना जाता है। पर बोलीमें एक बड़ी अनोखी बात यह होती है कि जो वायु नाकसे साँस लेनेके साथ भीतर जाकर भीतरकी सब मैल लेकर नाकसे बाहर निकलता है वही भीतरका मैला वायु, बोलते समय नाककी बटिया छोड़कर हमारे गलेमें बनी हुई बोलीकी डिबियाके भीतरकी दो तनियोंको कँपाता और धकियाता हुआ मुँहके भीतर हमारी जीभके अटकाव या ओठके फैलाने, सिकोड़ने, आगे बढ़ाने या नकियानेसे ढंग-ढंगकी ध्वनियाँ बनाता हुआ निकलता है। यह समझिए कि हमारी बोली भीतरके मैले वायुसे ही बनती है।
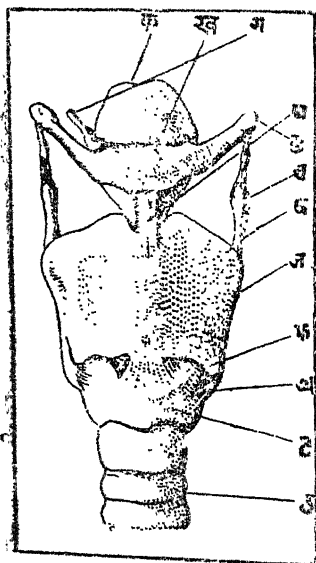
चित्र १

[बोलीकी डिबिया (स्वरयन्त्र या लैरिंक्स) की चबनी (कार्टिलेज) और झिल्लियाँ (लिगामेंट)।

(क) स्वरयन्त्रका ढकना (एपिग्लौटिस); (ख, ग, ङ) स्वरयन्त्रकी भीतरी हड्डियाँ; (च, ज, झ, ञ) चबनी; (घ, छ, ट) चबनियोंको जोड़नेवाली झिल्लियाँ; (ट) साँसकी नलीका दूसरा छल्ला (उसके ऊपर पहला छल्ला है)]

हमारा गला

कभी हम गलेकी बनावट भली-भाँति परखें तो हमें यह देखकर कम अचरज नहीं होगा कि हमारे गलेके भीतर मुँहसे लगी हुई दो नलियाँ हैं। एकसे हमारे फेफड़ोंमें नाकसे खींची हुई साँस जाती है। इसे साँसकी नली कहते हैं। इसीके पीछे भोजनकी नली है, जो हमारे पेटमें मुँहसे खाया हुआ खाना या पानी पहुँचाती है। भोजनकी नलीके ऊपर साँसकी नलीकी ओर एक ओर ही खुल सकनेवाली एक ढपनी (वाल्व) बनी हुई है जिसे बोलीकी डिबिया (स्वरयन्त्र या लैरिंक्स) कहते हैं।

ढपनीका ढकना (एपिग्लौटिस)

यह ढपनी साँसकी नलीकी सबसे बड़ी पहरेदार है। यह भी दो काम करती है—१. मुँहसे आए हुए भोजन या पानीको देखते ही साँसकी नलीका मुँह बन्द कर देती है कि भोजन-पानी कहीं साँसकी नलीमें पहुँचकर मनुष्यके प्राण न ले ले, और २. भीतरसे आनेवाले वायुको अपने भीतर तनी हुई दो पतली लचकदार तनियाँ (बोलीकी डोरियाँ) को कँपाकर बोली निकालती है। इसीलिये हमारे यहाँ बताया गया है कि खाते समय बोलना और बोलते समय खाना ठीक नहीं होता।

चित्र १ में बनी हुई इस बोलीकी डिबियामें बहुतसी मांसकी भीतें या चबनियाँ हैं जो लचीली झिल्लियोंसे जुड़ी होती हैं। उसीमें भीतर दो लचीली पतली तनियाँ (डोरियाँ) हैं जिन्हें बोलीकी डोरियाँ (वोकल कौर्ड्स) कहते हैं। ये तनियाँ भीतरकी तनिक-सी साँसके झोंकेसे हटकर अलग हो जाती हैं और फिर मिल जाती हैं। इस डिबियामें तीन मांसपट्टियाँ होती हैं जिनमेंसे एक इस डिबियाका ढकना (एपिग्लौटिस) है जो साँसकी नलीकी ओर झुकी हुई जीभके समान होता है और यही भोजन या पानीको साँसकी नलीमें जानेसे रोकता है। इस बोलीकी डिबियामें जो दो बोलीकी डोरियाँ होती हैं, उनके बीचमें जो खुला हुआ खोखला होता है, उसीमेंसे होकर वायुका आना-जाना होता है और यह सिकुड़ता-फैलता रहता है।

चित्र २
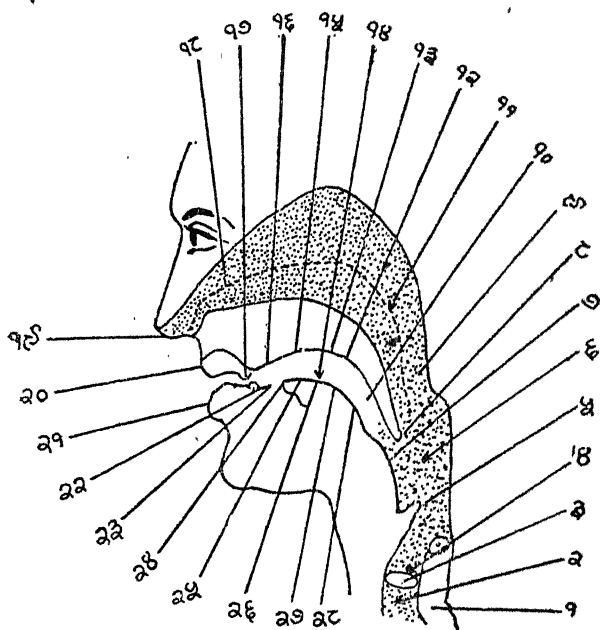
[१. भोजनकी नली (गलेट); २. बोलीकी डिबिया (स्वरयन्त्र या लैरिंक्स); ३. ध्वनिकी डोरियाँ (वोकल कौड्‌स या स्वरतन्त्री); ४. बोलीकी डिबियाका मुँह (ग्लौटिस या काकल); ५. बोलीकी डिबियाका ढकना (एपिग्लौटिस या अभिकाकल); ६. साँसकी नली (विंड पाइप); ७. मुँहका खोखला (माउथ कैविटी या मुख-विवर); ८. कौवा (यूवुला); ९. नाकका खोखला (नैसल कैविटी या नासिका-विवर); १०. गला (गटर या कंठ); ११. साँसकी बटिया; १२. कोमल तालु (सौफ़्ट पैलेट); १३. मूर्धा (सेरेब्रल); १४. जीभ; १५. कड़ा तालु (हार्ड पैलेट या कठोर तालु); १६. ऊपरका मसूड़ा (वर्त्स या अलवेओला); १७. ऊपरके दाँत (अपर टीथ); १८. साँस

लेनेकी ठीक बटिया (नाकके भीतर); १९. नाक; २०. ऊपरका ओठ; २१. नीचेका ओठ, २२. नीचेके दाँत; २३. नीचेका मसूढ़ा (वर्त्स); २४. जीभकी नोक (जिह्वाग्र); २५. जीभकी अगाड़ी (पुरोजिह्वा); २६. जीभका बीच (मध्य-जिह्वा); २७. जीभकी पिछाड़ी (पश्चजिह्वा); २८. जीभकी जड़ (जिह्वा-मूल) ।]

कौवा (अलिजिह्वा या यूवुला)

बोलीकी डिबियासे ऊपर चढ़कर हम मुँहके उस खोखलेमें पहुँच जाते हैं जहाँसे नीचे, साँस और भोजनकी दो नलियाँ जाती हैं और ऊपर मुँह और नाकके दो खोखले हैं। ये दोनों खोखले जहाँसे फटते हैं वहाँ कौवा या एक छोटी-सी जीभ नीचेको लटकी रहती है जो भीतरसे आनेवाले वायुको नाकमें या मुँहमें जाने या न जानेके लिये अटकावका काम करती है ।

हमारी जीभ

मुँहके खोखलेमें हमारी जीभ हमारे सबसे बड़ी कामकी है क्योंकि वही मुँहके खोखलेके भीतर ऊपरके ढलवाँ पाटनमें अलग-अलग अटकाव देकर अलग-अलग ध्वनियाँ निकालती है । मुँहके ऊपरी पाटनमें गलेसे उठते हुए हम दाँततक बढ़ चलें तो बोलते समय हमें जीभके लगभग पाँच अटकाव देने पड़ते हैं—१. गलेसे थोड़ासा ऊपर चढ़कर, जहाँ कोमल तालु है; २. मुँहकी छतके ठीक बीचोंबीच, जिसे मुँहका सबसे ऊँचा सिरा (मूर्द्धा) कहते हैं; ३. कड़ातालु (कठोरतालु), जो ऊपरके मसूड़े और मूर्द्धाके बीचमें है; ४. मसूड़े (वर्त्स) और ५. दाँतपर । इन अटकावोंमें जीभके पाँच ठौर हमारे काम आते हैं—१. जीभकी जड़, २. जीभकी पिछाड़ी, ३. जीभका बीच, ४. जीभकी अगाड़ी और ५. जीभकी नोक । इनके आगे दाँत हैं जिनके या तो पीछे जीभकी नोक अटकाकर कुछ ध्वनियाँ बोली जाती हैं या जिनके सिरोंपर जीभ अटकाकर

ध्वनियाँ निकाली जाती हैं जैसे अँगरेज़ीके 'थौट' शब्दका 'थ्'। कभी-कभी जीभ भीतर उलटकर जीभके नीचेके सिरेको मूर्द्धा या कोमल तालुपर अटकाना और रगड़ना पड़ता है जैसे तमिळका ळ बोलते हुए।

ओठ

इसके आगे हमारे ओठ हैं, जिन्हें मिलाकर, अलगाकर, फैलाकर, सिकोड़कर या तानकर बहुतसी ध्वनियाँ निकाली जाती हैं।

नाक

जब किसी ध्वनिको कुछ नकियाना होता है, जैसे 'आँख, पाँच, साँप, गाँव' शब्द बोलते हुए, तब मुँहके भीतरसे बाहर आनेवाली कुछ साँस नाकसे छोड़ दी जाती है और नाक भी हमारी बोलीमें हाथ बँटा लेती है जैसे कभी-कभी पाठ-पूजा करते हुए हम 'हाँ हूँ' जैसी ध्वनि मुँह बन्द किए केवल नाकसे ही बोल जाते हैं।

उच्चारणके अंग

इससे स्पष्ट है कि बाहरका वायु श्वासनलिका द्वारा फेफड़ेमें पहुँचता है और स्वरयन्त्रमें श्वासके आघातसे संपूर्ण ध्वनियाँ प्रादुर्भूत होती हैं। स्वरयन्त्रसे ध्वनि निकलनेके पश्चात् हम उसे तीन प्रकारसे संचालित कर सकते हैं—१. स्वरोंका उच्चारण करते समय मुँहका रूप बदलनेसे, २. व्यञ्जनोंका उच्चारण करते समय जीभ, दाँत, ओठ तथा तालुके द्वारा, और ३. प्रभावोत्पादक करने लिये कंपन-यन्त्रों द्वारा, अर्थात् स्वरयन्त्रके पल्लों, कण्ठनाली, नासारन्ध्रके ऊपरके अस्थिविवर, माथेके पीछेके अस्थिविवर, नासान्ध्र तथा कठिन तालु-द्वारा।

उच्चारण-रीति

शब्दोच्चारण किस प्रकार करना चाहिए यह पाणिनीय और याज्ञवल्क्य-शिक्षामें बहु सुन्दर ढंगसे बतलाया गया है। वर्णोच्चारणकी विधि बतलाते हुए कहा गया है—

व्याघ्री यथा हरेत्पुत्रान् दंष्ट्राभ्यां न च पीडयेत् ।
भीता पतनभेदाभ्यां तद्वद्वर्णान्प्रयोजयेत् ॥
मधुरं च न चाव्यक्तं व्यक्तं चापि न पीडितम् ।
सनाथैकस्य देशस्य न वर्णाः संकरं गताः ॥
यथा सुमत्त-नागेन्द्रः पदात्पदं निधापयेत् ।
एवं पदं पदाद्यंतं दर्शनीयं पृथक् पृथक् ॥
[याज्ञ० शि० १०२-१०४]

शङ्कितं भीतमुद्घुष्टमव्यक्तमनुनासिकम् ।
काकस्वरं शिरसिगं तथा स्थानविवर्जितम् ॥
उपांशुदष्टं त्वरितं निरस्तं विलम्बितं गद्गदितं प्रगीतम् ।
निष्पीडितं ग्रस्तपदाक्षरञ्च वदेन्न दीनं न तु सानुनास्यम् ॥ ३४-३५ ॥
गद्गदो बद्धजिह्वश्च न वर्णान् वक्तुमर्हति ॥
प्रकृतिर्यस्य कल्याणी दंतोष्ठौ यस्य शोभनौ ।
प्रगल्भश्च विनीतश्च स वर्णान् वक्तुमर्हति ॥
शङ्कितं भीतमुद्घुष्टमव्यक्तमनुनासिकम् ।
काकस्वरं मूर्धिनगतं तथा स्थानविवर्जितम् ॥
विरसं विस्वरं चैव विश्लिष्टं विषमाहतम् ।
व्याकुलं तालहीनं च पाठदोषाश्चतुर्दश ॥

[जिस प्रकार बाघिन अपने बच्चोंको मुँहमें लेकर चलती है कि न तो बच्चोंको दाँत ही चुभें और न वे मुँहसे हो गिरें, ठीक उसी प्रकार शब्दोच्चारण भी करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि न तो अक्षर चबा-चबाकर बोले जायँ कि मुँहमें ही रह जायँ और न ऐसा हो कि वे मुँहसे गिर-गिर पड़ें और स्पष्ट एक दूसरेसे अलग टूटे हुए सुनाई दें।

वर्ण मधुर हो, पर स्पष्ट हो, दूसरे वर्णोंसे दबा हुआ न हो। सब वर्ण पूरे उच्चरित किए जायँ, एक दूसरेमें मिल न जायँ। जैसे मतवाला हाथी एक पैरके पश्चात् दूसरा पैर रखता है, उसी प्रकार एक-एक पद और पदान्तको अलग-अलग स्पष्ट करके बोलना चाहिए।

शङ्कित होकर, डरकर, चिल्ला-चिल्लाकर, अस्पष्टताके साथ, नाकसे, कौवेके स्वरमें, मूर्धा-स्थानसे ही उच्चारण करके, उचित स्थानों से उच्चारण न करके, मुँहमें ही वर्णों को काटकर, फेंकते हुएसे, रुक-रुककर, गद्गद स्वरमें, गा-गाकर, वर्णोंको चबा-चबाकर, पदों और अक्षरोंका पूर्ण रूपसे उच्चारण न कर अपूर्ण उच्चारण करके, दीनतायुक्त स्वरमें और सभीको अनुनासिक बनाकर बोलना उचित नहीं है।]

याज्ञवल्क्य-शिक्षामें भी ये ही बातें दुहराई गई हैं—

[बोलनेमें कण्ठका गद्गद होना और जीभका बँध जाना उचित नहीं है। इस प्रकार बोला नहीं जा सकता। जिसका रूप सुन्दर है, जिसके दाँत और ओठ अच्छे हैं, जो उच्चारणमें प्रगल्भ एवं विनीत है, वही वर्णोंका उचित उच्चारण कर सकता है। शंकित, भयभीत, चिल्ला-चिल्लाकर, अस्पष्ट, नकिया-नकियाकर, कौवेके स्वरमें, मूर्धासे ही सभीका उच्चारण करके, उचित स्थानसे उच्चारण न करके, नीरस ध्वनिमें, सुस्वर-रहित, अलग-अलग, बेढंगे रूपसे बलाघात करके, व्याकुलतापूर्वक एवं ताल-हीन पढ़ना, ये पढ़नेवालेके चौदह दोष हैं।]

पाठकके गुण-दोष

उसी शिक्षामें आगे चलकर भले-बुरे ढंगसे पढ़नेवालों के गुणदोष भी बतलाए गए हैं—

> माधुर्यमक्षरव्यक्तिः पदच्छेदस्तु सुस्वरः।
> धैर्यं लयसमर्थं च षडेते पाठका गुणाः॥
> गीती शीघ्री शिरःकम्पी तथा लिखितपाठकः।
> अनर्थज्ञोऽल्पकण्ठश्च षडेते पाठकाधमाः॥

[मिठास, अक्षरोंकी स्पष्टता, पदोंका पृथक्-पृथक् उच्चारण, स्वरोंका उचित उतार-चढ़ाव, धीरता और लयके अनुसार पढ़ना—पाठकर्त्ताके ये छह गुण हैं। इसके विपरीत, गाकर, हड़बड़ी करके, सिर हिलाते हुए, चुपचाप, अर्थ समझे बिना या दबे स्वरसे पढ़नेवाला अधम पाठक होता है।]

शब्दोच्चारणकी सम्यक् शिक्षा देनेके समय प्राचीन भारतीय आचार्यगण स्वर और वर्णपर बहुत बल देते थे। उनका ऐसा करना उचित भी था क्योंकि यदि स्वर और वर्ण ठीक न हों तो शब्दोंका ठीक-ठीक उच्चारण हो ही नहीं सकता। एक उदाहरण लेकर देखिए कि शब्दोंका शुद्ध उच्चारण करनेपर भी स्वर और वर्णका मिथ्या प्रयोग कितना उलट-फेर कर देता है। एक छोटा-सा वाक्य—'मैंने मारा है' ले लीजिए। इसे कहते समय यदि 'मैंने' पर बल दिया जायगा तो ऐसा जान पड़ेगा मानो प्रश्न किया जा रहा है। 'मारा' के साथ 'है' पर बल देनेसे यही वाक्य यह अर्थ देने लगेगा कि 'मैंने ही मारा है और इसके लिये मैं किसीसे डरता नहीं हूँ।' इस सम्बन्धमें एक वैदिक कथा उल्लेखनीय है जिसमें इन्द्रके वधकी कामनासे उसके शत्रुने माला जपनी प्रारम्भ की परन्तु स्वरके मिथ्या प्रयोगके कारण वह स्वयं मारा गया—

दुष्टः शब्द स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या-प्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥

[यदि स्वर या वर्ण बिगाड़कर कोई शब्द अशुद्ध बोला जाय तो वह वाणीका वज्र बनकर यजमानको उसी प्रकार मार डालता है जैसे स्वर बिगाड़कर बोलने मात्रसे इन्द्रका शत्रु वृत्रासुर मारा गया।]

अशुद्ध स्वर और वर्ण

अतः शिक्षकोंको शुद्ध उच्चारणपर ध्यान देनेके साथ-साथ शुद्ध स्वर और वर्णपर भी ध्यान देना चाहिए। यहाँ उच्चारणसे सम्बन्ध रखनेवाली एक बात कह देनी आवश्यक है। महाभाष्यमें एक वाक्य आया है—

'उदात्ते कर्त्तव्ये योऽनुदात्तः करोति खण्डिकोपाध्यायः तस्मै चपेटां ददाति।'

[उदात्त स्वरके स्थानपर यदि शिष्य अनुदात्त कर देता है तो खड़ियाके सहारे पढ़नेवाला अध्यापक उसे चट एक झापड़ लगा देता है।]

इस उद्धरणसे स्पष्ट है कि उच्चारण-शुद्धतापर—केवल ध्वनियोंकी शुद्धतापर ही नहीं वरन् स्वरोंकी शुद्धतापर भी—प्राचीन कालसे ही बड़ा बल दिया जाता था।

याज्ञवल्क्य-शिक्षा और पाणिनीय शिक्षाने पाठ-दोष और पाठ-गुण एवं स्वरकी शुद्धतापर जो विचार किए हैं वे इस बातके सूचक हैं कि भारतीय प्राचीन शुद्ध उच्चारणकी परम्परामें भी स्वरोंका यथार्थ प्रयोग बड़े महत्त्वका विषय था। खण्डिकोपाध्याय भी वर्णकी अशुद्धि मात्रका शिक्षण नहीं करता था वरन् वह उच्चारणमें उदात्त-अनुदात्तका भी ध्यान रखता था।

सारांश

सारांश यह है कि हमारे मुखसे जो स्वर और व्यञ्जन निकलें वे शुद्ध और स्पष्ट हों। नागरी भाषाकी यह विशेषता है कि इसमें अक्षरोंकी ध्वनियाँ निश्चित हैं। अतः उच्चारणमें कोई असुविधा नहीं होती। किन्तु इस विशेषताके होते हुए भी हमारी भाषा अनेक भाषाओं तथा अनेक भाषा-भाषियोंसे प्रभावित हुई है। हमने तद्भव शब्दोंको इतनी स्वतन्त्रता दे दी है कि 'कृष्ण' शब्द हमारे साहित्यमें 'कान्हा, कन्हैया, कान्ह, किशन' न जाने कितने रूप धारण कर लेता है। इन प्रयोगों-पर व्याकरणके कृपाणका भी कोई प्रभाव नहीं पड़ सका। यद्यपि 'ऋण' के 'रिन' रूपको भी साहित्यमें स्थान मिल गया है किन्तु नागरी गद्यमें 'रिन' लिखनेवाला विद्रोही समझा जाता है। 'कविजी' को प्रायः लोग 'कवीजी' कहते हैं किन्तु लिखनेके समय 'वि' ह्रस्व होनी चाहिए, दीर्घ नहीं। अतः हमारी भाषा तबतक शुद्ध नहीं हो सकती जबतक हम तद्भव शब्दोंके शुद्ध रूपोंका निर्णय नहीं कर पाते।

असावधानता

इन बोलियों और उपभाषाओंके कटु प्रभावोंके अतिरिक्त वैयक्तिक रूपसे भी असावधानता या स्वरयन्त्रोंके अनुचित प्रयोगसे उच्चारण-दोष आ जाते हैं जैसे—'कुन्दन' का 'कुन्नन', 'सुरेन्द्रसिंह' का 'सुरेन्सिंह' इत्यादि। ऐसी अशुद्धियाँ तो तनिक सावधान हो जानेपर दूर की जा सकती हैं।

स्वरयन्त्रोंके अनुचित प्रयोगके उदाहरणोंमें 'श' का 'स' या 'स' का

'श' या 'र' का 'ज' के समान उच्चारण करना अथवा तोतला बोलना आदि आते हैं। ये दोष प्रायः उन बालकोंमें आ-जाया करते हैं जिनके स्वरयन्त्र विकृत हो गए हैं या जो रोगी हैं या जो दूसरोंका दुष्ट अनुकरण करते हैं।

उच्चारण शुद्ध करनेकी विधियाँ

उच्चारण शुद्ध करनेकी तीन विधियाँ हैं—(१) आवृत्ति-पुनरावृत्ति अर्थात् बार-बार अभ्यास कराकर ठीक कर देना। (२) स्थान-परिवर्त्तन अर्थात् अशुद्ध बोलनेवालोंके पाससे हटाकर शुद्ध बोलनेवालोंकी संगतिमें रखना। (३) शीघ्र तथा अस्पष्ट बोलनेसे रोककर धीरे-धीरे अक्षर-अक्षर स्पष्ट बोलनेका अभ्यास कराना।

कक्षामें अध्यापक पहली तथा तीसरी प्रणालीका प्रयोग करके सफलता प्राप्त कर सकता है, क्योंकि दूसरी विधिके प्रयोगके लिये भारतीय अध्यापक विवश हैं। हमारे सम्पूर्ण ज्ञानका आधार अनुकरण है अतः अच्छे वक्ताकी वाणीका यह प्रभाव होता है कि श्रोता केवल उसकी शुद्धताको ही नहीं ग्रहण करते वरन् उसके स्वरका भी अनुकरण करते हैं। अतः सर्वोत्कृष्ट विधि यही है कि अध्यापक स्वयं उच्चारण करके बालकोंसे बार-बार शुद्ध उच्चारण करावें।

यहाँ एक बात और भी स्मरण रखनेकी है। कभी-कभी हम लोगोंकी यह प्रवृत्ति होती है कि हम एक शब्दके केवल एक अक्षरका ही उच्चारण ठीक करानेमें लग जाते हैं। यह विधि मनोविज्ञानके विरुद्ध है। शब्दका प्रत्येक वर्ण एक दूसरेसे संबद्ध होता है, अतः उच्चारण शुद्ध कराते समय पूरा शब्द लेना चाहिए एक अक्षर नहीं। मान लीजिए एक विद्यार्थी 'शंकर' के स्थानपर 'संकर' कहता है। यहाँ 'शं' की ही नहीं वरन् पूरे 'शंकर'की आवृत्ति करानी चाहिए, साथ ही 'शंकर' और 'संकर'के अर्थोंका भेद बता देना चाहिए जिससे इन बातोंका ऐसा संबद्ध स्वरूप बालकके मस्तिष्कमें बैठ जाय कि वह फिर कभी अशुद्ध न बोल सके।

माध्यमिक स्कूलोंमें पढ़नेके लिये आए हुए बालकका ज्ञान शिशुओंकी

अपेक्षा कुछ अधिक होता है। वे अक्षरोंके परिचयके साथ-साथ अनेक वस्तुओंके नाम, क्रिया-बोधक शब्द तथा विशेषणोंसे भी कुछ-कुछ परिचित रहते हैं। ऐसे बालकोंके सीखे हुए शब्दोंके उच्चारण-शोधनके लिये सात विधियाँ काममें लाई जाती हैं—

१. वस्तुको सामने रखकर उसका शुद्ध नाम बतलाना। जैसे—छतरीको सामने रखकर 'छत्री' कहनेवालेको शुद्ध करके 'छतरी' कहलाना।

२. क्रिया करके या दिखलाकर उसका शुद्ध रूप कहलाना, जैसे—'खैंचना' को शुद्ध करके 'खींचना' कहलाना।

३. विशेषणोंका प्रयोग करके तथा उन्हें शुद्ध करके जैसे—'सुन्नर' को 'सुन्दर' कहलाना।

४. जिन अन्य शब्दोंके उच्चारणमें अशुद्धि होनेकी संभावना हो उन्हें बार-बार कहलाकर ठीक कराना जैसे—'प्रकार, प्रश्न, क्षत्रिय'को यदि 'परकास, प्रशन, छत्री या क्षत्री' कहते हों तो बार-बार शुद्ध रूपोंकी आवृत्ति कराना।

५. विद्यार्थीसे कुछ न कहकर उसके सामने इस प्रकार बातचीत और कामकाज करना कि वह स्वयं ही प्रकारान्तरसे शब्दोंके शुद्ध उच्चारणोंका परिचय प्राप्त करने लगे। उदाहरणके लिये विद्यार्थीको सामने बैठाकर दूसरे किसीसे खिले हुए फूलोंकी ओर संकेत करके कहना कि 'कुसुमित प्रसून कितने सुन्दर प्रतीत हो रहे हैं।' इस पद्धतिमें सामाजिक वातावरण, पास-पड़ोसका शिष्टाचार, घरके अन्य प्राणियोंकी बोलचालका पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। इसमें मौखिक शिक्षाकी अपेक्षा शिक्षकके निजी व्यवहारका अधिक महत्त्व होता है। हमारे देशमें भाषाके अध्यापकोंकी सबसे बड़ी कमी यह है कि वे कक्षामें तो विद्यार्थीसे कहेंगे 'तू पढ़ता क्यों नहीं है' किन्तु बाहर कहेंगे 'तू पढ़त काहे नाहीं हउव' इत्यादि। भाषाके अध्यापकपर देशकी भाषाको सुधारनेका उत्तरदायित्व है अतः उसे सदा शुद्ध तथा सिद्ध भाषाका प्रयोग करना चाहिए।

६. छात्रोंके लिये भौगोलिक और ऐतिहासिक यात्राओंकी व्यवस्था करना, क्योंकि वर्त्तमान शिक्षाशास्त्री बहुपठकी अपेक्षा बहुश्रुत तथा बहुदर्शी बनानेपर अधिक बल देते हैं। भाषाकी शुद्ध शिक्षाके लिये नई-नई परिस्थितियाँ प्रस्तुत करनी चाहिएँ। इससे लाभ यह होता है कि आरम्भमें ही विद्यार्थी नये शब्द सीख लेते हैं। हमारे यहाँ दो प्रकारके शिक्षित कहे गए हैं, एक बहुश्रुत दूसरे बहुपठ। बहुपठकी अपेक्षा बहुश्रुतका महत्त्व अधिक है क्योंकि बहुश्रुत जितना व्यवहार-कुशल और क्रियावान् होता है उतना ही बहुपठ व्यवहार-शून्य और अक्रिय होता है। इस तथ्यपर किसी जानकारका कथन है—

शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खाः।
यस्तु क्रियावान् पुरुषः स विद्वान्॥

[शास्त्र का गहरा अध्ययन करनेपर भी लोग मूर्ख ही रह जाते हैं। वास्तविक विद्वान् वही है जो क्रियावान् हो।]

बहुश्रुत व्यक्तिके लिये बहुसंग होना आवश्यक है। पुस्तकीय ज्ञानकी अपेक्षा बाहरी जानकारी अधिक रखनेवाले व्यक्ति प्रायः बहुपठों से कहीं अधिक सफल होते हैं। इसका कारण यह है कि बहुपठ लोगोंकी शिक्षा जिस पुरानी दण्ड-पद्धतिसे हुई है उसमें शिक्षककी अपेक्षा शिक्षकका डण्डा अधिक काम करता था। प्रत्येक बात पीट-पीटकर रटाई जाती थी और लोग 'ठोक-पीटकर वैद्यराज' बनाए जाते थे। सभी देशोंकी शिक्षण-संस्थाओंमें पहले इसी पद्धतिका व्यापक प्रचार था और परीक्षा पार करनेके लिये 'बाँसकी कमची' ही चमत्कार करती थी। दिन-दिन बढ़नेवाले शिक्षा-प्रचारके कारण यह परिपाटी बहुत कुछ उठ गई है और उठती ही जा रही है।

७. आवृत्ति, पुनरावृत्ति तथा संशोधन-द्वारा पूरे वाक्यका शुद्ध उच्चारण करना सिखाना। उदाहरणके लिये, बालकके मुखसे यह निकलते ही कि 'हम सहर गए थे', तुरन्त उसे टोक देना चाहिए कि 'तुम अशुद्ध कह रहे हो, इसे यों कहो—'मैं शहर गया था'। इस प्रकार बार-बार

वाक्यमें ही संशोधन और उसकी पुनरावृत्ति करानेसे भी बालक शुद्ध बोलना सीख लेते हैं।

अँगरेज़ीमें भी यही संशोधन और पुनरावृत्तिवाली प्रणाली प्रचलित है। किन्तु इस प्रणालीकी उपयोगिता उन्हींके यहाँ अधिक है जहाँ एक ही ढंगसे लिखे जानेवाले शब्दोंका उच्चारण दो प्रकारसे होता है या दो ढंगोंसे लिखे जानेवाले शब्द एक ढंगसे बोले जाते हैं। हमारे यहाँ तो ऋषि, कृषि, ऋण, ज्ञान आदि दस-पाँच शब्द ही ऐसे हैं जिनके उच्चारणकी पुनरावृत्ति करानेकी आवश्यकता पड़ती है। ऋ, ष, क्ष और ज्ञ अक्षर जिन शब्दोंमें आते हों उन्हें स्वयं बार-बार शुद्ध बोलने और बुलवानेसे तथा संयुक्ताक्षरवाले शब्दोंके उच्चारण सिखानेमें तनिक सावधानी रखनेसे ही हमारी उच्चारण-समस्याका समाधान किया जा सकता है।

यह ध्यान रखनेकी बात है कि उच्चारण सुधारनेका कुल काम प्रारंभिक अवस्थामें ही कर लेना चाहिए अन्यथा अभ्यास पड़ जानेपर उसका सुधरना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य हो जाता है और जिसका उच्चारण अशुद्ध होता है उसके प्रभावमें पड़नेवाले तथा उसके दुरुच्चरित वर्णोंका अनुकरण करनेवाले अन्य छात्रोंका उच्चारण भी बिगड़ जाता है। अतः भाषाके अध्यापकका सबसे प्रधान कर्त्तव्य है कि वह उच्चारण अवश्य ठीक करा दे।

४

बोलचालकी शिक्षा

वार्त्तालाप

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। उसे समाजमें अपनी स्थिति बनाए रखनेके लिये चार आदमियोंसे व्यवहार रखना ही पड़ता है। इस व्यवहार-क्षेत्रमें उतरकर उसे चार मित्र दस शत्रु भी बनाने पड़ते हैं, जीविकाके लिये धनोपार्जन भी करना पड़ता है। यह सारा प्रपंच रचनेमें उसे एक मात्र अपनी वाणीपर भरोसा करना पड़ता है। उसकी वाणी अर्थात् भाषा ही इन अवसरोंपर उसके अधिक काम आती है। भाषाका उचित प्रयोग पुराने शत्रुओंको मित्र बना देता है, उसीका कटु रूप गाढ़े मित्रोंको कट्टर शत्रु बना देता है। अवसरोपयुक्त भाषाके प्रयोगमें अभ्यस्त व्यवसायी एक वस्तु मोल लेनेके लिये आए हुए ग्राहकके हाथ चार वस्तुएँ बेंच देता है। इसके विपरीत खरी सुनानेवाले व्यवसायी दिन-भर बैठ मक्खियाँ मारा करते हैं। भाषापर अधिकार रखनेवाले मनुष्य, हृदयपर राज्य करते हैं। वे क्षुब्ध जन-समूहको अपनी वाणीके बलपर भेड़ भी बना सकते हैं और अपने ओजस्वी भाषणसे सिंह बनाकर साम्राज्यका सिंहासन भी उलट सकते हैं। इँगलैण्डके प्रधान मन्त्री ग्लैड्स्टनकी वाणीमें वह शक्ति थी कि कभी-कभी महारानी विक्टोरिया भी भयभीत हो जाती थीं। कहा जाता है कि एक बार पार्लियामेण्टमें किसी महत्त्वपूर्ण प्रश्नपर विचार हो रहा था। स्वयं प्रधान मन्त्री उसके प्रस्तावक थे। उन्होंने अपना प्रस्ताव इतने प्रभावशाली शब्दोंमें उपस्थित किया कि लोकमत उनकी ओर झुकने लगा। महारानी विक्टोरिया उस प्रस्तावके विरुद्ध थीं। परन्तु उनमें विरोध करनेका साहस नहीं था। वे अनुभव कर रही थीं कि ग्लैड्स्टनकी

ओजमयी वाणीका विरोध करना मेरी शक्तिके बाहर है। अतः उन्हें बाध्य होकर कहना पड़ा कि प्रधान मन्त्री अपना प्रस्ताव लिखकर दें, बोलकर नहीं।

भाषण और लेखन

उक्त उदाहरणसे लिखने और बोलनेका अन्तर स्पष्ट हो जाता है। लेखन मूक भाषण है और भाषण मौखिक लेखन। लिखे हुए शब्द, चित्रके समान होते हैं जिनमें रूप, रङ्ग और शरीर तो होता है, पर प्राण नहीं। परन्तु बोले हुए शब्द हमारे व्यक्तित्वसे अनुरञ्जित, हमारी भावनाओंसे अनुप्राणित, हमारी आँखोंकी चमकसे ज्योतिर्मय और हमारे हाथकी लहरोंसे गतिशील होते हैं। सवाक् विचारोंको भाषण कहते हैं और भाषण करनेका साधन भाषा है। भाषण अर्थात् बोलचाचलमें दो बातोंका होना बहुत आवश्यक है। इसमें पहली बात है अर्थ-संक्रमण और अर्थ-संक्रमणके समान ही महत्त्वपूर्ण दूसरी बात है प्रभावोत्पादन। जब हम किसीसे कुछ कहते हैं तो हमारा उद्देश्य यही रहता है कि श्रोता हमारी बातको समझे और उसपर हमारी बातका प्रभाव पड़े। ऐसी स्थितिमें भाषाका अर्थ-संक्रामक और प्रभावोत्पादक होना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य्य भी है। अतः अर्थ-संक्रमण और प्रभावोत्पादकता लानेके लिये भाषा शुद्ध हो, अवसरके अनुकूल हो, स्वरके साथ कही जाय, उसका एक-एक शब्द स्पष्ट कहा जाय, वह मधुर हो।

भाषाकी शुद्धता

भाषाकी शुद्धताकी व्याख्या हम पीछे कर आए हैं। इसका तात्पर्य यही है कि हमारी बोलचालके शब्द समुचित रीतिसे लोकव्यवहार-सिद्ध, मुहावरेदार तथा व्याकरण-सिद्ध हों। किसीके आनेपर हम कहते हैं—'आइए, पधारिए, आसन ग्रहण कीजिए।' यदि इसके बदले हम कहें—'आइए, कुर्सी पकड़िए', तो अनुचित ही कहा जायगा। यद्यपि 'ग्रहण कीजिए' का अर्थ 'पकड़िए' हो सकता है किन्तु लोक-विरुद्ध होनेके

कारण यह अशुद्ध प्रयोग है। व्याकरणकी अशुद्धि तो लोग पद-पदपर करते हैं। पूर्वी संयुक्तप्रान्तमें 'ने' का प्रयोग बोलचालमे नहीं होता। वे कहते हैं—'राम दशरथसे कहे'। न तो उन्हें उचित लिङ्गका प्रयोग ज्ञान है और न वे यह जानते हैं कि किस संज्ञाके साथ क्या विशेषण लगाना चाहिए। 'हमने दही खाई, हाथी आती है' आदि प्रयोग उत्तर-प्रदेशके पूर्वीय खंड और बिहारमें बहुत मिलेंगे। विदेशी शब्दोंका लिङ्ग-निर्णय भी अभीतक नहीं हो सका है। ऐसे शब्दोंके लिये एक व्यापक नियम यही है कि विद्वान् लोग जैसा प्रयोग करते हों वैसा ही प्रयोग किया जाय।

सुरुचि और प्रभाव

शब्दोंका समुचित चुनाव करते समय हमें इस बातपर ध्यान देना चाहिए कि हमारे चुने हुए शब्द प्रभावोत्पादक तो हों पर कुरुचि न उत्पन्न करें। 'अबे, उटकपैंज, टाँचना, कचरकुट्ट करना, भकोसना, बगचोंच, उल्लूका पट्ठा, घमोच, घोंचू, करंटा, बाँगड़ू' आदि शब्दोंका प्रयोग अशिष्टता सूचित करता है। कुछ लोग भाषामें प्राचीनताका पुट देनेके लिये ऐसे शब्दोंका प्रयोग कर बैठते हैं जिनका प्रयोग उठ चुका है जैसे 'पंडितजी बोले' के स्थानपर 'पंडितजी भाखते भए' कहना। स्पष्टतः 'भाखते भए' का प्रयोग व्यंजनाकी दृष्टिसे बहुत उत्तम है पर ऐसे प्रयोगोंमें अत्यन्त सावधानी रखनी चाहिए। इसी प्रकार जब हम 'वे गिड़गिड़ाने लगे' के बदले 'वे गिड़गिड़ायमान हो गए' कहते हैं तो हमारा उद्देश्य परिहासात्मक प्रभाव उत्पन्न करना ही होगा। पर किसी विद्यार्थीके कानमें इसकी भनक पड़ना भी अवाञ्छनीय है, अन्यथा वह इसीका प्रयोग करनेमें अधिक उत्सुकता प्रकट करेगा। इसके साथ ही, बोलनेके समय देश-काल-पात्रका भी विचार कर लेना चाहिए अर्थात् अवसर देखकर मुँह खोलना चाहिए। किसीके साथ समवेदना प्रकट करते समय चिल्ला-चिल्लाकर बोलना उसी प्रकार अनुचित है जैसे किसीपर अत्यन्त क्रुद्ध होकर उसके कानमें धीरेसे

कहना—'मैं तुम्हें मार डालूँगा।' बोलते समय सुस्वरता और भावानुसार वाणीके चढ़ाव-उतारपर भी ध्यान रखना चाहिए। इसके अभावमें भाषण तो नीरस और प्राणहीन हो ही जाता है, श्रोतापर भी उसका कुछ प्रभाव नहीं पड़ता।

यही देखकर श्रेष्ठ मनीषी प्लुतार्कने कहा था कि 'तुम बात तो वही करते हो जो तुम्हें कहनी चाहिए पर उस ढंगसे नहीं कहते जिस ढंगसे कहनी चाहिए।' आज भी प्लुतार्कका उक्त कथन तथ्य-हीन नहीं हुआ है। हम किसी प्रकार बोल भर लेते हैं। बोलनेका ढंग तो हम आज भी नहीं जानते। विचार किया जाय तो बोलनेमें दो वस्तुओंकी आवश्यकता पड़ती है—एक अच्छा विषय, दूसरे अच्छा ढंग। अच्छे ढंगसे बोलनेका तात्पर्य्य है स्वाभाविक ढंगसे बोलना। स्वाभाविक ढंगसे बोलनेका अभ्यास डालनेके लिये आवश्यक है कि बात हृदयसे निकले। लन्दनके बिशप ग्रोटियसने जब प्रसिद्ध अभिनेता विटार्टनसे पूछा कि 'तुम इतना अच्छा अभिनय कैसे करते हो?' तो उसने कहा—'इसलिये कि मैं इसे हृदयसे करता हूँ।'

प्रभावोत्पादकता

प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री और देशभक्त महामना मालवीयजीके मुँहसे एक-एक शब्द मोतीकी भाँति निकलते थे। इसका तात्पर्य्य यही है कि प्रत्येक अक्षर शुद्ध और प्रत्येक शब्द उचित ध्वनिके साथ निकलकर श्रोताके हृदयपर टंकण-यन्त्रके अक्षरके समान छपता चला जाता था। जो मधुर वक्ता होते हैं उनके विचारोंका ही हमें केवल आनन्द नहीं मिलता, उनकी वाणीका भी हमपर यह विचित्र अवर्णनीय प्रभाव पड़ता है कि हमारा हृदय खिल उठता है और कान उनकी वाणी सुननेके लिये लालायित हो उठते हैं। ऐसी ही वाणीवालेके लिये लोग कहते हैं—

'किसीकी आँखमें जादू तेरी ज़बानमें है'

यही वाणीका मोती बरसाना है, यही मुँहसे फूल झड़ना है।

मधुरता

इस सम्बन्धमें अन्तिम बात है मधुरता। यही वशीकरण मन्त्र है।

ऐसी बानी बोलिए, मनका आपा खोय।
आपहुकौ सीतल करै, औरौ सीतल होय॥
तुलसी मीठे बचनतें, सुख उपजत चहुँ ओर।
बसीकरन इक मन्त्र है, परिहरु बचन कठोर॥

भाषणमें पटुता प्राप्त करनेके उपाय

भाषणमें पटुता प्राप्त करानेके लिये शिक्षा-शास्त्रियोंने निम्नलिखित उपायोंका निर्देश किया है—

१. शिष्टजन-संसर्ग कराना।

२. कक्षामें विभिन्न अवसरोंके योग्य बोलचालके पाठोंवाली पुस्तकोंकी सहायतासे अभ्यास कराना।

३. मौखिक रचनाका अभ्यास कराना।

४. नाटक-द्वारा।

५. वार्त्तालापके स्वाभाविक अवसर देना।

इनमेंसे प्रथम तो सहज और स्वाभाविक है। भले घरोंके बच्चे स्वभावतः मिष्टभाषी और शिष्ट होते हैं। किन्तु विद्यालयमें प्रायः अनेक संस्कारोंमें पले हुए बालक आते हैं अतः उनका भाषा-संस्कार ठीक करानेके लिये सुवक्ताओंको बुलाकर उनसे विभिन्न विषयोंपर भाषण कराने चाहिएँ और छात्रोंको ऐसे अवसर देने चाहिएँ कि वे सुवक्ताओं और मृदुभाषियोंके साथ अधिकसे अधिक वार्त्तालाप कर सकें।

शिष्ट भाषा

सच पूछिए तो राजसभामें जानेवालों तथा भलेमानुसोंके यहाँ बैठक लगानेवालोंको शिष्ट भाषा और व्यवहार-भाषा अत्यन्त शीघ्र आ जाती है, किन्तु बेचारा अध्यापक ऐसी स्थिति तबतक उत्पन्न नहीं कर सकता जबतक गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली हमारे देशमें अनिवार्य्य नहीं हो जाती।

कौन्वेण्ट स्कूलोंमें पढ़नेवाले विद्यार्थियोंकी अँगरेजी अच्छी होनेका कारण वहाँकी कक्षाकी पढ़ाई नहीं, वरन् वहाँका व्यावहारिक वातावरण है। अतः प्रत्येक विद्यालयके सभी अध्यापकोंका कर्तव्य है कि केवल कक्षामें ही नहीं, वरन् कक्षाके बाहर तथा छात्रावासमें भी वे उचित, शुद्ध, लोक-व्यवहारसिद्ध तथा मधुर भाषाका ही प्रयोग करें और छात्रोंके अधिकाधिक सम्पर्कमें आकर उनमें भाषाका संस्कार दृढ़ करें।

अवसरानुकूल भाषा

विभिन्न अवसरोंके योग्य भाषाका अभ्यास कक्षामें करानेके लिये अत्यन्त व्यवस्थित वार्त्ता-पुस्तकों (कन्वर्सेशनल रीडर्स) तथा चतुर अध्यापकोंकी आवश्यकता है। अभीतक हमारे शिक्षा-साहित्यमें ऐसी व्यवहार-शिक्षक पोथियोंका सर्वथा अभाव है। यदि विचक्षण भाषा-पटु विद्वानोंकी लिखी हुई—कोरे साहित्यिक लेखकों या संग्रह-कर्त्ताओंकी लिखी नहीं—पुस्तकें प्राप्त हों तो कक्षामें भी संवाद-पाठोंके द्वारा शुद्ध सम्भाषणकी शिक्षा दी जा सकती है। इसके लिये विशेष प्रकारकी संवाद-पुस्तकें या वार्त्ता-पुस्तकें प्रस्तुत करानी चाहिएँ जिनमें इस प्रकारके पाठ हों—

[रमेशकी अध्ययनशालामें उसका मित्र सुरेश प्रवेश करता है]

सुरेश—(अत्यन्त नम्र स्वरमें) भीतर आ सकता हूँ ?

रमेश—(उठकर, हाथ जोड़कर, आगे बढ़कर स्नेहसे) आइए, आइए, सुरेशजी ! नमस्कार ! आइए पधारिए ! (पीठासनकी ओर संकेत करता है।)

सुरेश—(हाथ जोड़कर) नमस्कार ! (बैठ जाता है।)

रमेश—कहिए, किधरसे शुभागमन हुआ ?

सुरेश—घरसे ही तो आ रहा हूँ।

रमेश—(पान-इलायची देते हुए) सब कुशल ?

सुरेश—हाँ, सब कृपा है। (पान-इलायची लेकर) धन्यवाद !

रमेश—कहिए, कैसे कष्ट किया ?

सुरेश—बहुत दिनोंसे आपका समाचार नहीं मिला था इसलिये कुशल-

मंगल लेने चला आया था।

रमेश—(हाथ जोड़कर) बड़ी कृपा की।

सुरेश—कहिए, कैसी पढ़ाई चल रही है ?

रमेश—ठीक ही है।

सुरेश—(उठते हुए) अच्छा, तो आज्ञा हो।

रमेश—(उठते हुए) कुछ जलपान तो करते जाइए।

सुरेश—फिर कभी आऊँगा (मुस्कराकर हाथ जोड़ते हुए) नमस्कार !

रमेश—(द्वार-तक पहुँचाकर, हाथ जोड़कर) फिर पधारिएगा। अच्छा !

सुरेश—(जाते हुए) अच्छा।

इसी प्रकार पुस्तकोंमें विभिन्न अवसरों और स्थानोंके अनुकूल वार्त्तालापका संग्रह करके छात्रोंके लिये दे देना चाहिए।

मौखिक रचना

मौखिक रचना तो लिखित रचनाका प्रारम्भिक स्वरूप मात्र है। वह भाषण-पटुता प्राप्त करानेमें अवश्य ही अधिक सहायता दे सकेगा। इसका विवेचन रचना-शिक्षणके साथ किया जायगा।

नाटकका महत्त्व

भाषण-शिक्षाके लिये नाटक बड़ा महत्त्वपूर्ण साधन है। रङ्गशाला ही वह उपयुक्त स्थल है जहाँ कोई भी व्यक्ति अवसरोपयुक्त भाषाके साथ-साथ उसे व्यक्त करनेका—भावको उचित रूपसे प्रकट करनेका—ढंग सीख जाता है, उसकी वाणी सध जाती है, गला मँज जाता है, फेफड़े अपनी शक्तिका उपयोग करना जान जाते हैं और ध्वनि उत्पन्न करनेवाले सब यन्त्र अपनी मर्यादा समझ लेते हैं। अतः स्कूलोंमें भाषण तथा बोल-चालकी उचित शिक्षा देनेके लिये रङ्गशालाकी शरण अवश्य लेनी चाहिए। आज-कल प्रत्येक विदेशी विद्यालयके भवनमें रङ्गशाला अत्यन्त आवश्यक रूपसे बनाई जाती है जहाँ प्रति सप्ताह छात्रोंकी ओरसे कुछ न कुछ नाट्यायोजन होता ही रहता है। इसलिये यह आवश्यक नहीं

है कि वहाँ व्यावसायिक रङ्गशालाकी सारी सामग्रियाँ प्रस्तुत हों। एक सीधे-सादे मञ्चपर नटोंके समान प्रवेश और प्रस्थानके साथ सुन्दर भावपूर्ण संवाद कराकर भी इस लक्ष्यकी सिद्धि की जा सकती है। इससे कण्ठ खुलता है, साहस बढ़ता है, झिझक भाग खड़ी होती है। वाग्युद्धमें अभिनेताको कोई परास्त नहीं कर सकता। वह सैकड़ों, सहस्रों, लाखोंके सामने तनकर खड़ा हो जायगा और उसकी वाणीके उतार-चढ़ावके साथ-साथ जनसमह कभी हँसीसे लोटपोट होगा और कभी आँसुओंकी जलधारा बरसावेगा। बोल-चाल सिखानेका यही उद्देश्य है, यही इच्छित फल भी है।

वार्त्तालापके स्वाभाविक अवसर

अनुकरण और अभ्यासके द्वारा ही बोलचालकी शिक्षा ठीक होती है। अतः अभ्यागतोंका आदर-सत्कार करने तथा सभा आदिकी योजना करनेके अवसर देकर बालकोंको स्वाभाविक रूपसे भाषा-संस्कार करनेका अवकाश देना चाहिए।

बोल-चालकी शिक्षाके उद्देश्य

बोलचालकी शिक्षाके चार उद्देश्य हैं—

(१) छात्रोंको इस योग्य बना दिया जाय कि उनसे जो प्रश्न किया जाय उनका वे ठीक, शुद्ध तथा पूर्ण वाक्यमें उतना ही उत्तर दें जितना अपेक्षित, आवश्यक और संगत हो।

(२) यदि कोई भी बाहरका अपरिचित व्यक्ति आकर बालकसे उन विषयों, वस्तुओं या अनुभवोंपर वार्त्तालाप करना चाहे जिनका बालकको परिचय है तो बालक उचित वाणीके संस्कार-द्वारा, अत्यन्त संयत, मधुर तथा शुद्ध भाषामें सक्रम, संगत तथा युक्तियुक्त शैलीमें बातचीत चला सके और अपना संपूर्ण अनुभव स्पष्ट रूपसे दूसरोंके सन्मुख व्यक्त कर सके।

(३) बालकको किसी भी विषयमें किसी प्रकारकी शंका उठ खड़ी

हो तो वह स्पष्ट रूपसे दूसरेके सम्मुख अपनी शंका और शंकाके कारण प्रकट कर सके।

(४) बालकने स्वयं जो देखा, सुना, पढ़ा या अनुभव किया हो उसे अपनी आलोचना या टिप्पणीके साथ स्पष्ट रूपसे दूसरोंको बता सके और अपने अनुभव या विचारका तर्कपूर्ण, सकारण प्रतिपादन और समर्थन तथा सकारण, मधुर ढंगसे, प्रतिपक्षीको बिना रुष्ट किए विपक्षीका विरोध कर सके।

इन चारों बातोंका उचित शिक्षण, नाटकके प्रयोग-द्वारा सरलतापूर्वक किया जा सकता है किन्तु अध्यापकोंका यह भी कर्त्तव्य है कि वे नाटक कराकर ही उसकी इतिश्री न समझ लें वरन् नाटकीय संवादको सफल बनानेके लिये उचित निर्देश भी दें। इस सम्बन्धमें आगे 'नाटक पढ़ानेके उद्देश्य तथा शिक्षण-विधि' शीर्षक अध्यायमें विस्तारसे विवेचन किया जायगा।

५

लिपिकी समस्या

लेखन क्यों ?

भावाभिव्यक्तिके साधन

मनुष्यके पास भाव प्रकट करनेके तीन साधन हैं। वह बोलकर, लिखकर या संकेतसे अपने हृदयका भाव प्रकट कर सकता है। उक्त तीनों साधन मनुष्यके बुद्धि-विकासका क्रम सूचित करते हैं। प्रागैतिहासिक कालमें जब मानवता वन-वृक्षों के हिंडोलेपर झूलती थी, कन्द-मूल-फल ही मनुष्यके लिये षड्स व्यञ्जन था, उस समय मनुष्यकी मूक भाषामें शरीरके विभिन्न अंग ही वर्णमालाका काम करते थे। उस समय हम संकेतों और कुछ अस्पष्ट ध्वनियों से ही अपना सारा काम चलाया करते थे। धीरे-धीरे हम तुतला-तुतलाकर बोलने लगे। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि आज भी बोलने और लिखनेके साथ-साथ संकेतसे काम चलानेकी कला हमें उन्हीं पूर्वजों से उत्तराधिकारमें मिली है। बड़े होनेपर हमारी तुतलाहट भी छूटी और हम स्पष्ट शब्दोच्चारण करने लगे।

लिखावट कैसे चली ?

हमारी धरती अब जङ्गलीपनकी नींदसे अँगड़ाई लेकर, आँखें मलकर, जभाकर जाग उठी तब उसके बच्चों ने जो बहुतसे भले काम किए उनमें एक था लिखनेका ढङ्ग निकालना। पर यह काम मन बहलाने-भरके लिये ही नहीं किया गया था। उन्हें भख मारकर इस काममें हाथ

डालना पड़ा। पौ फटी, सूरज निकला, दोपहर हुई, दिन ढला। पर इन्हीं चार पहरोंमें न जाने कितनी बार वे जूझ जाते थे। कल्लनका घड़ा कहीं जल्लनके घड़ोंमें पहुँच गया तो बस महाभारत हुआ समझो। कल्लनके घड़ेपर मोती तो टँके नहीं थे कि लाखोंमें धरा हो, कोई पहचान ले। घड़े-घड़े एकसे। वे दरबारी चाल-ढाल तो जानते न थे। बस पहले भौंहें तनतीं, फिर डंडे तुलते और बात बातमें सिर फूट जाते, बर्छियाँ चलने लगतीं। पलक मारते-मारते धरती लाल हो उठती। पर धीरे-धीरे उन लोगोंने सोचा कि अपनी कोई पहचान बना लें, तब तो टंटा ही जाता रहे। बस एक-एक टोलीने अपनी-अपनी अलग-अलग पहचान बना ली और अपने डंगर-ढोर, कपड़े-लत्ते, लोहे-लक्कड़ सबको आँक दिया। यहींतक नहीं, उन्होंने अपने घरके बूढ़े-बच्चे, छोटे-बड़े, सबपर यह पहचान लगा दी।

फिर जङ्गलमें घूमते-घामते सैकड़ों जड़ी-बूटियाँ, पेड़-पौधे, बेल-पत्ते उन्हें मिलते। उनमेंसे कोई उनकी खाँसी हरता, कोई उनकी आँखोंकी ललाई काट देता। अब इनमेंसे किसे-किसे वे मनकी कोठरियोंमें तहा-तहाकर रखते। उन्होंने इन पेड़-पौधोंके नाम रक्खे और सबके लिये चिह्न बना डाले।

फिर जब एक-एक झुण्डके लोग दूर-दूर जा बसे, दो भाइयोंके बीच कई कई कोसका बीच पड़ गया, तब उन दूर बैठे हुए भाई-बन्दों, गोती-नातियों, हेली-मेलियोंसे लेन-देन, काम-काज, कीनबेंचका व्यवहार रखनेके लिये भी उन्हें लिखावटका आसरा लेना पड़ा।

जब इन सब बातोंने उन्हें लिखनेका ढङ्ग चलानेके लिये बेबस कर दिया तब उन्होंने आड़ी-तिरछी लकीरोंसे एक लिखावट बना ली। उससे उन्होंने अपने घर-बारका काम तो चलाया ही, साथ ही इन्हीं लकीरोंमें वे अपने गीत भी लिखने लगे। पर हाँ, बहुत दिनोंतक इने-गिने लोग ही थे जो लिखना सीखते थे और लिखा

हुआ बाँच सकते थे। ऐसे लोगोंपर अपढ़ लोग बड़ा अचरज करते और समझते कि 'ये लोग जोगी हैं, भूतोंसे खेलते हैं।'

देखा जाय तो सबसे पुरानी लिखावट पत्थरोंपर लिखे हुए कुछ बेतुके, बेढङ्गे किरम-काँटेभर ही हैं। गुनी लोग यह मानते हैं कि पत्थरकी इन लिखावटोंको पहले किसी लिखैयेने मट्टी, गेरू या सेलखड़ीसे पाटीपर लिख डाला होगा और फिर किसी 'काला अच्छर भैंस बराबर' समझनेवाले पथरकटने छीनी लेकर उस लिखावट-को गहरा खोद डाला होगा और फिर तो पत्थर, लकड़ी, कागज, कपड़े सभीपर लिखने होंगे।

ध्वनिके प्रतीक

उक्त अवस्था बहुत दिनोंतक बनी रही। फिर समझदार होनेपर हम मनुष्योंने लिखनेका प्रयत्न करना आरम्भ किया अर्थात् ध्वनिकी प्रतीक रेखाओंका आविष्कार किया। इतने बड़े आविष्कारके अनुरूप उपकरणोंका हमारे पास सर्वथा अभाव था। अक्षरोंमें गोलाई, सुडौलपन आदि लानेका हमारे पास कोई साधन न था। हम किसी प्रकार उल्टी-सीधी रेखाएँ खींचकर वर्णमालाके अभावकी पूर्त्ति करने लगे। धीरे-धीरे आवश्यक उपकरण प्रस्तुत हुए और फलस्वरूप उन्हीं उल्टी-सीधी रेखाओंने आज हमारी वर्णमालाके सुन्दर, सुडौल अक्षरोंका रूप धारण किया। आज लिखने-पढ़नेका व्यापक प्रचार हो गया है इसलिये चाहे हम लिखावटको कोई महत्त्व न दें पर इससे इसके आविष्कारकी महत्ता तिल भर भी कम न होगी। आज भी मनुष्यकी असभ्य और आदिम अवस्थाके प्रतिनिधि जङ्गलियोंके लिये, लिखावट किसी जादूसे कम नहीं है। उनके लिये आज भी यह एक पहेली ही है कि कहीं पर कोई मनुष्य टेढ़ी-सीधी रेखाओं-द्वारा अपने मनकी बात कैसे बता देता है और दूसरा मनुष्य उन्हीं रेखाओं-द्वारा उसकी सारी बातें कैसे समझ लेता है। इतना ही नहीं, उन्हें बाँचकर भी क्रोध, प्रेम, करुणा आदि भाव वैसे ही क्यों उमड़

पड़ते हैं जैसे देख या सुनकर। ऐसी स्थितिमे 'ऐसी बानी बोलिए' वाले दोहेके साथ 'ऐसा लेख न कीजिए' भी बढ़ा दिया जाय तो बुरा न होगा।

लेखनका महत्त्व

कहनेका तात्पर्य्य यह है कि लिखावटकी शिक्षाका भी भाषा-शिक्षणमें अपना विशेष स्थान है। हमारे यहाँ अँगरेजोंके आगमनके पहलेतक 'लिखना' सिखानेपर बहुत ध्यान दिया जाता था। यहाँ लिखनेका अभिप्राय लिखित रचनासे नहीँ वरन् सुडौल और सुन्दर लिखावटसे है। इस अर्थमें लिखनेका प्रयोग ही चित्र-लेखनसे आया है। चित्र खींचना और चित्र लिखना पर्यायवाची प्रयोग हैं। अपढ़ हिन्दू आज भी 'लिखना' शब्दका व्यवहार चित्रलेखनके ही अर्थमें करते हैं। वे ब्याह-बारातके अवसरपर अपने घरमें गणेशजीका चित्र बनवाते नहीं वरन् 'लिखना रखवाते' हैं। इसीसे समझा जा सकता है कि हमारे यहाँ लिखना केवल काग़ज़पर कलम घसीटना नहीं था, वरन् चित्र-लेखनके समान कलात्मक वर्ण-विन्यास करना था। फ़ारसीमें अत्यधिक सुन्दर और सुडौल अक्षरोंको नस्तालीक़ कहते हैं। किसी समय नस्तालीक़ अशर्फ़ियोंके मोल बिकता था। इसके विपरीत शिकस्त, फ़ारसी लिपिकी वह लिखावट है जो खुर्राट पढ़नेवालोंके भी दाँत खट्टे कर देती है। यह घसीट लिखावट कभी-कभी लिखनेवाले भी नहीं पढ़ पाते। हमारी अदालतोंमें अँगरेजोंके प्रस्थान करनेतक इसी लिपिका प्रचार था, जिसकी कृपासे आएदिन आमकी इमली और इमलीका अंगूर हुआ करता था और परम वैज्ञानिक नागरी लिपि, इस अप्राकृतिक शिकस्तके द्वारा नित्य अपमानित की जाती थी। किन्तु स्वतन्त्र होते ही समझदार भारतीय नेताओंने देवनागरीकी सर्वश्रेष्ठता समझ ली और स्वतन्त्र भारतने भी देवनागरीको ही राजलिपि स्वीकार कर लिया है। यह दुःख है कि कुछ सम्प्रदायवादी लोग अभीतक फ़ारसी लिपिके प्रचलनका पुराना राग अलाप रहे हैं किन्तु हमें विश्वास है कि उनके सारहीन तर्कोंसे अब कुछ होता जाता नहीं।

मुद्रण-यन्त्रसे हानि

मुद्रण-यन्त्रोंके आविष्कारने लेखन-कलाकी हत्या कर डाली। प्रदर्शनियोंमें आए हुए पुराने लेखोंके सराहनीय संग्रहोंके देखनेसे प्राचीन समयका विचित्र लेखन-कौशल हमारी आखें खोल देता है। विभिन्न आकारके छापेके अक्षरोंमें भी वह सौन्दर्य, वह समाकारता और समरूपता देखनेको नहीं मिलती जो उन कलाविद् लेखकोंकी लिखावटमें मिलती है। एक चावलके ऊपर सूईसे खुदे हुए एक पूरे श्लोकमें एक भी अक्षर अशुद्ध या विकृत नहीं मिलता। पोस्टकार्ड जितने बड़े काग़ज़पर लिखी हुई पूरी श्रीमद्भगवद्गीताका न तो एक भी अक्षर विगड़ा मिलता है न अशुद्ध, न कोई अक्षर पंक्तिच्युत है, न श्लोक रेखाच्युत। एक-एक अक्षर तारमें पिरोए मोतीके समान स्वच्छ और स्पष्ट जान पड़ता है। उस कलाके दर्शन मात्रसे वाणी स्तंभित हो जाती है। उस लेखन-कलाकी पवित्र, आलोकमयी, सौन्दर्यमयी चित्रशालामें मुद्रण-यन्त्रके प्रवेश होते ही लेखन-कलाको साँप सूँघ गया, काठ मार गया। धड़ाधड़ साहित्यका अम्बार तो लगने लगा पर वैसा ही—गुदड़ीकी शोभा बढ़ानेवाला। परिणाम यह हुआ कि सैकड़ों सुलेखक अपनी कोमल कलामय उँगलियाँ लिए-दिए पेटकी ज्वालासे विज्ञानको कोसते हुए संसारसे चल बसे। मुद्रणयन्त्रने हमारी कला-विकासिका बुद्धिको निश्चेष्ट कर दिया। हमने लेखन-कलाके ललित विलासका चिन्तन भी छोड़ दिया। इस व्यापक उदासीनताका घातक परिणाम यह हुआ कि अनभ्यस्त, बहुधन्धी, असावधान तथा आलसी हाथोंमें पड़कर हमारी लिपि बिगड़ती चली गई। हमारी लिपिका वह अलौकिक गौरव लुप्त होने लगा कि वह शुद्ध लिखी और पढ़ी जा सकती है। अँगरेज़ीकी देखादेखी नागरीमें भी घसीट लिखनेकी प्रवृत्ति अँगरेजी पढ़े-लिखे लोगोंमें बल पकड़ती जा रही है। ये लोग अपना नाम-तक नागरीमें ऐसे बुरे ढंगसे लिखते हैं कि उसका एक अक्षर स्पष्ट नहीं होता। एक न्यायकर्त्ताके विषयमें प्रसिद्ध है कि वह तीन प्रकारसे लिखता था : एक तो वह स्वयं पढ़ सकता था, दूसरा केवल

उसका सहायक लेखक पढ़ सकता था और तीसरेको वे दोनों नहीं पढ़ सकते थे। अतः, यदि घसीट लिखनेकी प्रवृत्ति शीघ्र न रोक दी गई तो हमारी लिपिकी वही दुर्दशा और दुर्नामता होगी जो आज फ़ारसी लिपिकी हो रही है।

राष्ट्र-लिपि

लिपिका प्रश्न उठते ही समुचित राष्ट्रलिपिके चुनावकी समस्या भी सामने आ खड़ी होती है। राष्ट्रभाषाके समान राष्ट्र-लिपिका प्रश्न भी कम महत्त्वका नहीं है। यद्यपि राष्ट्रभाषा हिन्दीकी राष्ट्र-लिपि देवनागरी स्वीकृत हो गई है पर हमारे यहाँ इन दिनों प्रत्येक काममें टाँग अड़ानेकी प्रवृत्तिने राष्ट्रभाषा और राष्ट्रलिपिके प्रश्नोंको लेकर एक बखेड़ा-सा खड़ा कर रक्खा है और अब भी कुछ लोग फ़ारसी लिपि चलाए रखनेके पक्षपाती हैं।

लिपियोंकी चार अवस्थाएँ

विद्वानोंके अनुसार लिपियोंकी निम्नोक्त चार अवस्थाएँ हैं—

(१) आइडियोग्रैफ़िक — विचार-लिपि।
(२) पिक्टोग्रैफ़िक — चित्रलिपि।
(३) सिलेबिक — अक्षर-(सस्वर) लिपि।
(४) अल्फ़ाबेटिक — प्रतीकात्मक लिपि।

इन चार अवस्थाओंका विकास भी वे इसी क्रमसे मानते हैं। १. विचार-लिपिमें एक-एक विचारके लिये एक-एक चिह्न आता था। यदि उन्हें यह कहना होता था कि 'मैं जा रहा हूँ' तो वे एक चिह्न बनाकर उसे व्यक्त कर देते थे। २. चित्र-लिपिमें एक-एक पदार्थके लिये एक-एक चित्रका प्रयोग होता था। यदि उन्हें 'घोड़ा' लिखना होता था तो वे घोड़ेका चित्र बना देते थे। उक्त दोनों प्रकारकी लिपियाँ आज भी संसारकी असंस्कृत जातियोंमें प्रचलित हैं। ३. 'अक्षर-लिपि' (सिलेबिक स्क्रिप्ट) की तृतीय अवस्था मानी जाती है। कुछ विद्वानोंका कथन है कि भारतीय लिपि वस्तुतः सिलेबिक स्क्रिप्ट है क्योंकि भारतीय लिपियोंके चिह्न एक-एक ध्वनिके प्रतिनिधि न होकर एक-एक अक्षर या सस्वर व्यंजन-ध्वनि या

लयान्विति (सिलेबिल्)के प्रतिनिधि हैं। उनका कहना है कि हम बच्चोंको जो 'क ख ग' सिखाते हैं वे वस्तुतः एक-एक स्वतन्त्र ध्वनि नहीं हैं वरन् एक-एक सिलेबिल् अर्थात् सस्वर व्यंजन, लयान्विति (क्+अ) हैं। किन्तु वे लोग भूल जाते हैं कि लयान्विति (सिलेबिल) किसी शब्दकी ध्वनियोंका वह लघुतम समूह है जो एक झटकेमें बोला जाता है जैसे 'संसार' शब्दमें दो लयान्वितियाँ हैं—'सम्' और 'सार', किन्तु इसमें अक्षर तीन (सं, सा, र) हैं और ध्वनियाँ हैं छह (स्+अं+स्+आ+र्+अ)। ४. चतुर्थावस्था प्रतीकात्मक वर्णमालाकी समझी जाती है जैसे यूनानी या रोमन वर्णमाला। इन वर्णमालाओंमें एक-एक वर्ण एक-एक ध्वनिका प्रतीक है जैसे 'एन्' केवल 'न्' का ही प्रतीक है।

मतका समीक्षण

इन चारों अवस्थाओंकी कल्पना करनेवाले प्रधानतः पाश्चात्य विद्वान् ही हैं। उन्होंने अपनी वर्णमालाकी अवस्था पूर्ण विकसित सिद्ध करनेके लिये अपनी सुविधाके अनुकूल कल्पना कर ली और उस अवस्थाका नाम भी यूनानी वर्णमालाके 'अल्फ़ा, बीटा'के अनुसार 'अल्फ़ाबेटिक' रख लिया। उनके सिद्धान्तके अनुसार नागरी वर्णमाला अभी उस विकसित अवस्थातक नहीं पहुँची है जिस अवस्थातक 'यूनानी' या 'रोमन' वर्णमालाएँ। किन्तु कोई भी निष्पक्ष विचारशील व्यक्ति उनकी युक्तिको तर्ककी कसौटीपर कसकर युक्ति-संगत नहीं कह सकता। उक्त मतसे नागरी लिपिकी वैज्ञानिकताका निराकरण न होकर उसकी पुष्टि ही होती है क्योंकि उनके यहाँ वर्णोंके नाम दूसरे होते हैं और उसके द्वारा बोध दूसरेका होता है। यूनानीके A अक्षरका नाम है 'अल्फ़ा' और वह काम करता है 'अ, आ, ए, ऐ' आदिका, B अक्षरका नाम है बीटा और वह प्रतीक है 'ब' ध्वनिका। इसका परिणाम यह होता है कि बालकोंको पहले तो वर्णोंके नाम रटने पड़ते हैं और तदनन्तर यह स्मरण रखना पड़ता है कि वह कहाँ किस ध्वनिका प्रतीक

होता है। पर नागरी लिपिकी विशेषता सर्व-प्रसिद्ध यही है कि हम जो लिखते हैं वही पढ़ते हैं। हमारे यहाँ 'अ' अक्षरका नाम भी 'अ' है और वह काम भी 'अ' का ही करता है। अतः बालकोंको दो बार परिश्रम करनेकी आवश्यकता नहीं पड़ती। ध्यान देनेकी बात है कि 'सी' कहकर उसे 'क्' का प्रतीक समझना, 'जी' कहकर उसे 'ग्' का प्रतीक समझना बच्चोंके लिये तो कठिन है ही पर देखने-सुननेमें भी कितना अवैज्ञानिक, असंगत और अयुक्त प्रतीत होता है।

रोमनका पक्ष

कुछ विद्वानोंका कहना है कि नागरीको अक्षरावस्थासे निकालकर प्रतीकावस्थामें लानेके बदले हम 'रोमन' लिपि ही क्यों न स्वीकार कर लें। पर रोमन लिपिको वे दूसरी प्रकारसे स्वीकार करना चाहते हैं। उनका कथन है कि रोमनके 'ए, बी, सी' आदि अक्षरोंको 'ए, बी, सी' आदि न कहकर 'अ' ब, स' कहा जाय और रोमनमें 'ट ठ' या 'श' आदि जो ध्वनियाँ, नहीं हैं उनके लिये नये चिह्न बना लिए जायँ। इस प्रकार रोमन लिपिको संशोधित, परिवर्त्तित और परिवर्द्धित करके तथा उनके वर्णोंको नागरी नाम प्रदान करके उसे अपना लिया जाय। इस प्रकार वे समझते हैं कि जो नई वर्णमाला निर्मित होगी वह सब दोषोंसे मुक्त होगी। पर उन्होंने जिस प्रकार दोष-परिहार करना चाहा है वह व्यर्थ है। जिस अक्षरत्व (सिलेबिक) दोषको हटानेके लिये उक्त परिवर्त्तनकी आवश्यकता पड़ी है, वह दोष ज्योंका त्यों रह जाता है। 'अ' 'ब' 'स' पढ़नेपर भी यह वर्णमाला 'सिलेबिक' ही रह जायगी क्योंकि किसी स्वरके बिना, व्यंजनका उच्चारण ही असंभव है। यदि यूनानी या रोमनके समान प्रतीकात्मक लिपि बनाते हैं तो प्रतीकका नाम, प्रतीककी ध्वनि और प्रतीकबोध्य ध्वनि तीन बातें स्मरण करनी पड़ती हैं। इतनेपर भी 'ब' के लिये अक्षरका नाम 'बी' रखकर ईकारका सहारा लेना पड़ता है। अतः यही उचित है कि एक ही प्रकारके 'अ' स्वरके योगसे पूरी वर्णमालाके अक्षरोंका उच्चारण किया जाय। हमारे यहाँ संस्कृतमें लघुसिद्धान्त-कौमुदी पढ़नेवाला छात्र भी

जानता है कि व्यञ्जनोंमें लगा हुआ 'अ' (अकार) केवल उच्चारणकी सुविधाके लिये ही है—'हकारादिष्वकार उच्चारणार्थः'।

लिपि-विकासकी पाँचवीं अवस्थामें नागरी

हम नागरीकी इस अक्षरत्वकी स्थितिको कोई दोष नहीं मानते क्योंकि हम नागरी वर्णमालाको अक्षरात्मक (सिलेबिक) न मानकर ध्वन्यात्मक (फ़ोनेटिक) मानते हैं और इसीलिये हम नागरीका स्थान उपर्युक्त चार अवस्थाओंके अनन्तर विकसित वर्णमालाकी पाँचवीं ध्वन्यात्मक (फ़ोनेटिक) अवस्था मानते हैं। अर्थात् हम बातचीतमें जितनी स्वर-संश्लिष्ट या स्वर-विश्लिष्ट ध्वनियाँ निकालते हैं वे सब अलग-अलग प्रतीक लेकर नागरीमें लिखी जाती हैं। यही उसके विकासकी पूर्णताका लक्षण है। उसका सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि नागरी अक्षरोंके नाम और उच्चारण दोनों एक ही होते हैं। संसारमें प्रचलित अन्य लिपियोंमें यह बात नहीं पाई जाती। उनमें अक्षरकी संज्ञा कुछ, और उसका उच्चारण कुछ और ही हुआ करता है जैसा लातिन, यूनानी और अरबी आदि प्रमुख प्रचलित लिपियोंमें प्राप्त है। अतः संसार भरकी सब लिपियोंमें देवनागरी ही पूर्ण तथा सर्वोत्कृष्ट लिपि है क्योंकि १. यह अपनी पूर्णता-तक पहुँच चुकी है, २. इसमें अक्षरके नाम और उच्चारण दोनों एक हैं, ३. जो लिखा जाता है वही पढ़ा जाता है, और ४. लिखनेमें सरल है।

अन्य लिपियोंके दोष

रोमनमें यदि अक्षरका नाम 'ए' है तो उसका उच्चारण विभिन्न परिस्थितियोंमें **अ आ ए ऐ** तथा **औ** होगा; स्कौलर (Scholar : विद्वान्) में a = अ; चार्टर (Charter : विधान) में a = आ; मेड (made : बनाया) में a = ए; मैन (man : मनुष्य) में a = ऐ; टौक (Talk : वातचीत) में a = औ। वहाँ अक्षरकी संज्ञा होगी **बी**, परन्तु वह पढ़ा जायगा **ब**। उक्त वर्णमाला अँगरेजीमें आकर और भी दोषपूर्ण

हो जाती है। एक ही रूपरेखा होते हुए भी उसके उच्चारणमें इतना बड़ा अन्तर आ जाता है कि उसके औचित्यको हृदयङ्गम करना टेढ़ी खीर हो जाती है। एक उदाहरण पर्याप्त होगा। रोमन वर्णमालाके सी और एच् को मिलाकर तीन-तीन ध्वनियाँ बनाई जाती हैं—शेमीज़ (Chemise) और शोफ़र (Chauffeur) में 'सी एच्' का सम्मिलित उच्चारण 'श' है; चार्टर (Charter) और चौक (Chalk) आदिमें वही 'सी एच्='च' पढ़ा जाता है और स्कौलर (Scholar) या कौलरा (Cholera) हो जानेपर उसका उच्चारण 'क' होने लगता है। यह गड़बड़ी वहीं समाप्त नहीं होती। उलट-पलटकर एक साथ दो-चार अक्षरोंके नाम ही ले लेनेसे कभी कभी वाक्यका भ्रम हो जाना भी संभव है। साधारण अँगरेज़ी जाननेवालेके साथ रोमन वर्णमालाका अभ्यास करनेवालेको बैठाकर यदि कोई 'आई सी ए बी' लिखनेको कहे तो पहला व्यक्ति इसे पूरा वाक्य समझकर इस प्रकार लिखेगा—I see a bee. (आइ सी ए बी अर्थात् मैं एक मधुमक्खी देखता हूँ), जब कि वर्णमालाका अभ्यासी केवल चार अक्षर I C A B (आइ, सी, ए, बी) ही लिख देगा।

अव्यवस्थाकी दृष्टिसे रोमनके आगे यूनानी वर्णमाला भी जौ भर कम नहीं है। हम बता चुके हैं कि उसमें 'अ' अथवा 'आ' उच्चरित होनेवाले वर्णका नाम 'अल्फ़ा' है। अक्षरका नाम 'बीटा' होते हुए भी उसका प्रयोग 'ब' के स्थानपर किया जाता है। 'इप्सिलोन' जैसा दीर्घ नामधारी वर्ण केवल 'ई' का बोधक है।

इन्हींसे मिलती-जुलती अवस्था अरबी और फ़ारसी वर्णमालाकी भी है। उसमें 'अलिफ़ बे पे' आदि तो अक्षरोंके नाम रहते हैं किन्तु उनका उच्चारण होता है 'अ ब प' आदि। अरबीकी एक निकृष्टता और भी है; वह है उसकी प्रतीक-रंकता। रोमन और यूनानी वर्णमालामें सभी ध्वनियोंके द्योतक अक्षर भले ही न हों, वर्णकी संज्ञा और उच्चारणमें भले ही आकाश-पातालका अन्तर हो, पर उनमें ध्वनि-निर्देशक प्रतीकोंका

अकाल नहीं है। अरबीके समान उनमें यह बात नहीं है कि एक ही आड़ी लकीरपर नीचे-ऊपर एक दो तीन बिन्दु लगाते चलें और उन्हें 'बे पे ते टे से' आदि पढ़ते चलें। उनमें 'ए' और 'बी', 'एक्स' और 'वाई', 'मू' और 'नू' तथा 'इयोटा' और 'कप्पा'के रूपों में पर्याप्त अन्तर रहता है। उन्हें चाहे जितनी क्षिप्रता और शीघ्रतासे लिखा जाय पर कभी 'गधी' और 'गढ़ी' में भ्रम होनेकी सम्भावना नहीं होती। किन्तु अरबीका बिन्दुप्रयोग तो ऐसा है जैसे दो जुड़वाँ बहनोंको उनके चिबुक और कपोलके तिल-द्वारा पहचाननेका प्रयत्न किया जाय!

नागरीमें अवाञ्छनीय परिवर्त्तन

नागरी लिपिकी सर्वोत्कृष्टता स्वयं-सिद्ध होनेपर भी नागरीभाषा और लिपिके मूल तत्त्वोंसे सर्वथा कोरे कुछ अहम्मानी लोग इसमें संशोधन करने की अनधिकार चेष्टा कर रहे हैं। इस सम्बन्धमें कुछ विद्वानोंने ऐसी-ऐसी उद्भट कल्पनाएँ की हैं कि उन्हें देख-सुनकर हँसी आती है। एक सज्जनने यह अभूतपूर्व आविष्कार किया कि नागरी लिपिमें **इ ई उ ऊ ए ऐ** व्यर्थ हैं, इनके बदले केवल **अ** पर विभिन्न मात्राएँ लगाकर **अि अी अु अू अे अै** लिखनेसे काम चल सकता है। वे संभवतः यह नहीं जानते कि लिखा हुआ अक्षर मुँहके किसी विशेष स्थानसे उच्चरित किसी एक विशेष ध्वनिका परिचायक प्रतीक है। उसमें जो मात्राएँ लगाई जाती हैं वे भी किसी स्वरध्वनिके योगकी मात्रा (परिमाण या वैल्यू) होती हैं। 'ि' मात्रा ह्रस्व 'इ' के परिमाण अर्थात् ध्वनियोगकी प्रतीक है। उसे यदि हम '**अि**' लिखें तो इसका अर्थ होगा कि हमने '**अ**' में '**इ**' का ध्वनियोग दिया है। ऐसा ध्वनियोग देनेसे '**अि = अइ**' हो जायगा, '**इ**' कभी नहीं होगा।

इन लोगोंने मात्राओंको ही अक्षर समझ लिया है। जैसे **आ** में जो 'ा' लगा हुआ है वह 'अ' की मात्रा है अर्थात् 'अ' नामक किसी विशेष स्थानकी वह ध्वनि है जो किसी दूसरे अक्षरके साथ सँयुक्त हो जाती है।

पर यहाँ अ के साथ अ जोड़ा गया है। वास्तवमें स्वरोंकी आवृत्ति बचानेके लिये आचार्योंने स्वरोंके दो रूप स्थिर किए : एक तो वे जो अपने मूल रूपमें प्रयुक्त होते हैं जैसे 'उत्तर, इधर, एक' में उ, इ और ए; दूसरे वे जो स्वरों या व्यंजनोंमें अपनी-अपनी ध्वनिमात्रा अर्थात् ध्वनिका परिमाण या ध्वनिकी शक्ति मिला देते हैं जैसे 'आकाश, ईश्वर, प्रीति, पुष्प, सूप, सेठ' आदिमें। यदि हम इन मात्राओंको मूल स्वर और मात्रा दोनों मान लें तो अ की ऊपर लिखी बारह खड़ीका उच्चारण या तो—

अ, आ, इअ, ईअ, उअ, ऊअ, एअ, ऐअ, ओ, औ, अं, अह् होगा या—अ, आ, अइ, अई, अउ, अऊ, अए, अऐ, ओ, औ, अं, अः।

प्रत्येक भाषाविद् जानता है कि इ ई का स्थान है तालु; उ ऊ का ओठ; ए ऐ का कंठतालु; ओ औ का कंठ और ओठ; अ का स्थान है कंठ; फिर भला कंठस्थानीय अ के साथ सबका गठबंधन कैसे हो सकता है। फिर यह भी ध्यान रखनेकी बात है कि ये मात्राएँ कितना स्थान और परिश्रम बचाती हैं—एक 'की' अक्षरमें क+इ+इ की ध्वनि है। यहाँ दो इयोंके बदले दो संयुक्त इ योंकी मात्रा क में मिला दी गई। लीजिए स्थान और परिश्रम बच गया। अँगरेज़ीमें इसे ही लिखना होता है तो (Kee) के ई ई तीन अक्षर लिखने पड़ते हैं। आश्चर्यकी बात है कि इतनी वैज्ञानिक व्यवस्थामें भी लोग मीन-मेख निकालकर उसे बिगाड़ना चाहते हैं। जैसे 'ा' मात्राका मूल रूप 'आ' है वैसे ही 'ि ी ु ू े ै' आदिसे भी पृथक् 'इ ई उ ऊ ए ऐ' मूल वर्ण होने ही चाहिएँ अन्यथा उसका मात्रा रूप निष्फल ही होगा। जब मूल वस्तु ही नहीं तो उसकी मात्रा कहाँसे आ गई, अतः इ उ ए का होना अनिवार्य है और क्योंकि इनके उच्चारण-स्थान भिन्न हैं। अतः इनकी रूप-भिन्नता भी आवश्यक और अपरिहार्य है।

ओ औ कैसे बने

प्रायः लोग कहा करते हैं कि जब अ, इ, उ, ए को सुरक्षित रक्खा जाता

है तो कंठ और ओठसे बोले जानेवाले ओ औ को क्यों अ से बनाते हैं। यह वास्तवमें विचारणीय प्रश्न है। ब्राह्मी लिपीमें ओ के लिये भी अलग यह चिह्न था— Z

किन्तु न जाने कैसे देवनागरीकी वर्त्तमान अवस्थामें आते-आते यह लुप्त हो गया। किन्तु देवनागरीकी बँगला लिपिमें अब भी इसके लिये भिन्न वर्ण ও है। अतः चाहिए तो यह कि हम देवनागरीकी

यह त्रुटि भी दूर कर लें।

इसी प्रकार कुछ लोग 'ङ ञ ष' को इसलिये छोड़ देना चाहते हैं कि हिन्दीमें ङ और ञ का प्रयोग तो होता ही नहीं, और 'ष' का भी 'श' के समान उच्चारण होता है। किन्तु प्रत्येक लिपिमें उन सब भाषाओंकी ध्वनियों के प्रतीक होने ही चाहिएँ जिनके लिये उसका प्रयोग होता है। नागरीका प्रयोग केवल हिन्दीके लिये ही तो होता नहीं है, संस्कृतके लिये भी होता है। अतः उसके अक्षरोंमें कमी करने या उनमें हेरफेर करनेका दुष्परिणाम यह होगा कि देवनागरी भी अनेक प्रकारकी हो जायगी।

कुछ लोग अब भी चिल्ला रहे हैं कि भारतकी राष्ट्रलिपि होनेकी क्षमता केवल रोमन लिपिमें ही है। ऐसे लोग यह भी क्यों नहीं कह डालते कि भारतकी राष्ट्रभाषा अँगरेज़ी ही हो सकती है। एक तीसरे महाशयने मुद्रण-सम्बन्धी कठिनाइयोंका उल्लेख करते हुए नागरी लिपिमें अवाञ्छनीय परिवर्त्तन करनेकी सम्मति दी है और अब तो अनेक मित्र नई-नई लिपियाँ लेकर अखाड़ेमें उतर पड़े हैं। पर देवनागरी अब अपना रूप स्थिर कर चुकी है, उसमें किसी सुधारकी आवश्यकता नहीं रह गई है। अभी उत्तरप्रदेशकी सरकारने देवनागरी लिपिमें बड़े भयंकर परिवर्त्तन करके उसे चला भी दिया है अतः उसपर शास्त्रीय दृष्टिसे विचार आवश्यक है।

देवनागरी लिपिका अंगभंग

उत्तर-प्रदेशके मुख्य सचिव (चीफ़ सेक्रेट्री) ने ३ मई १६५४ को समस्त मुद्रणालयों और मुद्राकारोंके व्यवस्थापकोंकी सेवामें लखनऊसे संख्या क (१) १३१० १५—१६४६, ५४ पत्र लिखा है—

विषय—देवनागरी-लिपि-सुधार-सम्मेलनके निर्णयोंको कार्यान्वित करना—

प्रिय महोदय,

देवनागरी लिपिके प्रतिमानीकरण (स्टैन्डर्डाइज़ेशन) तथा उसमें समयकी आवश्यकताओंको देखते हुए आवश्यक सुधारकी समस्या सन् १६४७ से ही शासनके विचाराधीन रही है। दिसम्बर सन् १६४७ में शासनने आचार्य नरेन्द्रदेवकी अध्यक्षतामें लिपि-सुधार-समितिका निर्माण किया। इस समितिने नागरी-प्रचारिणी-सभा, बनारस-द्वारा प्रस्तुत लिपि-सम्बन्धी सुझावोंकी छानबीन करनेके उपरान्त तथा इस समस्यासे सम्बद्ध देशके गण्यमान विद्वानोंसे विचार-विमर्श करके वर्त्तमान देवनागरी लिपिमें आवश्यकतानुसार परिवर्त्तन करनेकी अपनी आख्या सन् १६४६ में प्रस्तुत की। समितिकी आख्या पुनः सार्वजनिक विचार-बिमर्शके लिये देशके विभिन्न समाचार-पत्रोंमें प्रकाशित की गई। इस प्रकार शासनको जो सम्मतियाँ प्राप्त हुईं उनमें उक्त समितिकी सिफारिशोंका समर्थन था। पर यह विषय अखिल भारतीय महत्त्वका था और राट्रभाषासे इसका अभिन्न सम्बन्ध था, अतः पुनः विचार करनेपर यह निर्णय किया गया कि इसे व्यवहारमें लानेसे पूर्व प्रादेशिक मुख्य मन्त्रियों, केन्द्रिय सरकारके प्रतिनिधियों तथा भाषा-विशेषज्ञोंका एक सम्मेलन आमन्त्रित किया जाय, जो राष्ट्रीय दृष्टिसे इस पर गम्भीरतापूर्वक विचार करके सामूहिक निर्णय ले। नवम्बर २८ तथा २६, सन् १६५३ को राजभवन, लखनऊमें यह सम्मेलन आयोजित किया गया। सम्मेलनका उद्घाटन उत्तरप्रदेशके राज्यपाल

महोदय-द्वारा हुआ और भारतके उप-राष्ट्रपतिने अध्यक्षका आसन ग्रहण किया। इस सम्मेलन-द्वारा स्वीकृत प्रस्तावकी एक प्रति आपके सूचनार्थ एवं व्यवहारार्थ संलग्न है।'

२. 'इस सम्बन्धमें मुझे यह कहनेका आदेश हुआ है कि उक्त सम्मेलनने देवनागरी लिपिमें जिन संशोधनों तथा परिवर्त्तनोंको स्वीकार किया और जो निर्णय लिए उनको राज्य सरकारने स्वीकार कर लिया है और यह निर्णय किया है कि भविष्यमें समस्त सरकारी कागज़ों, पत्रव्यवहार और प्रकाशनमें इस नवीन **प्रतिमित** देवनागरी लिपि का ही प्रयोग किया जायगा। शिक्षा-विभागको भी आदेश दिए गए हैं कि समस्त हिन्दी पुस्तकोंका प्रकाशन इसी **संस्कृत** लिपिमें करें। नागरी अक्षरोंको ढालनेवालों तथा टाइपराइटर कम्पनियोंको भी यह सुझाव दिया गया है कि वे इन अक्षरोंको अपनावें। नागरी देशकी राजलिपि होनेके कारण अन्य प्रादेशिक सरकारों तथा केन्द्रीय सरकारको भी संबोधित किया गया है कि वे इस निर्णयके अनुसार शीघ्रातिशीघ्र अपने अपने क्षेत्रोंमें देवनागरीकी इस **प्रतिमित** लिपिको प्रयोगमें लाना प्रारम्भ कर दें।'

३. 'अतएव आपसे अनुरोध है कि आप भी सम्मेलनके इन सर्वमान्य निर्णयोंको स्वीकार करें और नागरीमें मैट्रिस काटने तथा नए टाइपको ढालने आदिकी जो भी आवश्यक कार्यवाही हो उसे शीघ्र करनेकी कृपा करें ताकि नागरी मुद्रणालयों एवं प्रकाशकाके कार्यमें कोई बाधा न पड़ने पावे और सरकारी तथा ग़ैर-सरकारी कार्यालयोंका कार्य प्रतिमित लिपिमें शीघ्र होने लग जाय। आप स्वयं इस बातसे सहमत होंगे कि यह जो अखिल भारतीय निश्चय हुआ है इससे आपको इन नए अक्षरोंकी खपतके लिये पर्याप्त सुविधा प्राप्त हो गई है और आपके सहयोगसे शासन तथा जन अभिकरणोंको इस उद्देश्यकी सफलतामें पर्याप्त सहायता मिलेगी। मुझे आशा है कि आपका पूर्ण सहयोग राज्य सरकारको प्राप्त होगा।'

देवनागरी लिपि-सुधार-सम्मेलन, लखनऊ

२८ व २६ नवम्बर, सन् १६५३ द्वारा स्वीकृत प्रस्ताव

(१) वर्तमान देवनागरी अक्षरोंके निम्नलिखित रूपोंको प्रमाणित रूप माना जाय—

अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ

ए ऐ ओ औ अं अः क

ख ग घ ङ च छ ज झ ञ

ट ठ ड ढ ण त थ द ध न

प फ ब भ म य र ल व श

ष स ह क्ष ज्ञ ळ

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ ०

(२) शिरोरेखाका प्रयोग प्रचलित रहे।

(३) (अ) ह्रस्व 'इ' की मात्रा को छोड़कर शेष मात्राओं के वर्त्तमान स्वरूप यथावत् रहें।

(ब) ह्रस्व 'इ' की मात्रा अक्षरके बाईं ओर न लिखकर दाहिनी ओर लिखी जाय।

(इ) ह्रस्व 'इ' की मात्रा वैसी ही होनी चाहिए जैसी दीर्घ 'ई' की है, अन्तर दोनोंमें यह रहेगा कि ह्रस्व 'ि' की मात्रा ऊपरसे नीचे आती हुई शिरोरेखा पार करते ही समाप्त हो जायगी जैसे—

ी (की)

(४) क. "फुलस्टाप" और कोलनको छोड़कर शेष विरामादि चिह्न वही ग्रहण कर लिए जायँ जो अँगरेजीमें प्रचलित हैं:—

- — , ; ! ?

ख. पूर्ण विरामके लिये खड़ी पाई (।) का प्रयोग किया जाय।

ग. जहाँतक संभव हो, टाइपराइटरके मुद्री-पटल (की-बोर्ड) में निम्नलिखित चिह्नोंको सम्मिलित कर लिया जाय—

. / : ˆ ^ % " " ( ) + × ÷ * = †

(५) संयुक्ताक्षर दो प्रकारसे बनाए जायँ—(१) जहाँ सम्भव हो, अक्षरके अन्तवाली खड़ी रेखाको हटाकर या (२) संयुक्त होनेवाले प्रथम अक्षरके अन्तमें हलन्त (्) लगाकर। क, फ और ह को यदि किसी अक्षरके आरम्भमें संयुक्त करना हो तो इसके लिये बिना हलन्तका प्रयोग किए, इस समय प्रचलित ढंग ही काममें लाया जाय।

(६) अनुस्वार और अनुनासिक में दो रूपों (ं ँ) मेंसे एक-को त्याग देनेका सुझाव स्वीकार न किया जाय।

यह भी निश्चय हुआ कि अंकोंके सम्बन्धमें परिवर्तनका जो प्रस्ताव है वह संविधानके उपबन्धोंके अधीन होगा।

इस सुधारके अनुसार

१. नागरीके **अ आ ओ औ अं अः** के बदले **अ आ ओ औ अं अः** का प्रयोग होगा।

२. नागरीके **झ ण क्ष** के बदले **झ ण क्ष** का प्रयोग होगा।

३. **प्रचलित ख छ ध भ के बदले नई बनावटके**

ख छ ध भ

का प्रयोग होगा।

अंकोंमें १ के बदले १ और ९ के बदले ९ का प्रयोग होगा। ह्रस्वकी मात्रा 'ि' हटाकर उसके बदले अक्षरके दाहिनी ओर 'ि' मात्रा थोड़ीसी लटककर लगेगी।

४. एक नया अक्षर वैदिक 'ळ' वर्णमालामें बढ़ा दिया गया।

५. त्र निकाल दिया गया। उसके बदले 'त्र' लिखा जायगा।

६. संयुक्ताक्षर लिखनेके ये नियम होंगे—

(क) समस्त सन्ध्यक्षरोंमें अन्तिम अक्षरके पूर्वके आधे अक्षर हलन्त करके लिखे जायँगे जैसे यदि '**अन्तर्द्वन्द्व**' लिखना हो तो लिखेंगे— '**अन्तर्द्वन्द्व**

या

(ख) **क च ज** को ऊपर नीचे (**क्क, च्च, ज्ज**) जोड़नेके बदले आधा करके जोड़ा जायगा—

जैसे **क्क, च्च, ज्ज, (पक्का, कच्चा, छज्जा)** [ऐसा अब भी लिखा और छापा जाता है। पहले '**पक्का, कच्चा, छज्जा**' लिखा और छापा जाता था। इनके अतिरिक्त ल्ल, न्न, संयुक्ताक्षर भी नीचे-ऊपर मिलाकर लिखे जाते थे और '**त्त**' विशेष प्रकारसे मिलकर बनता था। उनके सम्बन्धमें सुधारक मौन हैं।]

(ग) **ट ठ ड ढ द** को हलन्त करके ही जोड़ा जायगा जैसे **टट्टू, ठठ्ठा, गड्डी, ढढ्ढा, दद्दा**। [सुधारक लोग भूल गए कि हिन्दीमें एक भी शब्द ऐसा नहीं है जिसमें **ठ्** में **ठ** या **ढ्** में **ढ** जुड़ता हो। देखो **लट्ठा, गड्ढा**। **ठ ढ** जब द्वित्व होते हैं उनके पहले **ट् ड्** जुड़ते हैं, **ठ् ढ्** नहीं।]

(घ) यदि किसी व्यंजनसे पहले ह जोड़ा जायगा तो वह '**ह्**' हो जायगा जैसे '**ह्य**' के बदले '**ह्य**'।

(ङ) यदि किसी व्यंजनसे पहले **फ्** जुटेगा तो वह '**फ्**' हो जायगा (फ्फ) [हिन्दीके किसी अक्षरमें 'फ्' में 'फ' नहीं जुटता। जब फ द्वित्व होता है तो फ से पूर्व प जुटता है। 'पुष्फ=फूल']

७. अंगरेज़ीके फुलस्टाप (.) और कोलन (:) को छोड़कर शेष सभी अँगरेज़ीके विरामादि चिह्न ग्रहण किए जायँगे—

- — , ; ! ?

ज़बरदस्तका ठेंगा सिरपर

इधर यह पत्र समस्त मुद्रणालयों और मुद्राकारोंके व्यवस्थापकोंकी 'सेवामें' भेजा गया, उधर दूसरी ओर सरकारने तत्काल इस सुधरी (?) हुई लिपिमें 'बेसिक रीडर' लिखवा डाली, छपवा डाली और तथा-कथित **प्रतिमित** और **संस्कृत** लिपि सबपर लादकर इसीके द्वारा बच्चोंको शिक्षा देनेकी व्यवस्था भी कर डाली। उन्होंने इतना भी समय नहीं दिया अक्षरोंका नित्य व्यवहार करनेवाले मुद्रणालय-व्यवस्थापक, मुद्राकार तथा अध्यापक लोग इन नये लिपि-परिवर्त्तनोंकी व्यावहारिकता, शुद्धता आदिके सम्बन्धमें कुछ विचार-विमर्श तथा प्रयोग करके अपने सुझाव दें और अपनी व्यावहारिक कठिनाइयाँ उपस्थित कर सकें। चाहिए तो यह था कि एक पुस्तक उस लिपिमें छपवाकर अध्यापकों, लिपिशास्त्रियों, कलापण्डितों, मुद्रणालयवालों तथा मुद्राकारोंके पास भेजकर उनकी सम्मति लेते, उनकी कठिनाइयाँ सुनते, समझते, प्रयोग करते और तब उसे प्रचारित करते। किन्तु यह सब न करके उन्होंने अपने नादिरशाही लौहदंडसे लिपि चला ही दी।

समयकी आवश्यकता क्या थी ?

उपर्युक्त पत्रके प्रथम अनुच्छेदमें 'देवनागरी लिपिके प्रतिमानीकरण (स्टेन्डर्डाइज़ेशन)' तथा 'समयकी आवश्यकताओंको देखते हुए आवश्यक सुधार' की बात तो कही गई है किन्तु मुख्य सचिव महोदयने अपने उस पत्रमें न तो यही बतानेका कष्ट किया कि प्रचलित देवनागरी लिपि क्यों सर्वसिद्ध (स्टैंडर्ड) नहीं है और न यही बताया कि समयकी कौन-सी 'आवश्यकताओं' ने उसमें सुधार की क्या समस्या ला खड़ी की। देवनागरीके सर्वसिद्ध (स्टैंडर्ड) और सुसंस्कृत रूपके संबन्धमें अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलनके २८ वें काशी

अधिवेशनके स्वागताध्यक्ष महामना पंडित मदनमोहन मालवीयजीने स्वागताध्यक्ष पदसे अपने भाषणमें स्पष्ट चेतावनी दी थी कि— '**सुधारके नामपर देवनागरी लिपिका जो बिगाड़ किया जा रहा है उससे हम लोगोंको सावधान हो जाना चाहिए। कई सदियोंके निरन्तर कलात्मक विकासके पश्चात् नागरी अक्षरोंने एक सुन्दर रूप स्थिर कर लिया है और इस लिपिको सीखनेवाला बिना किसी बाधाके लिखने और पढ़ने लगता है। इससे अधिक लिपिकी श्रेष्ठताका और क्या प्रमाण हो सकता है? इसमें अनावश्यक परिवर्त्तन करनेसे यह लिपि कलकी वस्तु हो जायगी और हमारा सम्पूर्ण लिखा तथा छपा हुआ साहित्य अजायबघरकी सामग्री बन जायगा। अतः सभी प्रतिनिधियोंसे मेरा निवेदन है कि ऐसे परिवर्त्तनोंका विरोध करें जो हमारे सांस्कृतिक जीवनमें किसी प्रकारकी बाधा उपस्थित करें।**' ये वे ही मालवीयजी हैं जिन्होंने 'कोर्ट कैरेक्टर एंड देवनागरी स्क्रिप्ट' (कचहरीकी लिपि और देवनागरी लिपि) शीर्षक विद्वत्तापूर्ण लेखके द्वारा नागरी अक्षरोंकी सर्वश्रेष्ठता सिद्ध की थी। अतः उनके मतकी यों ही उपेक्षा नहीं की जा सकती। देवनागरी लिपि संसारकी सब लिपियोंमें इतनी पूर्ण, सरल और वैज्ञानिक है कि वह जैसी लिखी जाती है वैसी बाँची जाती है। फिर समयकी कौन-सी अचानक आवश्यकता आ पड़ी कि उसमें अत्यन्त अवाञ्छनीय परिवर्त्तन करने पड़े।

इस लिपि-कुठार-समितिने नागरी-प्रचारिणी सभा, बनारस-द्वारा प्रस्तुत लिपि-सम्बन्धी सुझावोंकी छान-बीन तो की किन्तु यह विचार करनेका कष्ट नहीं उठाया कि जिस नागरी प्रचारिणी सभाने पिछले साठ वर्षोंमें नागरी लिपि और हिन्दी साहित्यका निरन्तर भंडार भरा

वह लिपिपर इतना विचार-विमर्श करके भी अभीतक अपनी पहली ही लिपिपर क्यों डटी खड़ी है। क्या इसका यह अर्थ है कि नागरी प्रचारिणी सभामें विद्वानोंकी कमी थी और सरकारको सहसा ऐसे 'गण्यमान विद्वान्' सरलतासे प्राप्त हो गए जिन्होंने इतनी शीघ्रताके साथ लिपिमें परिवर्त्तन करनेका सुझाव भी दे डाला और लिपिमें आवश्यकतानुसार परिवर्तन करनेकी आख्या भी सन् १९४९ में दे डाली।

लिपि-सुधारका अधिकार

संसारके इतिहासमें यह कम आश्चर्यजनक घटना नहीं है कि लिपिका संशोधन करनेके लिये लिपि-शास्त्री, मुद्राकार, चित्रकार, कलाविद् और सौन्दर्यशास्त्रके पण्डितोंको न बुलाकर मुख्य मन्त्री, शिक्षामन्त्री, केन्द्रिय सरकारके प्रतिनिधि और भाषा-विशेषज्ञोंका जमघट जुटाया जाय। लिपिपर विचार करनेवाले इस असंगत समूहके सम्मेलनका परिणाम वही हुआ जो होना चाहिए था कि गणेश बनाते-बनाते इन लोगोंने बना डाला बन्दर। 'विनायकं प्रकुर्वाणः रचयामास वानरम्।' यदि मन्त्रियोंको सर्वज्ञ स्वीकार करके उन्हें लिपि-विशेषज्ञ भी मान लिया जाय तो मध्यप्रान्तके मुख्यमन्त्री श्री रविशंकर शुक्लने नागरी प्रचारिणी सभाकी हीरक-जयंतीके अवसरपर इस सुधारके सम्बन्धमें स्पष्ट कहा था कि 'प्रस्तावित ह्रस्व' "इ की मात्रा मैं ठीक नहीं समझता, अतः इसपर पुनः विचार करना चाहिए।" अर्थात् विचारशील मन्त्री भी इस सुधारके कुछ प्रस्तावोंको अशोभनीय, अप्रयोजनीय और अनुपयुक्त समझते हैं।

राष्ट्रीय दृष्टि

उपर्युक्त पत्रमें मुख्य सचिवने 'लिपिपर राष्ट्रीय दृष्टिसे विचार'की

बात तो कही किन्तु राष्ट्रीय दृष्टिका अर्थ स्पष्ट नहीं किया। यदि राष्ट्रीय दृष्टिका अर्थ यह है कि 'राष्ट्रभरकी अन्य लिपियोंमें जिस प्रकार मात्राएँ लगती हैं उसी प्रकार मात्राएँ लगाई जायँ और जिस रूपमें भारतकी अन्य लिपियोंके अधिकांश अक्षर लिखे जाते हैं उसी रूपमे अक्षर लिखे जायँ, तब भी 'लिपि-सुधार-सम्मेलन'के सुझाव संगत सिद्ध नहीं होते। भारतके उत्तरकी लिपि शारदा, टाकरी, गुरुमुखी, कैथी, बँगला, मैथिली और गुजराती लिपियोंमें तथा दक्षिणकी मराठी तेलुगु, कन्नड़ी, ग्रन्थ, मलयाली और तुलुमें भी छोटी 'इ' की मात्रा बाईं ओर ही लगती है। केवल उड़िया लिपिमें वह 'ि' मात्र इस प्रकार लगाई जाती है किन्तु उसमें शिरोरेखा न होनेके कारण ऊपर चढ़ाई हुई छतरी (मात्रा) का डंडा दाईं ओर कितना लटकता है यह स्पष्ट नहीं हो पाता। एक सोड़ी लिपि अवश्य ऐसी है जिसमें **'कि'** और **'की'** दोनोंमें 'इ ई' की मात्राएँ दाईं ओर एक ही रूपमें लगती है। तमिळमें 'ह्रस्व 'इ' की मात्रा दाईं ओर लटककर नीचे तक आ जाती है—

की

और दीर्घ ई की मात्रा अक्षरके ऊपर शिरोरेखापर ही घूमकर घुंडी बना लेती है।

कि

उसमें तो ह्रस्व और दीर्घका क्रम ही उलटा है। अतः राष्ट्रीय दृष्टिसे भी 'ि' का प्रयोग असंगत है।

यही बात **अ झ ण क्ष ख छ ध भ** अक्षरों तथा **१** और **६** अंकोंके सम्बन्धमें है। नीचेकी सरणी इसकी साक्षी है।

ऊपरकी तालिका देखनेसे प्रतीत होगा कि गुजराती, गुरुमुखी और नागरीका 'अ' एक-सा है अर्थात् सम्पूर्ण उत्तर भारतमें (गुजरात, राजस्थान, कश्मीर, पंजाब, उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश और बिहार तकके विशाल प्रदेशमें) एक ढंगसे 'अ झ, ण' लिखनेकी प्रणाली है केवल गुरमुखी ण की रचना 'ल' के समान होती है और गुजराती झ थोड़ा भिन्न है और उसका उच्चारण भी वत्स्र्य 'झ' के समकक्ष है। बँगलाके अक्षर भी नागरीसे ही अधिक मिलते हैं। अतः उन्हें बदलकर केवल एक लिपिमें प्रयुक्त होनेवाले अ झ ण क्ष अक्षर स्वीकार करना कहाँकी राष्ट्रीय दृष्टि है।

कलमकी लाग

उपर्युक्त उद्धरणोंमें दिए हुए अक्षरोंकी बनावट देखनेसे ज्ञात होगा कि अ ण झ घ भ ख सिखाना सरल है क्योंकि कलमकी लाग इनपर ठीक बैठती है।

अ ण झ घ भ ख

किन्तु **ख भ ध** में कलमकी लागसे **भ** तथा **ध**

की घुंडियाँ और ख के नीचे की टिकान तो बन ही नहीं सकती। उनके लिये कलमका कोना घुमाना पड़ेगा जिसके प्रयासमें बालक अवश्य ही कलमकी नोक तोड़ डालेंगे।

कलाकी दृष्टिसे

लिपिपर केवल कलाकी दृष्टिसे ही विचार करना चाहिए क्योंकि अक्षरोंका विकास आलेख्य कला (चित्र-कला) के सहयोगसे हुआ है। लिपिशास्त्रके आचार्योंका स्पष्ट मत है कि सब लिपियाँ पहले चित्र-लिपियाँ ही थीं जैसे मिस्रकी लिपि । प्रत्येक कलाकृतिमें अनुपात (प्रपोर्शन), सम-पक्षता (सीमेट्री) और विन्यास (डिस्प्ले) का विचार किया जाता है।

नेत्र-रञ्जकता

लिपिका पहला गुण है नेत्र-रञ्जकता । अक्षर सुन्दर होनेसे ही लिपिका कलात्मक रूप निखरता है। हमारी नागरी, शिरोरेखा-युक्त होनेके कारण स्वयं सुन्दर लिपि बन गई है। आवश्यकतानुसार अक्षर गोल-गोल और सीधी खड़ी पाई वाले होनेके कारण उसकी सुन्दरतामें चार चाँद लग गए हैं। रोमन लिपिको भ्रष्ट कर देनेवाले नुकीलेपनका दुर्गुण हमारी लिपिमें शिरो-रेखा होनेके कारण स्वयं नष्ट हो गया है।

तथाकथित संशोधित लिपिमें चार अक्षरोंके रूप भी बदले हैं। वे हैं—**ख छ ध भ**

'**ख**' अक्षर बदलनेकी सम्मति देते हुए लोग कहते हैं कि नागरी **ख** से '**रव**' का भ्रम होता है और '**खाना**' को '**रवाना**' पढ़ा जा सकता है। पहली बात तो यह है कि आजतक किसीने '**मैं खाना खा रहा हूँ**' को '**मैं रवाना रवा रहा हूँ**' नहीं पढ़ा। शब्दका सम्बन्ध अर्थसे भी तो होता है। अर्थ स्वयं इस प्रकारके दोषोंका निरन्तर विवेकपूर्ण निराकरण करता चलता है। पाठक स्वयं अर्थका अनर्थ देखकर उसका सुधार करते चलते हैं। एक वाक्य लीजिए—

'खदेरू खाटपर खड़ा खोआ खा रहा है।'

इसे कौन मूर्ख पढ़ेगा—

'रवदेरू रवाटपर रवड़ा रवोआ रवा रहा है।'

फिर वर्णमाला सीखते समय बालक **ख** अक्षर पहले सीखता है, **र** और **व** बहुत पीछे। अतः **ख** की पहचानमें उसे भ्रम हो ही नहीं सकता।

दूसरी बात यह है कि हमारी लिपि एक परम्परा-विशेषके अन्तर्भुक्त है जिससे उसकी परम्पराका नाता जोड़ा जा सकता है। उदाहरणके लिये **ख** को ही ले लीजिए। क्रमसे इसका रूप यों बदलता गया

= ख

ये रूप उस समयके हैं जब हमारी वर्णमाला रोमनके समान विश्लिष्ट अवस्थामें थी। इसे संश्लिष्टावस्थामें लानेका श्रेय सम्राट् हर्षवर्द्धनको है जिन्होंने सारी ब्राह्मी लिपिको कलात्मक बनाया। उन्होंने **ख** को भी शिरोरेखा देकर सुन्दर बनाया और उसे इस प्रकार लिखा—

ख

यही थोड़ा और विकसित होकर वर्तमान **ख** बन गया। यदि **'ख'** मे **'र'** और **'व'** की मिलावटका भ्रम होनेकी संभावना ही हो तो इसका रूप विना बिगाड़े हम इसके नीचे लटकनेवाली आड़ी और सीधी रेखाओंको जोड़कर इस प्रकार लिख सकते हैं—

इससे १. 'र व' का भ्रम भी मिट जायगा, २. 'ख' का अपना रूप अपनी परम्परामें भी बँधा रहेगा और ३. कलमकी लागसे ठीक लिखा भी जा सकेगा।

छ का नया रूप भी नागरीकी प्रकृतिसे भिन्न है। क्योंकि नागरी लिपिमें जहाँ कहीं भी नीचे झुकनेवाली आड़ी रेखा समाप्त होती है वह सदा दो रूपसे आती है—१. **इ त स र ह ज्ञ श** में ऊपरसे नीचेको ढलती हुई आती है; २. **छ** या **ए** के नीचेकी रेखाके समान जो हाथीकी सूँड़के अग्रभागके समान घूम जाती है। किन्तु यह नए छ की बीचमें ही लुप्त हो जानेवाली प्रवृत्ति नागरी लिपिके प्रतिकूल है। इसके अतिरिक्त जितने भी वर्तुल रेखावाले अक्षर हैं जैसे **इ ङ ट ठ ड ढ द ह** आदि, उन सबमें ऊपर शिरोरेखासे नीचे एक छोटी-सी खड़ी पाई आती है जिसमें ये आवर्त्त जोड़े जाते हैं, सीधे शिरोरेखासे नहीं। यह भी नागरीकी प्रकृतिसे भिन्न हैं।

ध और **भ** तो शुद्ध रूपसे देवनागरीकी प्रकृतिसे भिन्न हैं ही।

यह नहीं समझना चाहिए कि पहले घुंडी लगानेकी प्रथा नहीं थी। पृथ्वीसेन आदिके पाँचवींसे आठवीं शताब्दि तकके दानपत्रोंमें सब अक्षरोंके सिरे चौकोर करनेकी प्रवृत्ति थी और दसवीं शताब्दिमें चालुक्योंकी प्रवृत्ति सब अक्षरोंके सिरोंको तिकोना करके बाँधनेकी थी, जिसके कारण वे दोनों लिपियाँ क्रमशः चौकोर सिरेवाली (बौक्स हेडेड टाइप)

और कीलके सिरोंवाली (नेल-हेडेड टाइप) कहलाती थीं। किन्तु यह प्रवृत्ति उनमें समान रूपसे सब अक्षरोंमें होती थी—
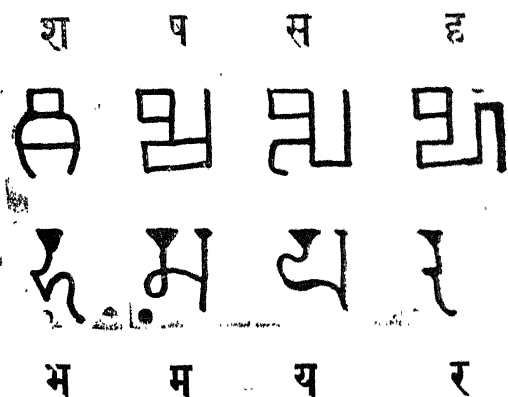
ऐसा नहीं था कि एक आध अक्षरमें घुंडी-लगा दी, दो चारमें चौकोर बना दिया और पाँच-सातको तिकोना बाँध दिया। अतः

ध भ में घुंडी लगानेकी विकृत प्रवृत्ति न तो कलाकी दृष्टिसे ठीक है, न परम्पराकी दृष्टिसे और न एक-रूपताकी दृष्टिसे।
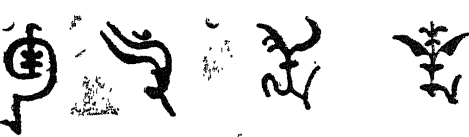
राष्ट्रिय दृष्टिसे भी भारतकी किसी लिपिमें यह घुंडी लगानेकी प्रथा नहीं है। गुजरातीका 'भ' भी दूसरे प्रकारसे लिखा जाता है जिसमें भ की बाईं रेखा बाईं ओर घूमकर झूल जाती है। शेष लिपियोंमें यह झंझट ही नहीं है। अतः यदि ध में घ का और भ में म का भ्रम होनेकी कल्पित संभावना है भी, और यदि उसे दूर करना ही लिपि-सुधारकोंको अभीष्ट है तो वे नागरी लिपिकी प्रकृति, कलात्मकता और सौन्दर्य सबकी रक्षा करते हुए उन्हें इस प्रकार लिख

सकते हैं कि ध और भ के बीचकी शिरोरेखाएँ पूरी खुली रह जायँ अर्थात् शिरोरेखाका जो भाग थोड़ा-थोड़ा खुला रहता है उसे अधिक खोल दिया जाय। **ध भ** का इससे अंतर भी हो जायगा और नागरीकी प्रकृति भी ठीक बनी रहेगी। देखिए—

ध भ

आजसे पूर्व भी भारतममे जब-जब लिपि संशोधन हुआ तब-तब कलाकी दृष्टिसे हुआ जैसे श्रीहर्षने अपने दानपत्रोंमे किया है। अक्षरोंको सुन्दर बनानेकी यह प्रथा गुप्तकालसे ही चली आ रही है। उन्होंने समरूपता, रेखाविन्यास और अनुपात सभी दृष्टियोंसे अक्षरोंको सुन्दर बनानेका प्रयत्न किया। नीचे उनका प्रयास देखिए—

श्री

इस दृष्टिसे यदि हम अपनी 'ि' मात्रा **कीसी (किसी)** शब्दमें देखें तो वह **'सी'** के आगे पूरी और **'की'** के आगे आधी लटकी हुई क्या किसी प्रकार भी कलासे मेल खाती है ?

अ के सम्बन्धमें लिपि-शास्त्रके आचार्य महामहोपाध्याय पण्डित गौरीशंकर हीराचन्द ओझाने कहा है—'अ' का 'अ' रूप (मराठी-वाला) बहुधा दक्षिणमें लिखा जाता है और सुन्दरता लानेका यत्न न करनेसे ही इसकी उत्पत्ति हुई है।

संयुक्ताक्षरकी विभीषिका

इस विकृत लिपिमें संयुक्ताक्षर बनानेकी प्रक्रिया सबसे अधिक भयंकर है। उनका प्रस्ताव है—

"संयुक्ताक्षर दो प्रकारसे बनाए जायँ— १. जहाँ संभव हो अक्षरके अंतवाली खड़ी रेखाको हटाकर, या २. संयुक्त होनेवाले प्रथम अक्षरके अंतमें हलन्त लगाकर। **क, ख** और **ह** यदि किसी अक्षरके आरंभमें संयुक्त करने हों तो इसके लिये बिना हलंतका प्रयोग किए इस समय प्रचलित ढंग ही काममें लाया जाय।

इसका अर्थ यह है कि उन्होंने तीन सिद्धान्त माने है—१. कहीं तो अक्षरके अंतवाली खड़ी रेखा हटाकर, २. कहीं अक्षरके अंतमें हलन्त लगाकर और ३. कहीं वर्त्तमान **ह** और **फ** का रूप ज्यों का त्यों रखकर। यद्यपि हिन्दीके किसी भी संयुक्ताक्षरमें **फ** का प्रयोग नहीं होता, फिर भी संभवतः अँगरेज़ीके फ्यूज़ और संस्कृतके 'स्फ्यः' आदि दो-चार इने-गिने शब्दोंके लिये कृपा करके उन्होंने इतना बड़ा विधान बना दिया है। इस विधानके अनुसार जो पुस्तकें बनी हैं वे सचमुच प्रदर्शनीमें ही

रखने-योग्य हैं—उनके अनुसार 'इन्द्रप्रकाश' भी हो जायगा 'इन्द्रप्रकाश', क्योंकि आधे पके साथ मिलकर र लिखनेमें 'प्र' निश्चित 'पू' हो जायगा। पूनाके हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनके अधिवेशनका यह प्रस्ताव इसीलिये अस्वीकृत हो गया था। यही बात त्र और श्र के संबन्धमें भी है। ये भी लिखे जानेपर तू और शू ही पढ़े जायँगे। अब नई लिपिमें आप 'अर्द्ध' को 'अर्द्ध', 'आर्ति'को 'आर्ती', 'सिद्धार्थ'को 'सीद्धार्थ' चातुर्यको 'चातुर्य,' 'जलार्द्र' को 'जलार्द्र' और 'दारिद्र्य'को 'दारीद्र्य' लिखेंगे। और मात्रा संयुक्ताक्षरोंके लिखनेके सम्बन्धमें हमारे यहाँ स्पष्ट सिद्धान्त था—

चतुर्दिग्योजनीया च मात्रा वर्णस्य संगतौ।
यस्माद्भ्रान्तिर्न भूयाच्च ह्रस्वदीर्घविवेचने॥
संयुक्तध्वनिवर्णो हि प्राक्स्पर्शाच्चैव ध्वन्यते।
धनुर्लिपिसमं कश्चिन्नकुर्याद् योगच्छेदनम्॥

[मात्राएँ वर्णके चारों ओर नीचे, ऊपर, दाएँ, बाएँ जोड़नी चाहिएँ, जिससे ह्रस्व-दीर्घके वाचनमें गड़बड़ी न हो। संयुक्त वर्णके पहले आनेवाली ध्वनि अगली ध्वनिसे मिलकर रहनेसे ही ठीक उच्चरित होती है। धनुर्लिपिके समान संयुक्ताक्षरोंके मिले रूपको तोड़ना नहीं चाहिए।]

व्यंजनाक्षरोंका संयोग

सयुक्ताक्षरमें पहले जुड़ी हुई व्यंजन ध्वनियाँ चार प्रकारसे ध्वनित होती हैं—

१. व्यक्त ध्वनि। जैसे खड्गमें ड् की ध्वनि।

२. स्पर्श ध्वनि: जैसे 'उन्होंने, कुम्हार, कोल्हू,के न्ह, म्ह, ल्हमें, आनेवाली न् म् ल् ध्वनियाँ।

३. लीन ध्वनि—जैसे 'गड्ढा, अद्धा, बग्घी, रक्खा, अच्छा' इनमें **ड् द् ग् क् और च्** ध्वनियाँ, जो उच्चरित नहीं होती। वे अपने आगे आनेवाली ध्वनियोँ में पूर्णतः लीन हो जाती हैं।

४. आघात ध्वनि—जैसे अद्वैत और 'सुप्रकाश' में 'द्' और 'प्', जो वास्तवमें अद्-द्वैत और सुप्-प्रकाश बोले जाते हैं।

हलका प्रयोग

इनमें से केवल प्रथम अर्थात् जहाँ संयुक्ताक्षरकी पहली ध्वनि व्यक्त हो वहाँके लिये तो हलंत लगाना ठीक हो सकता है, किन्तु अन्य सब परिस्थितियोँ में वह अत्यन्त अशुद्ध है, क्योँकि 'पर्य्यो' को हम 'पर्यो' या पर्‌यो नहीँ लिख सकते। हल कोई मात्रा नहीं है। वह तो विकल्पमेँ स्वरहीन उच्चारणका संकेत है और वह भी वैयाकरणोँके लिये। आरंभिक छात्र तो उसका कुछ अर्थ लगा ही नहीँ सकते और वे 'रामचन्द्र'को नई लिपिमेँ 'रामचन्द्‌र' लिखकर 'रामचन्दर' ही पढ़ेँगे।

हलका प्रयोग उर्दूके ज़ेर, ज़बर, पेशके समान स्वयं बड़ा भ्रामक है। जैसे उर्दूमें उनके प्रयोग धीरे धीरे मिट गए वैसे ही हलंत भी मिटकर गड़बड़ घोटाला खड़ा कर देगा। हलंतका प्रयोग हमारे यहाँ विकल्पमेँ और विशिष्ट स्थानोँमेँ किया जाता था। इसके लिये हमारे यहाँ स्पष्ट नियम था—

हलयोगः क्वचित्कार्यः शब्दसंयोगतत्त्वतः।
तद्वच्छन्दे तु शुद्धं स्यात्तद्धिते दुष्टयोजनम्॥

[हलका प्रयोग कहीँ-कहीँ शब्दोँके ठीक मेलके अनुसार करना चाहिए जैसे 'तद्वत्' शब्दको 'तद्‌वत्' लिखना तो ठीक हो सकता है

किन्तु 'तद्धित' को 'तद्धित' लिखना अत्यन्त दुष्ट अर्थात् अशुद्ध है।]
हम 'तद्वत्' लिखें तो कोई दोष नहीं है किन्तु 'अद्वैत'को 'अद्वैत' नहीं लिख सकते। हलका व्यापक प्रयोग होनेसे यह कठिनाई होगी कि 'निर्देश' भी 'नीर्देश' होकर 'नीरदेश' हो जायगा, विद्यार्थी बेचारा "वीद्यार्थी' हो जायगा, 'विद्यार्थी' नहीं रहेगा, 'पूर्ववत्' भी पूर्ववत्, 'सूर्योपासना' भी 'सूर्योपासना', 'उपद्रव' भी 'उपद्रव' हो जायगा जिससे अर्थ समझना कठिन हो जायगा और उच्चारणमें तो ऐसी भयंकर अराजकता आ जायगी कि 'सम्पूर्णानन्द' भी आगे चलकर 'संपू-रणानन्द' हो जायँगे। इस अलगावका यह प्रभाव होगा कि 'प्रार्थना' भी घिसकर 'प्रार्थना' हो जायगी, जिसका अर्थ होगा—प्र = विशेष, आर = पीतल, थ = पहाड़, ना = ज्ञान अर्थात् 'बड़ेसे पीतलके पहाड़का ज्ञान'।

जहाँ दो ही अक्षरोंकी सन्धि होगी वहाँ तक तो ठीक है किन्तु जहाँ अधिक अक्षरोंकी होगी वहाँ निश्चय ही पढ़ना कठिन हो जायगा जैसे—'शार्ङ्गरव' या 'अन्तर्द्वन्द्व'।

नागरीकी ध्वनि-प्रकृति

नागरीकी एक विचित्र ध्वनि-प्रकृति है कि किसी भी शब्दका अन्तिम अकारान्त व्यंजन या समस्त पदके विभिन्न पदोंके अकारान्त व्यंजन हलन्तके समान उच्चरित होते हैं जैसे कमल = कमल्; सोमलता = सोम्लता, मदभरा = मद्भरा, झटपट = झट्पट्। ऐसी स्थितिमें हलके अतिशय प्रयोग बड़ी समस्या खड़ी कर देंगे।

रकार

र के सम्बन्धमें एक पुराना वचन ही है—

शीर्षे पादे तनौ तिष्ठन्, रकारो रूपमृच्छति।
अर्के मेढ्रे च विप्रे च त्रिरूपेण स्थितः सदा॥

रेफो मूर्ध्निगतो शीर्षे तालुस्थो मध्यभावजः।
पादौ वर्त्सस्य भूमिस्थस्तद्वत्तद्योजनं मतम्॥

[र अक्षर अन्य व्यंजनोंके सिरपर, पैरोंतले और शरीरमें पैठकर तीन रूपोंमें रहता है। जैसे 'अर्क' शब्दके सिरपर, 'मेढ्र'के नीचे और 'विप्र'के बीचमें, क्योंकि मूर्धासे टकराकर बोला जानेवाला र वर्णके सिरपर चढ़ता है, तालुसे टकरानेवाला बीचमें लगता है और वर्त्स (मसूड़े) से बोला जानेवाला नीचे जोड़ा जाता है।]

किन्तु ब्रज, अवधी, मराठी आदि अनेक भाषाओंमें र का एक और भी स्पर्श प्रयोग होता है—'अजौं तर्‍यौना ही रह्यौ।' यह 'तर्‍यौना' यदि 'तर्यौना' लिखा जायगा तो अशुद्ध होकर 'तरयौना' हो जायगा। इसी प्रकार 'पर्‍योको' भी 'पर्यो' लिखना अशुद्ध होगा क्योंकि हिन्दीकी ध्वनि-योजनाके अनुसार 'पर्यो' और 'पर्‍यो'में कोई अन्तर नहीं।

लिपिशास्त्रके प्रसिद्ध विद्वान् पंडित गौरीशंकर हीराचन्द ओझाजीने नागरी लिपिके सम्बन्धमें कहा है—'पीछेके लेखकोंके हाथसे उसके अनेक रूपान्तर हुए जिनके मुख्य तीन कारण अनुमान किए जा सकते हैं—१. अक्षरको सुन्दर बनानेका यत्न करना; २. शीघ्रतासे तथा लेखनीको उठाए बिना अक्षर पूरा करना; और ३. अक्षरोंके सिर बनाना।' ऐसी स्थितिमें यह समझमें नहीं आता कि सुधार-समितिके सदस्योंने अ ण झ क्ष ख भ ध अक्षरों तथा १ और ६ अङ्कको असुन्दर बनानेका प्रयत्न क्यों किया?

आध्यात्मिक दृष्टिसे

वर्णनिघंटुमें लिखा है कि प्रत्येक समात्रिक वर्ण सांग दैवत होता है अर्थात् प्रत्येक वर्ण सब मात्राओंके साथ पूर्ण देव-रूप बन जाता है—

समात्रिको सरेफश्च वर्णस्तत्सानुनासिकः।
सानुस्वारविसर्गो हि पूर्णदैवत्वमृच्छति॥

[मात्रा, रेफ, अनुनासिक, अनुस्वार और विसर्गको साथ लेकर वर्ण पूर्ण देवता हो जाता है।] उसी प्रसंगमें 'ह' अक्षरके समात्रिक स्वरूपका वर्णन करते हुए कहा गया है कि 'ह' अक्षर शिवका पर्याय है। 'र' इच्छा (शिवकी शक्ति) का अर्थात् मूलाधार चक्रका, अतः ह्र बना। ह्रस्व इ और दीर्घ ई की मात्राके दोनों दंड 'ह' के भुजदंड हैं। ये ही शिवकी सृष्टि-शक्तिके कारण माने जाते हैं। इन मात्राओंके ऊपर उठाई हुई वर्तुल रेखा (सिर) ज्ञानशक्ति है। ए और ऐ की मात्राएँ क्रमशः नासिका और आँखें (प्राणायाम और ध्यान-शक्तियाँ) हैं। ओ की ऊपरकी मात्रा तीसरा नेत्र (संहार शक्ति) है और 'औ' की दोनों मात्राएँ कान (श्रुति) हैं। अनुनासिकका चन्द्रही द्वितीयाका चन्द्र है और बिन्दु गङ्गयुक्त जटा है। अनुस्वार मुख है और ऊँ ध्वनि (नाद ब्रह्म ॐ) का प्रतीक है। दोनों उ की मात्राएँ (ु ू) पद्मासनमें बँधे हुए दोनों पैर (आसन-शक्ति) हैं। इस प्रकार वर्ण-दैवतकी यह पूरी मूर्त्ति बन जाती है।

देखो चित्र १
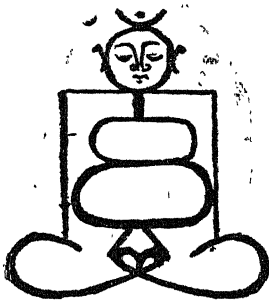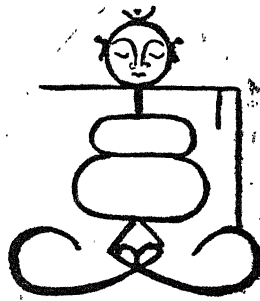
पूर्ण वर्णदैवत १ खंडित वर्णदैवत २

चित्रकलाकी दृष्टिसे तो अननुपात, असमपच्च, दुर्विन्यस्त मूर्त्ति विद्रूप होती ही है किन्तु धार्मिक दृष्टिसे भी खंडित मूर्त्तिका पूजन और प्रयोग निषिद्ध है। किन्तु लिपि-कुठार-सम्मेलनके बुतशिकनों (मूर्त्ति-भंजकों) ने वर्ण-दैवतकी मूर्त्ति ही भंग कर डाली। उनके अनुसार अब इस वर्ण-विग्रहका दाहिना हाथ कटकर, आधा टूटकर बाईं ओर ही लटक जायगा। कलाकी दृष्टिसे भी यह मूर्त्ति कितनी अभव्य बनेगी इसका प्रत्यत्त परिचय पानेके लिये देखिए ऊपर चित्र २।

टाइपराइटरकी दृष्टिसे

प्रारम्भमें जब लिपि-सुधारकी पुकार मचाई गई तब टंकणयन्त्र (टाइपराइटर) की सुविधाका प्रश्न उठाया गया और कहा गया कि अत्तर कम हों, स्थान अधिक न घेरें। फलतः 'अ' की बारह खड़ीमें 'अ इ उ' को अर्द्धचन्द्र मिला। किन्तु हल्के प्रयोगने तो समस्या घटानेके बदले बढ़ा ही दी है। टाइपराइटरमें आधे अत्तरोंके लिये तो पहलेसे ही व्यवस्था है। अब यदि सब हल् लगाकर संध्यत्तर बनाने पड़ेंगे तो उन्हें एक झटकेके बदले दो झटके लगाने पड़ेंगे, जिससे गति मन्द पड़ जायगी। वर्तमान नागरीका 'झ' बनाते समय 'भ'में '⁀' लगा देनेसे 'झ' बन जाता था। अब उसके लिये, एक नया अत्तर 'झ' जोड़ना पड़ेगा। पहले मात्रा लगानेके लिये 'मौन बटन' (स्टिल की) के कारण गतिमें कमी पड़ती थी पर 'ओलिम्पिया'वालोंने वह दोष दूर कर दिया है। सुधारके कारण अब नई ऋ बनेगी जो त्र में—तथा ट लगाकर बना ली जाती थी। ठ निरर्थक बढ़ गया ६ अंक भी जो ८ में ° लगानेसे

बन जाता था उसके लिये नया चिह्न ৎ जोड़ दिया गया। बहुतसे विराम-चिह्न ले लिए गए। अब इनके कारण अक्षरोंकी संख्या ११३ हो गई है। यद्यपि टाइपराइटरके दोनों झटकोंमें ८८ से अधिक अक्षर नहीं आ सकते। दूसरा प्रश्न यह है कि जब सुधारकोंने र को हलन्त करके लिखनेका विधान किया तब मुद्री-पटलमें ˆ और ˄ चिह्न क्यों लिए। 'ˆ' चिह्न तो 'ई' में लगनेके लिये मान भी लिया जाय पर '˄' की क्या आवश्यकता थी।

मुद्रणकी दृष्टिसे

मुद्रणकी दृष्टिसे तो ये नए संशोधन अत्यन्त अव्यवहार्य हैं क्योंकि इनमें तीन दोष हैं—१. संध्यक्षर अधिक स्थान घेरेंगे। २. हल् लगानेमें समय अधिक लगेगा और वह टूट जायगा। ३. नये अक्षर नागरीकी प्रकृतिसे अलग होनेके कारण असुन्दर लगेंगे। एक उदाहरण लीजिए—

'अन्तर्द्वन्द्व' शब्द नई प्रणालीसे यों लिखा जायगा—

'अन्‌तर्‌द्‌वन्‌द्‌व' या अधिकसे अधिक **अन्तर्‌द्‌वन्द्‌व**। अब इन दोनोंको देखनेसे ही मुद्रणकी असुविधा स्पष्ट हो जाती है। मुद्रण-कला, अक्षर-समरूपता तथा अनुपातकी दृष्टिसे ह्रस्व इ की मात्रा 'ि' स्वतः असंगत प्रतीत होती है। जहाँ अन्य सब मात्राएँ अक्षरके नीचे-तक पहुँचती हैं वहाँ यह बीचमें त्रिशंकुके समान लटकी हुई कितनी अशोभन प्रतीत होती है—ख भ ध छ भी अपनी विचित्र बनावटके कारण नागरी अक्षरोंके मेलमें नहीं बैठते। **शिक्षा विभाग उत्तर प्रदेश** द्वारा प्रकाशित **बेसिक रीडर** का एक पाठ लीजिए—

विद्या की गाय

(बिना पाई वाले अक्षरों का मेल)

क+ख=क्ख   ह+म=ह्म   फ+त=फ्त

यह गाय है। यह विद्या की गाय है। विद्या ब्राह्मण की लड़की है। विद्या अपनी गाय को बहुत प्यार करती है।

विद्या की गाय के दो सींग हैं। इसके चार थन हैं। यह दूध देती है। विद्या की मा दूध से मक्खन निकालती है। दूध से दही बनता है। दही बिलोकर घी निकाला जाता है।

विद्या की गाय बछड़े देती है। ये बछड़े ही बड़े होकर बैल बन जाते हैं। ये बैल ही बैलगाड़ी खींचते हैं। इन्हीं से खेत जोते जाते हैं।

गाय से हमें गोबर मुफ्त मिल जाता है। गोबर की खाद बनती है। गाय से हमें बहुत लाभ हैं। हमें गाय की अच्छी तरह सेवा करनी चाहिये।

इसमें सब नये अक्षर ऐसे अलग लगते हैं जैसे अंगूरों में कंकड़। यदि नागरी अक्षरोंकी प्रकृतिके अनुसार ही सुधारना था तो 'ख' के नीचेकी आड़ी पाई खड़ी पाईसे मिलाकर और भ ध का मुँह खोलकर

यों बना सकते थे— **ख भ ध**

यदि इस लिपिमें कहीं कोई संस्कृतका या संस्कृतनिष्ठ हिन्दीका ग्रन्थ छापा जाय तब तो छापनेवालोंका दीवाला निकल जाय क्योंकि

वह निश्चित रूपसे अधिक स्थान घेरेगा।

इतना अधिक स्थान घेरनेका अर्थ यह है कि राष्ट्रपर प्रतिदिन कई लाख रुपयेका अनावश्यक व्यय बढ़ जायग। और पुस्तक मोल लेनेवालों पर अनावश्यक भार पड़ेगा। इस प्रकारका अनर्थकारी (अन-इकोनौमिकल) प्रस्ताव उपस्थित करनेवाले लोगोंको राष्ट्रका शत्रु समझना चाहिए या मित्र?

कहाँ तो यह माना जाता था कि 'एकमात्रालाघवेन पुत्रोत्सवम्मन्यते वैय्याकरणाः' [एक मात्रा कम करके लिखा जा सके तो वैयाकरण लोग पुत्रोत्सव समझते हैं।], कहाँ 'अति मात्राप्रसारेण परिणयोत्सवम्मन्यन्ते लिपि-सुधारकाः। [लिपिमें अत्यन्त प्रसार करके लिपि-सुधारकोंको ऐसा हर्ष हो रहा है मानो उनका विवाह हुआ हो।]

वर्ण-संस्कार-प्रदीपिकामें सन्ध्यक्षरको एक रूपमें प्रस्तुत करनेका कारण स्पष्ट लिखा है—

यथैकमात्रालोपेन हृष्टो भवति शब्दवित्।
तथैवाक्षरसंयोगाद् हृष्टो भवति लेखकः॥

[जैसे एक मात्रा कम हो जानेसे वैय्याकरण प्रसन्न होता है उसी प्रकार अक्षरोंको मिलाकर लिखनेसे लेखक प्रसन्न हो जाता है।]

वैज्ञानिक दृष्टिसे

कुछ लोगोंने कहा है कि ये परिवर्तन वैज्ञानिक दृष्टिसे किए गए हैं और उन्होंने संभवतः रोमन लिपिको वैज्ञानिक मान भी लिया है क्योंकि उसमें व्यंजनके पश्चात् ही सभी स्वर लगते हैं। किन्तु यह उनकी वैज्ञानिकता नहीं, बड़ा भारी दोष है। हमारे यहाँ तो स्वरसे युक्त होकर ही व्यंजन पूर्ण होता है। अतः उस पूर्णको खंड कर देनेमें क्या सिद्धान्त है। उनके यहाँ अंतिम अक्षरमें प्रायः स्वर लगता ही नहीं जैसे

'रोमन' (Roman) शब्दको ही लीजिए। अन्य भी उनके जितने व्यंजनांत शब्द हैं उनमें कहीं भी वे स्वर नहीं लगाते। अतः वे तो स्वयं अवैज्ञानिक हैं कि वे कहीं तो स्वर लगाते हैं, कहीं नहीं लगाते। यदि यह सिद्धान्त मानकर चला भी जाय तो हमें प्रत्येक व्यञ्जनमें 'अ' की मात्रा भी लगाते चलना चाहिए। यदि हमें महामना मदनमोहन मालवीय लिखना होगा तो वैज्ञानिक रोमनके क्रमानुसार (Mahamana Madana Mohana Malaviya) 'म्अद्अन्अ मोह्अन्अ माल्अवीय्अ' लिखना चाहिए। यदि आगे मात्रा लगाना ही वैज्ञानिकता है तो ए ऐ उ ऊ की मात्रा भी क्यों नहीं आगे लगा दी गई। किन्तु कठिनाई यह हो गई है कि उन्होंने द का संयोग करनेके लिये द के नीचे हल् लगना स्वीकार कर लिया है। अब यदि उन्हें 'द्विवचन' लिखना होगा तो वे लिखेंगे 'द्वि्वचन' जो आगे चलकर 'द्वीवचन' हो जायगा। उनके सम्मुख स्वभावतः यह कठिनाई उपस्थित हुई होगी कि ह्रस्व 'इ' की मात्रा बाईं ओर लगानेका नियम बनाया जाय तो द्व अक्षरमें 'इ' की मात्रा द् से पहले लगाई जाय या 'व' से पहले। जब उन्हें कोई उपाय न सूझा तो उन्होंने यही निर्णय किया कि इसे आगे पूँछ काटकर लटका दिया जाय।

वैज्ञानिक लिपिमें लिपिशास्त्रियोंने निम्नलिखित गुण बताए हैं—

१. लिपि कलात्मक हो, देखनेमें सुन्दर हो अर्थात् उससे आँखोंको कष्ट न हो, सुख मिले, अर्थात् अक्षरोंके रूप, उनके अंगोंका अनुपात और उनकी रेखाओंका पतलापन या मोटापन यथाक्रम हो।

२. जिस भाषाके लिये उस लिपिका प्रयोग हो उसकी सब भाषा-प्रयुक्त ध्वनियोंके प्रतीक उसमें आ जायँ।

३. जो लिखा जाय, वही पढ़ा भी जाय।

४. एक ध्वनिके लिये निरन्तर एक चिह्न हो। फ़ारसीके समान यह न हो कि केवल स ध्वनिके लिये कहीं 'सीन', कहीं 'स्वाद', कहीं 'से' नामके तीन-तीन अक्षर लेकर 'सरगम' में 'सीन' 'सन्दूक़' में 'स्वाद' और 'असर' में 'से' का प्रयोग हो।

५. एक चिह्नसे एक ही ध्वनिका बोध हो। ऐसा न हो कि अँगरेज़ीके समान एक ए (A) से 'अ, आ, ए, ऐ, ओ' सबका काम ले लिया जाय।

६. लिखते समय प्रत्येक शब्दके अक्षर मिलकर अलग-अलग शब्द-रूप धारण कर लें; अँगरेज़ीके समान केवल अक्षरोंके समूहमात्र न बने रह जायँ। शिरोरेखाके कारण मिलकर 'परमेश्वर' एक पूर्ण शब्द-रूप बन जाता है। इसे अलग-अलग 'प र मे श् व र' या 'प् अ र् अ म् ए श् व अ र् अ' (Parameshwara) न लिखा जाय।

७. गतिपूर्वक लिखा जा सके।

८. अक्षरोंके लिखित और मुद्रित रूपोंमे भ्रम न हो जैसे 'त्र' मे 'तू' का, 'श्र' में 'शू' का और 'प्र' में 'पू' का भ्रम हो गया है। इस प्रकार त्र, प्र, और श्र लिखकर देनेसे कम्पोज़िटरोंमें भी बड़ा भ्रम होता है जैसा इसी अनुच्छेदके छापनेमें हुआ है।

उपर्युक्त कसौटीपर कसकर देखनेसे प्रकट हो जायगा कि नागरी लिपि निर्दोष, सर्वगुण-सम्पन्न और भारतकी ही नहीं वरन् सारे संसारकी एकमात्र लिपि होनेके योग्य है। इसमें किसी प्रकारका संशोधन, परिवर्त्तन या परिवर्द्धन होनेसे यह लिपि न रहकर लीपी हुई वस्तु रह जायगी।

ध्वनि-प्रतीकोंकी पूर्णता

नागरी लिपिमें नागरी भाषाकी ध्वनियाँ ही नहीं वरन् सारे सभ्य संसारकी ध्वनियाँ स्पष्टतापूर्वक अंकित की जा सकती हैं। रोमन लिपि यह काम कभी नहीं कर सकती। ऋ, ङ, ञ, ण, त, थ, द, ध, ष, ज्ञ, त्र, ढ़, ड़, ळ आदि ध्वनियोंके स्पष्टीकरणका कोई उपाय रोमन लिपिमें नहीं है।

लेखनमें तीव्र गति

रोमन लिपिके पक्षमें एक विशेष तर्क यह दिया जाता है कि वह उर्दूके समान बहुत शीघ्रतासे लिखी जा सकती है। किन्तु यह तर्क भी निःसार है। शीघ्रतासे लिखा जाना ही किसी लिपिका गुण नहीं हो सकता। लिपिकी विशेषता यह है कि वह गतिसे लिखी जानेके साथ-साथ शुद्ध भी पढ़ी जानी चाहिए। ध्वनिपूर्णताके सम्बन्धमें हम फ़ारसी लिपिकी अक्षमता दिखा चुके हैं। अब रोमनकी दुर्बलता देखिए। मान लीजिए हमें '**असर**' लिखना है। रोमनमें इसे लिखेंगे—'Asar', जिसे हम '**असर, आसार, आसर, असार**' सब कुछ पढ़ सकते हैं। '**असर**' (प्रभाव) और '**आसार**' (लक्षण) में भूत-भविष्यका भेद है। '**आसर**' और '**असार**' में एक पूरबको जाता है तो दूसरा पच्छिमको।

जो लिखो वही पढ़ो

देवनागरी लिपिकी सबसे बड़ी विशेषता यही है कि उसमें जो लिखा जाता है वही पढ़ा भी जाता है।

ध्वनि और प्रतीककी एकता

नागरीमें एक ध्वनिके लिये एक ही चिह्नका प्रयोग होता है तथा एक चिह्नसे एक ही ध्वनिका बोध होता है। अतः इस दृष्टिसे भी नागरीसे कोई लिपि स्पर्द्धा नहीं कर सकती।

शब्दकी एकरूपता

नागरी लिपिमें अक्षर अलग-अलग भी रहते हैं और शिरोरेखाके कारण शब्दमें एकरूपता भी आ जाती है। यदि शिरोरेखा न लगाई जाती तो अलग अक्षर रहनेसे उन्हें पढ़नेमें आँखोंको बड़ा परिश्रम करना पड़ता। शब्दकी एकरूपता रहनेसे केवल आदि और अन्तके अक्षरों पर दृष्टि पड़ते ही पूरे शब्दका बोध हो जाता है। यदि भिन्न-भिन्न रङ्गोंकी पचास चिड़िएँ अलग-अलग बैठी हों तो एकाएक उनकी संख्या और रङ्गका अनुमान करना कठिन हो जायगा परन्तु यदि पचास हाथ लम्बा और रंग-बिरंगा अजगर आ जाय तो वह तुरन्त आँखकी पकड़में आ जायगा। इसका कारण यह है कि आँखको जितने कम रूप देखने पड़ते हैं उतना ही कम उसे कष्ट होता है। अक्षर मिलाकर लिखनेसे वे आँखोंको सुन्दर लगते हैं। इसपर यह आपत्ति हो सकती है कि अक्षरका भला-बुरा लगना अभ्यासपर निर्भर है। परन्तु रोमनके लिखित और टाइपवाले अक्षरोंके तुलनात्मक मननसे यह आपत्ति मिट जायगी। रोमन टाइपमें प्रत्येक अक्षरका रूप अलग-अलग रहता है और आँखोंमें भालेके समान चुभता है। यह दूसरी बात है कि सतत अभ्यासके कारण हम इसका अनुभव न करें किन्तु हमारे युवकोंकी आँखोंपर पड़े हुए चश्मे इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं। इसी दोषके कारण वे लिखते समय उन अक्षरोंको मिलाकर शाब्दिक एकरूपता लानेकी चेष्टा करते हैं।

व्यावहारिक दृष्टिसे

सबसे बड़ी कठिनाई तो व्यावहारिक है। चाहे हम कोई भी नई लिपि चलावें या उसमें सुधार करें किन्तु जो आजतकका छपा हुआ साहित्य है उसे हम फेंक नहीं देंगे और जितने विवेकशील बुद्धिमान् विद्वान् लोग होंगे वे केवल सरकारके कहने मात्रसे कोई अशुद्ध प्रणाली ग्रहण नहीं करेंगे। अतः उनके ग्रन्थ लोगोंको पढ़ने पड़ेंगे ही। राष्ट्रभाषा प्रचार-समिति, वर्धाने 'अ' की बारह खड़ीमेंसे इ, उ, ए निकाल दिए और उसके बदले अि, अी, अु, अू, अे, अै का प्रचलन किया और क्ष के बदले क्ष चलाया किन्तु उन्हें भी झख मारकर इन नये अक्षरोंके साथ-साथ देवनागरीके अक्षर सीखने ही पड़ते हैं। अतः, पढ़नेवालोंकी समस्या घटानेके बदले ये सब सुधार उनकी समस्या बढ़ा ही रहे हैं और उनके सिरपर अनेक नये अक्षर सीखनेका भार लाद ही रहे हैं। भारतके विभिन्न प्रदेशोंमें और भारतके बाहर अन्य देशोंमें जहाँ नागरी लिपि चल रही है वे तो पहली लिपि चलाते ही रहेंगे। अतः, वहाँके पढ़े-लिखे लोग जब इस नई सुधरी हुई लिपिके प्रदेशमें आवेंगे तब क्या पहली लिपिको अशुद्ध कह दिया जायगा और उनका जो लिखा हुआ होगा वह क्या अशुद्ध माना जायगा ? जो लोग अपने बच्चोंको घरपर वर्णमाला पढ़ाकर भेजेंगे, उनके बच्चोंके लिये तो यही कठिनाई उत्पन्न हो जायगी कि वे पिताको प्रमाण मानें या अध्यापकको। इससे देशमें बड़ी भारी अराजकता उत्पन्न हो जायगी। अतः व्यावहारिक दृष्टिसे भी यह परिवर्त्तन ठीक नहीं है।

संविधानकी दृष्टिसे

यदि हम संविधानकी दृष्टिसे भी विचार करें तो प्रतीत होगा कि यह प्रयास अत्यन्त अवैधानिक है क्योंकि संविधानने जो भाषा और लिपि स्वीकार की है उससे यह पूर्णतः भिन्न है। स्वयं मुख्य सचिवने पत्रमें लिखा है कि अंकका रूप संविधानके उपबन्धके अधीन होगा। क्या इसका अर्थ है कि अक्षरका रूप संविधानसे भिन्न होगा?

चाहिए तो यह था कि नागरी लिपिको सुन्दर बनानेका प्रयास किया जाता, उसके अक्षर-विन्यासका अनुपात ठीक किया जाता। **एक्का, ओसारा** आदि शब्दोंमें आनेवाले ह्रस्व **ए** और **ओ** के लिये कुछ व्यवस्था होती, '**तुम्हारा, उन्होंने, कोल्हू**' आदिमें आनेवाले' **म्ह न्ह ल्ह**'के लिये कोई स्पर्श चिह्न बनता। पर यह सब कुछ न हुआ। बनी बनाई खीरमें चीनीके बदले नमक छोड़कर सब गुड़गोबर कर दिया गया। अब यह किस भलेमानुसके गले उतरेगी—

परिणाम

अतः ये तथाकथित सुधार—

१. परम्परासे बाहर हैं।

२. नागरी अक्षरोंकी प्रकृतिसे भिन्न हैं।

३. टाइपराइटरकी दृष्टिसे अत्यन्त अव्यवहार्य और असुविधाजनक हैं।

४. असुंदर तथा कलाहीन हैं।

५. अधिक स्थान घेरते हैं, अतः अनार्थिक हैं।

६. मुद्रणमें असुविधा उत्पन्न करते हैं।

७. उच्चारण भ्रष्ट करनेवाले हैं।

८. व्यावहारिक दृष्टिसे असंगत हैं।

९. अवैज्ञानिक हैं।

१०. अनावश्यक हैं।

११. अराष्ट्रिय हैं।

१२. शिक्षणमें असुविधा उत्पन्न करते हैं।

१३. भारतीय संविधानके विरुद्ध हैं।

६

अक्षर-रचना

लिखावट

किसी सूक्तिकारने कहा है—

लिपिः प्रशस्ता सुमनो लतेव केषां न चेतांसि मुदा बिभर्त्ति—

[फूलोंवाली लताके समान सुन्दर लिपि किसको मोहित नहीं करती।] अतः शिक्षा-शास्त्रियोंने शुद्ध लिखावटके लिये चार आवश्यकताएँ निर्धारित की हैं—

१. बैठनेका ठीक ढंग (पौश्चर)।

२. कलम पकड़नेका ठीक ढंग (राइट होल्डिंग ऑफ़ दि पेन्)।

३. अक्षरोंका ललित विन्यास (फ़ाइन डिस्प्ले ऑफ़ लेटर्स)।

४. अक्षरोंका सुडौलपन (राइट फ़ौर्मेशन ऑफ़ लेटर्स)।

बैठनेका ठीक ढंग

विद्यार्थीको इस प्रकार कमर सीधी करके बैठना चाहिए कि रीढ़की हड्डी अत्यन्त सीधी रहे, झुके नहीं। पुरानी प्रथाके अनुसार बायाँ घुटना टेककर दायाँ घुटना खड़ा करके उसपर पटरी या कापी रखकर लिखनेकी प्रणाली अबतक ग्रामीण विद्यालयोंमें प्रचलित है। इस मुद्रामें रीढ़की हड्डीको झुकनेका अवसर ही नहीं मिलता और विद्यार्थीकी आँखें भी पटरी या कापीसे कमसे कम एक फ़ुट दूरीपर रहती हैं। यदि आगे ढलवाँ चौकी रखकर भी बैठना हो तो यह ध्यान रहे कि रीढ़ की हड्डी सीधी रहे और आँखें पुस्तिकासे एक फ़ुट दूरीपर हों।

कलम पकड़नेका ढंग

नरकट (नरकुल) की लेखनीसे लिखते समय उसे उसकी जीभसे कुछ ऊपर अपने अँगूठे और मध्यमासे ऐसे पकड़ो कि तर्जनी ऊपर टिक

जाय। साथ ही ४५° पर कटी हुई लेखनीकी जीभ इस प्रकार पटरी या कागज़पर बैठाकर चलाई जाय कि अक्षर विरूप न होकर ऐसे लिखे जायँ—

पंडित मदनमोहन मालवीय

अक्षरोंका ललित विन्यास

अक्षरोंके ललित विन्यासमे तात्पर्य यह है शब्दोंका रूप आँखोंको अच्छा लगे, उनके दर्शन मात्रसे उन्हें पढ़नेको जी ललच उठे। परीक्षामें प्रायः सुन्दर अक्षर, परीक्षकको मंत्र-मुग्ध करके उसके हाथसे अंक लूट ले जाते हैं। अतः लिखे हुए प्रत्येक अक्षरकी बनावट शुद्ध और सुन्दर होनी ही चाहिए। 'उ' का निम्नलिखित रूप कलमकी लाग ठीक न होनेके कारण लालित्यकी दृष्टिसे विरूप ही होगा—

उ

किन्तु 'उ' को ही यदि कलमकी लागके बिना केवल एक सी मोटाई या पतलेपनके साथ सुन्दर ढंससे लिखें तो वह ऊपर लिखे हुए बेढंगे 'उ' की अपेक्षा कहीं अधिक नेत्ररञ्जक होगा।

सुडौलपन

अक्षरोंके सुडौल होनेका तात्पर्य यह है कि अक्षरका प्रत्येक अंग सानुपात हो, कोई अंग छोटा-कोई बड़ा, कोई विकृत न हो। 'अ' का शुद्ध सुडौल रूप यह है—

अ

यदि हम विभिन्न अंगोंके अनुपातका ध्यान न रखकर इसीको यों लिखें—

तो कितना बेढंगा जान पड़ेगा।

आकार और गति

अक्षरोंके आकार तथा उनकी लेखन-गतिके सम्बन्धमें विशेषज्ञोंका कथन है कि अक्षर बड़े-बड़े और सुस्पष्ट हों, उनमें आकार-साम्य हो अर्थात् कोई अक्षर बड़ा और कोई छोटा न हो, ये अक्षर सीधे खड़े लिखे जायँ, टेढ़े-मेढ़े न होने पावें अर्थात्—

क (सीधा रूप) हो किन्तु क (टेढ़ा रूप) न हो

और अक्षर शीघ्र लिखे जायँ। ऐसा न हो कि एक-एक अक्षर गढ़नेमें घड़ी-घड़ी भर लग जाय।

लेखन-कुशलताके उपाय : अनुलिपि

उक्त ढंगसे लिखनेमें कुशलता पानेके लिये तीन उपाय बताए गए हैं जिन्हें अनुलिपि प्रतिलिपि और श्रुतलिपि (श्रुतलेख या अनुलेखन) कहते हैं। अनुलिपिके लिये हाटमें विशेष सुलेख-लिपि-पुस्तकें बिकती हैं जिनमें सुन्दर, सुडौल और बड़े-बड़े अक्षर छपे रहते हैं और नीचे इतना स्थान छोड़ दिया जाता है कि विद्यार्थी उन्हें देख-देखकर सुन्दर लिपिका अभ्यास कर सके। इस प्रकार अनुलिपिका अभ्यास करनेसे अक्षरोंमें सुडौलपन और एकरूपता आती है। जैसे—

भारतवर्ष सर्वश्रेष्ठ देश है।

प्रतिलिपि

अभ्यास-पुस्तिकापर किसी पुस्तक, समाचार-पत्र या लेखका छपा या लिखा हुआ अंश देखकर उसे लिपि-बद्ध करना प्रतिलिपि कहलाता है। प्रतिलिपिके अभ्याससे भाषामें शुद्धता आती है तथा शब्द-भाण्डार बढ़ता है।

श्रुतलिपि

तीसरा अभ्यास श्रुतलिपि (अनुलेखन या श्रुतलेख) का है। श्रुतलिपि या अनुलेखनमें एक व्यक्ति बोलता जाता है, अभ्यासार्थी उसे लिखता जाता है। इस अभ्यास-द्वारा लिखनेमें क्षिप्रता आती है, विद्यार्थीको शीघ्रतापूर्वक सुनकर लिखनेका अभ्यास होता है और सुनकर समझनेकी शक्ति बढ़ती है।

लालित्य

ये ही बातें लिखावटके लालित्यके लिये भी आवश्यक हैं किन्तु लिपिको ललित बनानेके लिये तीन बातें और भी ध्यानमें रखनी चाहिएँ—

१. कागजके चारों ओर, नीचे-ऊपर और दाएँ-बाएँ स्थान छूटा हो।

२. दो शब्दोंके बीचमें कमसे कम दो 'म' का स्थान छूटा हो।

३. दो पंक्तियोंके बीचमें एक पंक्तिकी मोटाईका अन्तर छूटा हो।

निम्नलिखित कोष्ठकके बराबर कागजपर इस प्रकार लिखना चाहिए—

> देश-द्रोह सबसे बड़ा अपराध
> और पाप है। देशद्रोहीका कभी
> कल्याण नहीं हो सकता।

अशुद्धियोंका परिष्कार

यद्यपि नागरी अक्षरोंके ध्वन्यनुकूल होनेके कारण वर्णमालाका ज्ञान प्राप्त करते ही बालक बोली हुई सभी बातें लिख सकता है परन्तु हमारी वर्णमालामें कुछ अक्षर ऐसे भी हैं जिनके उच्चारणमें व्यापक अशुद्धि दिखाई देती है और इसी कारण उन्हें लिखते समय भी लोग अशुद्ध लिख बैठते हैं। ऐसी अशुद्धियोंका परिष्कार उन विशेष शब्दोंके बार-बार लिखवानेसे ही हो सकता है जिनमें वे अक्षर आते हों जैसे—ऋषि, ज्ञान, कैलास आदि। यहींपर विद्यार्थीको इसपर भी ध्यान देनेकी शिक्षा देनी चाहिए कि वे 'ज्ञ, ऋ, ष' अक्षरोंको अध्यापककी प्रत्यक्ष सुनी हुई ध्वनिके अनुसार न लिखकर उसके मूल तत्सम रूपके अनुसार लिखें क्योंकि इन ध्वनियोंमें प्रायः विपर्य्यय होनेकी सम्भावना बनी ही रहती है। जिन अक्षरोंके उच्चारणमें भूल होनेकी सम्भावना हो उन्हें बार-बार सामने लानेसे विद्यार्थी सँभल जाता है और शुद्ध लिखने और उच्चारण करने लगता है।

इस प्रकार शुद्ध लिखना आ जानेपर अनुच्छेदकी रचना करने, दोनों ओर पट्टी छोड़ने और विरामोंके उचित प्रयोग करने आदिकी शिक्षा दी जानी चाहिए। रचना-शिक्षणकी व्यवस्थामें आगे इसकी व्यवस्था कर दी गई है।

———

७

वाचनकी शिक्षा

पोथी बाँचना

शिक्षा-शास्त्रियोंमें अभीतक इस विषयमे गहरा मतभेद है कि पहले लिखना सिखाना चाहिए या बाँचना। लिखना सीखनेवालेको तो बाँचना आ ही जाता है किन्तु बाँचना सीखनेवालेको लिखना भी आ जाय यह आवश्यक नहीं है। हममेंसे बहुतसे लोग बँगला, गुजराती आदि अन्य लिपियोंमें लिखी या छपी हुई पोथियाँ बाँच तो लेते हैं किन्तु लिखनेको कहा जाय तो एक पंक्ति भी नहीं लिख सकते।

लेखन और वाचनका क्रम

इसका एक मनोवैज्ञानिक कारण है। पढ़ते समय कभी तो पहचाने हुए अक्षरोँके स्वरूप प्रत्यक्ष होनेपर अपनी स्मृति दिला देते हैं और कभी-कभी पहचाने हुए अक्षरोंके सहारे अपरिचित अक्षरोंका बोध हो जाता है। किन्तु लिखनेमें हमें कल्पना तथा अनुमानसे कोई आश्रय नहीं मिलता। जबतक अक्षरकी बनावट, उसके प्रत्येक अंगके डील-डौल, उतार-चढ़ाव, मोटाई-गहराई आदिका ज्ञान न हो तबतक लिखनेवालोँके लिये उस अक्षरका कोई अस्तित्व नहीं। उसके लिये 'घन' और 'धन' दोनोँका भेद समझना आवश्यक है। इसी मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तके बलपर ही हमने लिखना सिखानेकी विविध विधियोँपर पहले विचार किया है।

वाचन-शिक्षाके सम्बन्धमें भ्रम

अपनी लिपिकी विशेषताओंका उल्लेख करते हुए हम कह आए हैं कि हमारी लिपिके एक अक्षरका जो नाम है वही उसकी ध्वनि है।

संभवतः इसी कारण हमारी भाषाके अध्यापकगण बाँचना सिखानेकी अलग व्यवस्था करनेकी आवश्यकता नहीं समझते। उनके विचारसे अक्षर-बोध होते ही पढ़ना आ जाता है। कोई ह्रस्व-दीर्घकी अशुद्धि करता हो या संयुक्ताक्षरोंको तोड़कर उच्चरित करता हो या पढ़ते समय कोई अक्षर या शब्द छोड़ जाता हो तो उसे ठीक करके ही अध्यापक अपने कर्त्तव्य और धर्मकी इतिश्री समझ लेते हैं। किन्तु यह बात नहीं है। प्रत्येक लेखक जो कुछ लिखता है वह किसी उद्देश्यसे, कोई विशेष प्रभाव उत्पन्न करनेके लिये लिखता है। अत्यन्त ओजमयी भाषामें लिखा हुआ लेख भी अधम पाठकके मुँहसे नीरस, भाव-शून्य और निःसार ही प्रतीत होगा। एक छोटा सा उदाहरण लीजिए। एक वाक्य है—'तुम न मानोगे?' इसीको एक अध्यापक अपने शिष्योंसे एक ढङ्गसे कहेगा, स्त्री अपने मानी पतिसे दूसरे ढङ्गसे कहेगी। यदि पढ़नेवालेने पहलेको दूसरे ढङ्गसे और दूसरेको पहले ढङ्गसे पढ़ा तो समझिए कि उसने लेखकके भावोंका जीवित श्राद्ध कर दिया, उसे समाप्त कर दिया। अतः पढ़नेकी शिक्षा देनेमें सर्व-प्रथम कंठको साधनेकी अर्थात् भावके अनुसार स्वरके उचित उतार-चढ़ावकी शिक्षा आवश्यक है।

वाचन-प्रयोग

बाँचना सिखानेपर इतना श्रम क्यों किया जाय यह प्रश्न हमारे मित्र पूछ सकते हैं। इसका उत्तर हमारे उन्नत समाजकी आवश्यकताएँ ही दे रही हैं। हमें सभाओंमें अभिनंदन-पत्र पढ़ने पड़ते हैं, अपने साथियों, घरवालों या गाँववालोंको पत्र या समाचार-पत्र पढ़कर सुनाने पड़ते हैं, घोषणाएँ पढ़कर सुनानी होती हैं, लिखित अभिभाषण बाँचने पड़ते हैं, सभा-समितियोंके विवरण बाँचकर सुनाने पड़ते हैं, उद्धरण देने या पाठके लिये जनताके सम्मुख कविता पढ़कर सुनानी पड़ती है, इसलिये ठीक ढङ्गसे बाँचनेकी शिक्षा देना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है। न जाने कितने ऐसे लोग हैं जिनके पढ़नेके ढङ्गको देखकर हम लोग मुसकराए होंगे,

ठठाकर हँसे होंगे और कभी-कभी हँसीके आवेशमें तालियाँ भी पीट चुके होंगे। इन हास्यास्पद लोगोंमें समाजके बड़ेसे बड़े और छोटे सभी लोग सम्मिलित हैं। इसमें उनका दोष नहीं है, उनकी शिक्षाका दोष है और हमारी हँसी और तालियाँ उनपर नहीं, उनके शिक्षकोंपर है। पीछे तीसरे अध्यायमें हम वाचनके गुण-दोषोंका विस्तृत विवेचन कर चुके हैं अतः उसकी पुनरावृत्ति करना यहाँ अनावश्यक है। यहाँ केवल उसके उद्देश्यों और शिक्षण-विधियोंका उल्लेख करना ही पर्य्याप्त होगा।

वाचनके उद्देश्य

वाचन-शिक्षणके व्यापक महत्त्वको दृष्टिमें रखते हुए उसके उद्देश्योंका विधान करना कठिन नहीं होगा। उक्त दृष्टिसे पुस्तक-वाचन सिखानेके निम्नलिखित उद्देश्य हैं—

१. बालकोंको स्वरके उतार-चढ़ावका ऐसा अभ्यास करा दिया जाय कि वे यथावसर भावोंके अनुकूल स्वरमें लोच देकर पढ़ सकें।

२. स्वयं बालक अपने मनके भाव व्यक्त करते हुए भी यथा-भाव स्वरका उचित आरोह-अवरोह साध सकें।

३. वाचन इतना प्रभावोत्पादक बन जाय कि जिस उद्देश्यसे वाचन किया गया हो वह सफल हो और उद्दिष्ट व्यक्ति या समाज उससे प्रभावित हो।

४. बालकोंकी अक्षर-व्यक्ति (आर्टिकुलेशन), शब्दोच्चार (प्रोनन्सि-एशन), उचित ध्वनि-निर्गम (इनन्सिएशन) अर्थात् मुँहके भीतरके यथोचित स्थानसे वर्णोंका उच्चारण, बल (एम्फैसिस), सुस्वरता (इन्टोनेशन) का उचित संस्कार करना।

५. पुस्तक वाँचकर बालक उसका भाव समझ सके और दूसरोंको समझा सके।

वाचनके गुण

हम पीछे बता आए हैं कि अच्छे वाचनमें छः गुण होने चाहिएँ—

१. मधुरता।

२. अक्षर-व्यक्ति : प्रत्येक अक्षरको शुद्ध तथा स्पष्ट उच्चरित करना।

३. पदच्छेद : प्रत्येक शब्दको अन्य शब्दों से अलग करके उचित बल तथा विरामके साथ पढ़ना।

४. सुस्वरता : भावों के अनुसार वाणीमें आरोह-अवरोह लाना।

५. धैर्य : उचित गतिसे पढ़ना।

६. लय-समर्थता : लय अर्थात् प्रवाह बनाए रहना।

उपर्युक्त ढंगसे पुस्तक बाँचने वाले आगे चलकर अच्छे वार्त्ताकार (कन्वर्सेशनलिस्ट), प्रभावशाली वक्ता और सफल अभिनेता हो जाते हैं। कहा जाता है कि गद्य पाठकी आधी सफलता और कविताकी पूरी सफलता सुन्दर वाचनसे ही हो जाती है। अर्थात् यदि वाचन अच्छा हुआ तो केवल वाचनके सहारे ही पाठ समझमें आ जाता है।

वाचनके दो आधार

वाचनके दो प्रमुख आधार हैं—

(१) वाचनमुद्रा (पौस्चर ऐन्ड जेस्चर) अर्थात् बैठने, खड़े होने, पोथी या वाचन-सामग्री हाथमें ग्रहण करने तथा भावानुसार हाथ, नेत्र आदि अंगों का संचालन करना।

(२) वाचनशैली, अर्थात् भावानुसार स्वरके उचित आरोह-अवरोहके साथ बाँचना।

वाचन-मुद्रा ठीक रखनेके लिये प्रत्येक वाचकको अपने बाएँ हाथमें पुस्तक इस प्रकार बीचसे पकड़नी चाहिए कि ऊपर उसके बीचके मोड़पर बाएँ हाथका अँगूठा आ जाय और दूसरा हाथ भावाभिव्यक्तिके लिये खुला छूटा रहे। यदि पुस्तक बड़ी हो या अभिनन्दन-पत्र जैसी वाचन-सामग्री हो तो दोनों हाथों से पकड़कर भी उसे बाँचा जा

किन्तु बाँचनेवालेकी दृष्टि निरन्तर पुस्तक या वाचन-सामग्री- पर ही न जमी रहे। वाचकको अपनी दृष्टि-परिधि (आई स्पैन) इतनी साध लेनी चाहिए कि एक बार देखते ही वह पुस्तकके पन्द्रह-बीस शब्द ग्रहण कर ले और फिर जनताके सम्मुख मुँह करके उसे अभिव्यक्त कर दे। इस सम्बन्धमें इस अध्यायके अन्तमें व्यावहारिक नियम विस्तारसे दे दिए गए हैं।

कविता-वाचन

गद्य-पाठके वाचन और कविताके वाचनमें बड़ा अन्तर है। यद्यपि भावके अनुसार स्वरका आरोह-अवरोह काव्य-पाठके लिये भी अपेक्षित है किन्तु कवितामें छन्दका भी ध्यान रखना पड़ता है। इसलिये कविता वाचनकी दो शैलियाँ हैं—

(१) छन्दानुगत शैली (ह्रिद्मिकल रीडिंग)

(२) भावात्मक वाचन-शैली (एक्स्प्रेसिव रीडिंग)

इनमें से पहली शैली (छन्दानुगत शैली)के अनुसार पाठ करनेमें छन्दकी गति, यति और लयका ध्यान रखना चाहिए किन्तु कक्षामें कभी गाकर नहीं पढ़ना चाहिए। कवि-सम्मेलनोंमें भले ही कविता गा ली जाय किन्तु कक्षामें इसका प्रयोग सर्वथा वर्ज्य है क्योंकि कवितापाठ (रेसिटेशन) और कविता-गान (ह्राइमिंग या सिङ्गिङ्ग) में बड़ा अन्तर है।

भावके अनुसार कविता-वाचनमें भी यद्यपि भावाभिव्यक्ति ही प्रधान होती है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं समझना चाहिए कि छन्दकी पूर्णतः उपेक्षा हो जाय। वाचकको भावानुसार कविता-वाचनमें यति और लयका परित्याग यथावसर कर देना चाहिए किन्तु छन्दका प्रवाह नष्ट नहीं होने देना चाहिए। एक उदाहरण लीजिए—

जलको गए लक्खन हैं लरिका परिखौ पिय छाँह घरीक ह्वै ठाढ़े।
पोंछि पसेउ बयारि करौं अरु पाँय पखारिहौं भूभुरि डाढ़े॥

इसे छन्दकी गति, यति और लयके अनुसार इस प्रकार तोड़कर पढ़ेंगे जैसे नीचे शब्दोंके बीच दी हुई खड़ी पाईसे विभक्त है—

जलको । गए लव । खन हैं । लरिका । परिखौ । पिय छाँ । ह घरी । क ह्वै ठाढ़े ।
पोँ । छि पसे । उ बया । रि करौं । अरु पाँ । य पखा । रिहौं भू । भुरि डाढ़े ॥

यदि भावके अनुसार इसे बाँचना हो तब हम इसके एक-एक भाव-वाक्यको एक आरोह या अवरोहमें पकड़ेंगे जैसा नीचे शब्दोंके बीचमें दी हुई खड़ी पाईसे व्यक्त है—

जलको गए लक्खन । हैं लरिका । परिखौ पिय छाँह घरीक ह्वै ठाढ़े ।
पोँछि पसेउ बयारि करौं । अरु पाँय पखारिहौं भूभुरि डाढ़े ॥

वाचन-शिक्षाके साधन

बहुतसे लोग वाचन-शिक्षणके लिये ऐसी पुस्तकें प्रयोगमें लाते हैं जिनमें या तो जीवन-चरित होते हैं या कथाएँ होती हैं अथवा विविध विषयोंका परिचय होता है। वाचन-शिक्षणके लिये ये तीनों ही प्रकारके विषय अनुपयुक्त हैं क्योंकि इन तीनोंमें स्वरकी प्रभावोत्पादकता नहीं साधी जा सकती। अतः वाचन-शिक्षणके लिये नाटक तथा ऐसी वार्त्ता-पुस्तकें (कन्वरसेशनल रीडर्स) प्रस्तुत की जानी चाहिएँ जिनमें अधिकांश सम्वाद हों। इससे बालकोंको तीन लाभ होंगे—

(१) उनका स्वर-संस्कार होगा।
(२) अवसरके अनुकूल भाषाके प्रयोगका ज्ञान होगा।
(३) व्यावहारिक शब्द-भाण्डार बढ़ेगा।

वाचन-शिक्षणकी विधियाँ

शिक्षा-संसारमें बाँचना सिखानेकी निम्नलिखित विधियाँ प्रचलित हैं—

१. 'देखो और कहो'-विधि (लुक ऐण्ड से मेथड)
२. अक्षर-बोध-विधि (स्पेलिंग ,,)
३. ध्वनि-साम्य-विधि (फ़ोनिक ,,)
४. अनुध्वनि-विधि (इमिटेशन ,,)

५. भाषा-शिक्षण-यन्त्र-विधि (लिंग्वाफ़ोन ,,)
६. समवेत पाठ-विधि (साइमल्टेनियस ,,)
७. संगति-विधि (एसोसिएशन ,,)

'देखो और कहो' विधि

पहली 'देखो और कहो'-विधिमें एक पूरा शब्द श्यामपट्टपर लिख दिया जाता है। विद्यार्थीको अक्षरकी पहचान करानेके बदले शब्दके स्वरूपकी पहचान कराई जाती है। इस प्रणालीका सबसे बड़ा दोष यह है कि इसके द्वारा निरन्तर प्रयुक्त होनेवाले शब्दोंका चित्र तो मस्तिष्कमें ठीक बैठ जाता है किन्तु अव्यवहृत शब्दोंके रूप और प्रयोगमें धोखा हो जाता है। यदि वर्णमाला सिखाए बिना ही—'नाटक, गाय, घोड़ा' आदि शब्दोंके रूपसे परिचय कराया जाय तो इसमें दो दोष स्वतः आ जाते हैं—१. शब्दोंकी संख्या इतनी अपरिमित है कि उनका परिचय कहाँतक कराया जायगा और २. तनिक सी असावधानी कर देनेसे, बालक उपर्युक्त शब्दोंको 'नरक, माय, थोड़ा' भी पढ़ सकता है। अतः यह विधि त्याज्य है।

अक्षर-बोध विधि

अक्षर-बोध-विधि वही है जो अभीतक नागरी पढ़ानेवाले प्रयोग करते हैं। यही विधि ठीक भी है क्योंकि हमारी वर्णमालाके अक्षरोंका क्रम उच्चारण-स्थानके अनुसार सज्जित है अतः अक्षर-बोध-विधिसे वर्णमालाके क्रमके अनुसार सिखाना ही ठीक है। जब बालक अक्षर पहचान लें तब उन्हें शब्द दे दिया जाय जिससे वे एक-एक अक्षर मनमें पढ़कर और फिर बोलकर पूरा शब्द बाँच सकें। यदि उसे 'कमल' पढ़ना हो तो मनमें 'क म ल' कहे और फिर बोलते समय मिलाकर कहे—'कमल'। कुछ पाठशालाओंमें क म ल 'कमल', ख ट म ल 'खटमल' कहलाकर पढ़वानेका अभ्यास कराया जाता है। यह बुरा अभ्यास है। बाँचना सीखनेवाले छात्रोंको इस क्रमसे अक्षर-अक्षर टटोलकर पढ़नेका

दुरभ्यास हो जाता है और वे आगे चलकर उचित गतिसे बाँचनेमें असफल रह जाते हैं। बाँचना सिखालानेके लिये यह आवश्यकता है कि छात्रोंकी दृष्टि-परिधि सध जाय अर्थात् उनमें यह शक्ति आ जाय कि देखते ही शब्दका रूप उनकी दृष्टि पकड़ले, अक्षर-अक्षरका रूप उसे पहचानकर शब्दको न स्थिर करना पड़े।

ध्वनि-साम्य-विधि

तीसरी ध्वनि-साम्य-विधिमे एक समान उच्चरित होनेवाले शब्द एक साथ सिखाए जाते हैं—जैसे 'क्रम, भ्रम, श्रम' आदि। किन्तु यह विधि अस्वाभाविक और असंगत है। इनमे जान-बूझकर बालकको ऐसे शब्द सीखने पड़ते हैं जिनको वह अपने व्यवहारमें नहीं पाता है, जैसे—'कर्म, गर्म, घर्म, चर्म, धर्म, नर्म, मर्म, वर्म'। ध्वनि-साम्य-विधिके इस पाठमें 'वर्म, चर्म, मर्म, वर्म' आदि ऐसे शब्द हैं जिनका वह या तो तद्भव रूपमे 'घाम, चाम' आदि व्यवहार करता है या कभी करता ही नहीं। अतः यह विधि भी त्याज्य है।

अनुध्वनि-विधि

चौथी अनुध्वनि-विधि प्रायः 'देखो और कहो' का ही प्रकारान्तर है। इसमें अध्यापक एक शब्द कहता है और विद्यार्थी उस शब्दकी ध्वनिका अनुकरण करता है। किन्तु इस विधिका विशेष उपयोग उन भाषाओंकी शिक्षाके लिये है जिनमें एक-एक अक्षरकी कई-कई ध्वनियाँ होती हैं या कभी-कभी शब्द लिखनेमें कुछ अक्षरोंका उच्चारण ही नहीं होता या लिखा कुछ जाता है, पढ़ा कुछ जाता है जैसे—अँगरेज़ीके 'पुट' (Put) और 'बट' (But) शब्दोंमें आनेवाला 'यू' (U) अक्षर क्रमशः 'उ' और 'अ' का बोधक होता है, अथवा अँगरेज़ीके 'काम' (Calm = शान्त) शब्दमें आनेवाली 'ल' (L) ध्वनि अस्फुट रहती है; अथवा फ़ारसीमें लिखा हुआ 'निज़ामुल्दीन' पढ़ा जाता है 'निज़ामुद्दीन'। ऐसी सभी अनियमित और विकृत भाषाओंमें पग-पगपर अध्यापकको पथ-प्रदर्शनकी

आवश्यकता पड़ती है किन्तु नागरीमें यह समस्या उठती ही नहीं। इसे हम 'सुनो और कहो' विधि कह सकते हैं।

भाषण-यन्त्र-विधि

पाँचवीं भाषण-शिक्षा-यन्त्र-विधि नई वस्तु है। इसमें ग्रामोफ़ोनके तवेमें एक पाठ भरा रहता है, जिसे सुनकर बालक उसीका अनुकरण करके पढ़नेका अभ्यास करते हैं। इससे लाभ यह होता है कि उच्चारणमें एकरूपता और पढ़नेके क्रममें समता आ जाती है किन्तु अभी नागरीकी शिक्षाके लिये लिंग्वाफ़ोनके तवे नहीं बने हैं और बननेपर भी सबको प्राप्त हो सकेंगे या नहीं, इसमें सन्देह है। यह विधि व्यय-साध्य और दुर्लभ होनेके कारण त्याज्य है।

समवेत पाठ-विधि

छठी समवेत पाठ-विधि प्रायः छोटे-छोटे पद्यों अथवा छोटे-छोटे गीत सिखानेमें प्रयुक्त होती है। किन्तु भावपूर्ण गद्यांशों अथवा नाटकके अंशोंकी शिक्षा देनेमें भी इसका सफल प्रयोग किया जा सकता है। अध्यापक एक अंशको स्वयँ भावपूर्ण रीतिसे पढ़ता है और कक्षाके सब विद्यार्थी एक साथ उसकी आवृत्ति करते हैं। ऐसा करनेके स्वर सधता है और वाचन-संस्कार दृढ़ हो जाता है। यथास्थान इसका प्रयोग अवश्य करना चाहिए।

संगति-विधि

सातवीं संगति-विधिका विधान मदाम मौन्तेसोरीने किया है किन्तु वह खेलवाड़ मात्र है। उसको हम वास्तविक शिक्षा-विधि नहीं कह सकते और न वह हमारे काम ही अधिक आ सकती है। विधि यह है कि बहुत सी वस्तुओं, चित्रों, खिलौनों आदिके आगे उनके नाम कार्डोंपर लिखकर रक्खे जाते हैं। फिर वे कार्ड फेंट दिए जाते हैं और बालकोंसे कहा जाता है कि जिस वस्तुका जो नाम है वह नामवाला कार्ड उसी वस्तुके आगे रख दिया जाय। धीरे-धीरे बालक उन शब्दोंको पहचान जाते हैं। इस विधिसे केवल कुछ संज्ञाओंका बोध कराया जा सकता है

और इससे कुछ संज्ञावाची शब्दोंकी पहचान हो सकती है, किन्तु पढ़नेमें अधिक सहायता नहीं मिल सकती। इस विधिके कई रूप हैं जिनका उल्लेख करना यहाँ आवश्यक नहीं है।

अङ्ग-सञ्चालन

वाचनके समय भावानुसार स्वका उतार-चढ़ाव तो हो किन्तु उसके साथ बनावटी, अतिरञ्जित और भौंडा अङ्ग-सञ्चालन न हो। बात-बातपर आँखें मटकाना, नाक सिकोड़ना, गर्दन हिलाना भौंडेपनसे हाथ फेंकना, उँगली मटकाना,

स्वतः बत्तीसी चमकाना अथवा ठठाकर हँसना असंस्कृतिका द्योतक है।

विराम

शब्द समूहोंका चुनाव करना अर्थात् वाचनके समय एक बार एक धारामें कितने शब्द बोलने चाहिएँ और कहाँ कितना रुकना चाहिए यह भी सुन्दर वाचनका विशिष्ट गुण है, अतः इसका भी अभ्यास करा देना चाहिए।

सुन्दर वाचनके नियम

सुन्दर वाचनसे गद्य-पाठमें आधी सफलता और कविता-पाठमें पूरी सफलता मिल जाती है। यह सफलता अध्यापककी योग्यतापर ही अधिक निर्भर है। संभव हो सके तो समय-समयपर बाहरसे अच्छे वाचकोंको बुलाकर छात्रोंके सम्मुख उनका आदर्श-वाचन कराना चाहिए। साधारणतः योरोपीय लेखकोंने वाचनके लिये केवल पाँच ही गुण माने गए हैं—

१. स्पष्ट अक्षरोच्चार (आर्टिकुलेशन)
२. स्पष्ट शब्दोच्चार (प्रोनन्सिएशन), औचित्य और शोभाके साथ प्रत्येक शब्द स्पष्ट बोलना।

३. सुध्वनि (इनन्सिएशन), मुँहमें उचित स्थानसे प्रत्येक ध्वनि निकालना।

४. बल (एम्फेसिस), प्रत्येक शब्द या अक्षरपर यथायोग्य बल देना।

५. स्वरारोह (इन्टोनेशन), भावके अनुसार वाक्यको स्वरका उतार चढ़ाव।

वाचनके लिये निम्नाङ्कित नियमोंका विशेष ध्यान रक्खो—

१. हलकी पुस्तक हो तो बाएँ हाथमें उठाओ और इस प्रकार पकड़े रहो कि कोहनीपर ४५° का कोण बन जाय और पुस्तक आँखोंसे कमसे कम १२ इञ्चकी दूरीपर रहे।

२. पढ़ते समय आँखें निरन्तर पुस्तकमें न गड़ी रहें। एक बार आँखें इतनी सामग्री ग्रहण कर लें कि बीच-बीचमें मुँह उठाकर सम्मुख बैठे हुए लोगोंकी ओर देखने और उन्हें सम्बोधित करके पढ़नेका अवकाश मिले, अर्थात दृष्टि-परिधि (आइस्पैन) इतनी सध जाय कि एक बार देखते ही पर्याप्त अंश आँख ग्रहण कर ले और वाचकको निरंतर पुस्तकमें ही आखें न गड़ाए रखना पड़े, एक बार पोथीमें देखकर आँख-द्वारा ग्रहण किए हुए अंशको वह श्रोताओंकी ओर मुँह करके सुना भी सके।

३. शब्द-समूहोंका उचित चुनाव करके आवश्यक ठहराव देकर पढ़ो।

४. पढ़नेकी गति न बहुत मन्द हो, न बहुत तीव्र।

५. स्वर भी न मन्द हो न बहुत तीव्र। उसमें उतना ही बल हो कि प्रत्येक श्रोतातक शब्द ठीक-ठीक पहुँच सकें।

६. प्रत्येक शब्दका उच्चारण स्पष्ट और नियमित हो।

७. वाक्य-स्वर सदा एकरूप न रहे, भावोंके साथ उतरता-चढ़ता रहे और खुला हुआ। दाहिना हाथ भी उन भावोंके प्रकाशमें उचित योग दे।

८. पढ़ते समय न बहुत उछलो-कूदो, न इधर-उधर घूमो। हाँ, मुँह सब ओरके श्रोताओंकी ओर घूमे, केवल एक ही ओर न रहे।

९. प्रारम्भ और समाप्ति मन्द स्वरसे करो जिससे आदि और अन्तका ठीक ज्ञान हो।

१०. खड़े होकर पढ़ो, बैठकर नहीं।

उपर्युक्त दस नियम वाचनके प्रमुख नियम कहे जाते हैं।

वाचनकी शिक्षाके तीन पक्ष

वाचनकी शिक्षाके तीन पक्ष माने गए हैं—१. सिद्धान्त, २. भाव (अर्थ), ३. प्रभाव। सिद्धान्त पक्षके तीन अंग हैं—क. मानस (मनोवैज्ञानिक); ख. शरीरिक; ग. सौन्दर्यवादी। मानस दृष्टिसे सुवाचन करनेवालेमें आत्मविश्वास बढ़ता है, हियाव खुलता है, झिझक दूर होती है और नेतृत्व-भावनाका विकास होता है। शारीरिक दृष्टिसे वाचनके द्वारा फेफड़ोंका व्यायाम होता है, शरीर सीधा रखने और सुघर अंग-संचालनका अभ्यास पड़ जाता है। सौन्दर्यवादी दृष्टिसे स्वर, वाणी, गति, मुद्रा, भावभंगी और अंगसंचालनमें माधुर्य, आकर्षण और लालित्य आ जाता है क्योंकि सुन्दर वाणी ही मनुष्यका सबसे बड़ा अलंकार है। भाव पक्षसे स्पष्ट ही अर्थका ज्ञान है। प्रभाव पक्ष है वाचनके द्वारा श्रोताओंको अपने वशमें कर लेना। उपर्युक्त दस नियमोंके अनुसार यदि कोई बाँचना सीख ले तो वह शीरीं सख़ुन, शीरीं ज़बान हो जाय। वह बोले तो जान पड़े मिश्री घोल रहा है, मुँहसे फूल बरस रहे हैं, मोती झड़ रहेहैं। यही ज़बानका जादू कहलाता है।

सस्वर तथा मौन पाठ

हम यहाँ सस्वर पाठ अथवा मौन पाठकी व्याख्या नहीं करना चाहते क्योंकि सस्वर पाठ तो पाठन-क्रमका एक अंग है और मौन पाठ भी पाठ्य-पुस्तक या सस्वर पाठ पढ़ानेका एक क्रम मात्र है। अतः दोनोंकी व्याख्या उचित स्थलोंपर की जायगी।

वाचनकी पूरी व्यवस्थाके लिये नीचेकी सारिणी देखिए—

वाचनकी व्यवस्था

१

वाचन
शुद्ध
कलात्मक
मधुर
प्रभावशाली
स्पष्ट अक्षरोच्चार (आर्टिकुलेशन)
शुद्ध शब्दोच्चार (प्रोनन्सिएशन)
कोमल वाणी
सुश्राव्य मध्यम स्वर
भावानुसारी लय
उचित गति
शरीर-मुद्रा
लय-समर्थता
उचित विराम
स्वरका उचित आरोहावरोह
उचित मुखमुद्रा
अंग-संचालन
ललित
शिष्ट
आवश्यक
पुस्तक बाएँ हाथमें
दायाँ हाथ पीठ पीछे
केवल शिरश्चालन
सीधा शरीर

८
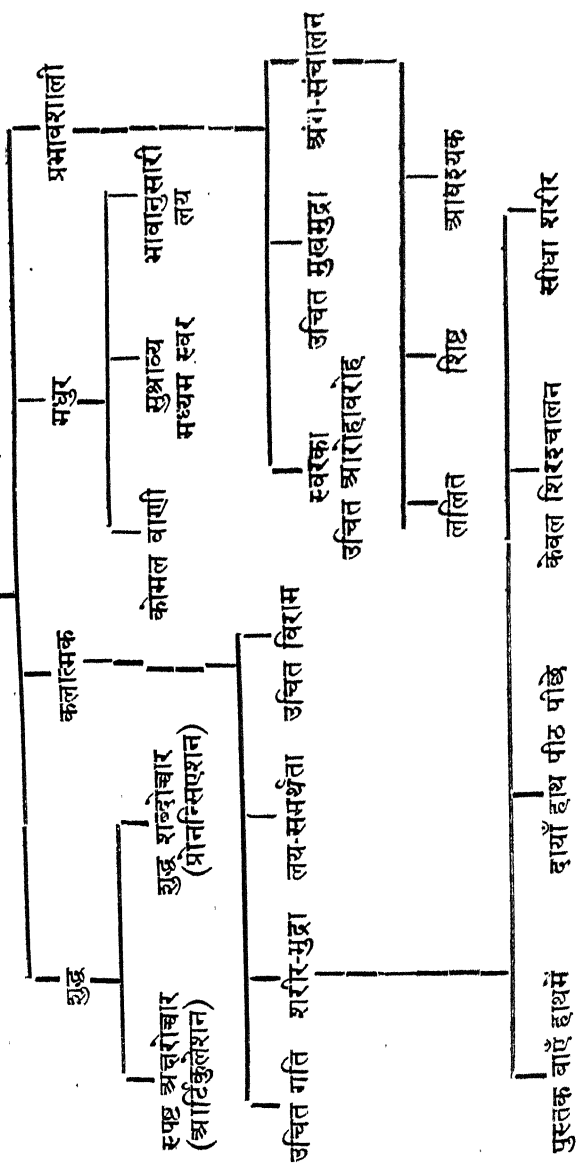
रचना-शिक्षणके उद्देश्य और समस्याएँ

भाषाका संस्कार

आजकल हमारे देशके विद्यालयोंमें रचना-शिक्षणको अध्यापक-गण तो बेगार समझते हैं और विद्यार्थी एक दैवी आपत्ति। अध्यापकोंको निबन्ध शुद्ध करते-करते और विद्यार्थीको लिखते-लिखते नाकों दम आ जाता है। न उन्हें उसमें रुचि है, न उसे उसमें आनन्द। सम्भवतः इसीलिये किसी दिलजलेने कहा है 'ऐस्सेज़ इन स्कूल्स आर ए नेसेसरी ईविल' [स्कूलोंमें लिखाए जानेवाले निबन्ध अपरिहार्य्य पाप हैं]। वास्तविक बात यह है कि हमने शिक्षाके इस अंगकी सदा ही उपेक्षा की है। रचना हमारे सम्पूर्ण भाषण और लेखनमय जीवनकी नींव है। यदि यह नींव दृढ़ हो तो सामाजिक संघर्षसे उत्पन्न होनेवाली सैकड़ों आपदाएँ भस्मसात् हो जायँ, बाधाएँ सम्मुख आनेका दुस्साहस न करें और सुन्दर, सरल साहित्यकी सृष्टि होने लगे।

लिखनेकी आवश्यकता

हमें प्रतिदिन लिखनेका काम पड़ता है। हम अपने प्रियजन परिजनोंको पत्र लिखते हैं। अपने गुरुजन, अधिकारिजन अथवा स्वामियोंके पास आवेदन-पत्र भेजते हैं, देश-वासियोंके नाम अभ्यर्थना-पत्र तथा अनुरोध-पत्र निकालते हैं, समाचार-पत्रोंमें संवाद भेजते हैं, अपने धर्म, देश तथा समाजके नामपर लेखकके रूपमें आँसू बहाते हैं, घरमें नित्य दैनन्दिनी (डायरी) लिखते हैं और बहुजन-हिताय साहित्यकी रचना

करते हैँ। हमारे लेखकोँकी लेखनी नित्यप्रति बरसाती नदीके समान अत्यन्त वेगसे दौड़ी चली जाती है—आँख मूँदकर, अन्धी होकर—जिसमें संयम नहीँ, नियम नहीँ, कौशल नहीँ, उक्ति-वैचित्र्य नहीँ, शब्दोँमें शक्ति नहीँ। उच्छृङ्खल, निरंकुश और उद्दंड प्रकृतिकी प्रेरणासे हमारी लेखनी क़ाग़ज़ रँगती चली जा रही है। उस लेखनीको संयत करनेकी आवश्यकता है, नदीमें बाँध बाँधनेकी अपेक्षा है, तभी हमारा साहित्य प्रौढ़ और प्राञ्जल हो सकता है और संसारकी अन्य साहित्यिक भाषाओँसे होड़ ले सकता है।

शतं वद एकं मा लिख

हमारे यहाँ एक सूक्ति प्रसिद्ध है—'शतं वद एकं मा लिख' [सौ बातेँ कह भले दो, किन्तु लिखकर एक भी मत दो।] लिखकर अपना हाथ न कटाओ। मुँहसे निकली बातका प्रमाण ही क्या ? किन्तु जब आपकी लेखनीकी जिह्वा कुछ कह बैठती है तो वह पत्थरकी लकीर बन जाती है। आप वन्दी हो जाते हैँ। आपका लिखा हुआ एक-एक अक्षर आपके विरुद्ध बोल उठता है। अतएव लेखनी सोच-समझकर उठाओ। स्मरण रक्खो—

अपनी लेखनी उठाओ मत।
उठाते हो तो चलाओ मत।
चलाते हो तो दो बार सोच लो।
चल चुकनेपर दो बार दुहरा लो।

देख लो कि प्रत्येक शब्द इच्छित अर्थके अतिरिक्त कोई दूसरा अर्थ तो नहीँ देता। सावधान !

रचना-शिक्षणके उद्देश्य

रचना-शिक्षणके द्वारा हम अपने बालकोँको इस योग्य बना देना चाहते हैँ कि वे शुद्ध, उचित, लोकसिद्ध, निरापद तथा इच्छित प्रभावोत्पादक भाषामें अपने मनकी बात कह सकेँ, दूसरोँकी बातोँका उत्तर दे

सक, सत्साहित्यकी सृष्टि कर सकें और इस प्रकार अपना सामाजिक जीवन सुसंस्कृत और सुखमय बना सकें।

भाषाके वाञ्छनीय तत्त्व

यहाँ शुद्ध भाषाका अर्थ व्याकरण-सिद्ध भाषा है। ऐसी भाषाका प्रयोग कभी नहीं करना चाहिए जो व्याकरणकी दृष्टिसे खटकता हो या लोगोंको नाक-भौं सिकोड़नेका अवसर देता हो। उचित भाषासे तात्पर्य यह है कि वह अवसर तथा पात्रके अनुकूल हो। ऐसा न हो कि अमंगल अवसरपर मंगलकी और मंगल अवसरपर अमंगलकी ध्वनि दे। लोकसिद्ध भाषा वह है जो हमारे समाजके उच्च श्रेणीके लोगोंके मुँहमें बार-बार आ-जाकर मँज गई है, जिसका प्रयोग शिष्ट समाजमें प्रचलित है और जिसकी उपेक्षा करना समाजमें भोंडापन समझा जाता है। निरापदका अर्थ है कि हमारी भाषापर न तो दूसरे उँगली उठावें, न उसके कारण हम अनायास विपत्तिमें पड़ जायँ। राजनीति और समाजनीतिके व्यापारियोंको इसपर विशेष रूपसे ध्यान देना चाहिए। इच्छित प्रभावोत्पादक भाषाका स्वतःसिद्ध अर्थ यह है कि बातका उचित प्रभाव पड़े, वह केवल आकाशमें विलीन होकर न रह जाय।

अन्य भाषाओंका संसर्ग

अन्य भाषाओंके सम्पर्कसे हमारी भाषामें जो अव्यवस्थाएँ आगई हैं उनमें से एक समस्या है विभक्तिकी। आजकल नागरी लिखनेवालोंमें विभक्तिके सम्बन्धमें तीन मत हैं। शुद्ध लिखनेवाले विद्वान् विभक्ति मिलाकर लिखते हैं, जैसे 'रामका'। कुछ लोग भ्रम और अज्ञानवश शब्दसे विभक्ति हटाकर लिखते हैं, जैसे 'राम का'। कुछ लोग सर्वनामके साथ तो विभक्ति जोड़नेको तैयार हैं किन्तु संज्ञाओंके साथ नहीं! वे 'उसका' में तो विभक्ति मिला देंगे किन्तु 'राम' के साथ 'का' लगाना होगा तो लिखेंगे 'राम का'। कुछ दिन पहले यह 'सटन्त' और 'हटन्त'का विभक्ति-विक्षोभ इतना प्रबल हो गया था कि स्वर्गीय पंडित गोविन्द-

नारायण मिश्रको 'विभक्ति-विचार' नामकी पोथी लिखकर इस भ्रमका निराकरण करके 'सटन्त' विभक्ति लिखनेका निर्णय देना पड़ा था।

विभक्ति-विचार

नागरीमें जो कुछ लोग विभक्ति हटाकर लिखते हैं, वे 'राम का घोड़ा' लिखते समय 'राम' अलग और 'का' अलग लिखते हैं। परन्तु भारतकी आर्य और द्रविड सभी भाषाओंमें विभक्ति मिलाकर ही लिखनेका प्रचार है। देखिए—

रामस्य घोटकः	...	...	संस्कृत
रामऽजो घोरो	...	...	सिन्धी
रामदा घोड़ा	...	...	पंजाबी
रामेर् घोड़ा	...	...	बँगला
रामनो घोड़ो	...	...	गुजराती
रामचा घोड़ा	...	...	मराठी
रामुनियोक्क गुर्रमु	...	...	तेलुगु
रामुडैय कुदिरै	...	...	तमिळ
रामण्टँ कुतिर	...	...	मलयाळम
रामरो घोड़ो	...	...	डिंगल
रामको घोरो	...	...	पिङ्गल (ब्रज)
रामकै ध्वारा	...	...	बैसवाड़ी (अवधी)

उपर्युक्त तालिकासे विदित होगा कि भारतकी सभी भाषाओंमें सम्बन्ध-कारककी विभक्ति मूल शब्दके साथ सटी हुई है। फिर क्या कारण है कि हमारी नागरीमें ही शब्द और विभक्ति, चकवा-चकवी न्यायसे कभी मिल जायँ और कभी अलग हो जायँ। जहाँतक विभक्ति सटानेका प्रश्न है वहाँतक तो किसी विरोधका प्रश्न नहीं क्योंकि विभक्ति सटाकर लिखने-का समर्थन तो भारतीय भाषाओंकी प्रकृति ही करती है। तब नागरीमें विभक्ति हटी क्यों? फ़ारसीकी प्रकृति है कि वह विभक्तिको शब्दके पहले स्थान देती है जैसे—'बनारससे' के लिये फ़ारसीवाले

'अज्ञ बनारस' लिखते हैं, 'असलमें' के लिये 'दर असल' का व्यवहार करते हैं। फ़ारसी लिपिमें उर्दूका व्यवहार आरंभ होनेपर वही फ़ारसी-प्रवृत्ति सामने आई और उनके यहाँ भी 'रामको' लिखनेके दोनों ढङ्ग चलते रहे, जैसे—(१) **'रे अलिफ़ मीम'** 'राम' अलग और **'काफ़ वाव'** 'को' अलग (राम को) और (२) **'रे अलिफ़ मीम काफ़ वाव'** 'रामको'। नागरीमें विभक्ति अलग लिखना इसी पहली प्रवृत्तिका भद्दा अनुकरण है जिसका त्याग शीघ्रसे शीघ्र होना चाहिए।

कुछ शब्दोंके स्वरूप

नागरीमें चलनेवाले कुछ बहुरूपी शब्दोंका स्वरूप निश्चित कर लेना बहुत आवश्यक है। एक शब्द 'जावेगा' ले लीजिए। यह शब्द 'जायगा, जायेगा, जाएगा, जावेगा, जावैगा', इन पाँच रूपोंमें लिखा जाता है। इस प्रकारके बहुरूप शब्द नागरी भाषाके विद्यार्थीके लिये भ्रामक हो सकते हैं। अतः 'एकमात्रालाघवेऽपि पुत्रोत्सवम्मन्यन्ते वैयाकरणाः' [यदि कहने और लिखनेमें एक मात्राकी भी कमी कर दी जा सके तो वैयाकरण लोग ऐसे प्रसन्न होते हैं मानो उनके घर पुत्र जन्मा हो] के सिद्धान्तके अनुसार 'जायगा' रूप ही स्वीकार कर लेना चाहिए। ऐसे अन्य स्थानोंपर यदि 'जो सुनेंगे वही लिखेंगे'का नियम मान लिया जाय तो बहुत अंशोंमें बहुरूपताकी त्रुटि दूर हो सकती है। फिर भी 'लिए' जैसे शब्दोंके लिये यह नियम बनाया जा सकता है कि 'वास्ते' के स्थानपर 'लिये' लिखा जाय और 'लेना' क्रियाका रूप बनाना हो तो 'लिए' लिखा जाय। यह नियम इसलिये कि क्रियाकी गतिमें शीघ्र बोलते समय 'ए' स्वर सरल होता है 'ये' नहीं, जैसे—'घनश्यामके लिये हाटसे कुछ फल लिए जाता हूँ।'

लिंगानुसारी क्रियाका रूप

स्त्रीलिङ्ग और पुल्लिङ्गके साथ बदलनेवाली क्रियाका रूप भी विचारणीय है। कुछ लोग पुल्लिङ्गमें 'गया' लिखनेके अनुसार स्त्रीलिङ्ग

नाते समय 'य' पर 'ई' की मात्रा लगाकर 'गयी' लिख देते हैं। उनका र्क यह है कि जब 'य' मे 'आ' की मात्रा देकर 'या' बनाते हैं तब 'ई' ी मात्रा देकर 'यी' भी क्यों न बनावें। इसका उत्तर यही है कि 'य' पर ई' की मात्रा लगानेसे उसकी ध्वनि चबाई हुई प्रतीत होती है जब कि केवल 'ई' का प्रयोग शुद्ध स्वरकी ध्वनि देता है। अतः 'आया' 'गया' आदिमें 'य' के आगे 'आ' की मात्रा लग सकती है किन्तु 'आई' 'गई' में 'य' की आवश्यकता नहीं है। हमें या तो ध्वनिके सिद्धान्तपर चलना चाहिए या गठनके। किन्तु गठन अर्थात् धातु-रूपका सिद्धान्त तो इसलिये मान्य नहीं हो सकता कि अभी हमारी भाषा स्थिर नहीं हो पाई है। गठनका सिद्धान्त मानकर भाषाकी उन्नति रोकना उचित भी नहीं है।

सीधी और घुमौवा बात

हमारे यहाँ बोलचाल सीधे ढंगसे होती है पर अँगरेज़ीके घुमौवा रूप (इण्डाइरेक्ट फ़ौर्म) की छुतही बीमारीके कीटाणु आजकल नागरीमें भी दिखाई पड़ने लगे हैं। अँगरेज़ीकी देखा-देखी नागरीमें हम कहने लगे हैं—'उसने कहा कि वह वहाँ गया था।' इसके स्थानपर 'उसने कहा कि मैं वहाँ गया था' लिखनेसे ही नागरीकी प्राण-रक्षा हो सकती है।

वाक्य-निर्माणपर प्रभाव

अँगरेज़ीका प्रभाव हमारे वाक्य-निर्माणपर भी पड़ने लगा है। हमरे हिन्दी-लेखक लिखते हैं—

'राम, जो कि दशरथके बड़े पुत्र थे, ने कहा।' नागरीकी प्रकृतिके अनुसार इसे लिखना चाहिए—

'दशरथके बड़े पुत्र रामने कहा।'

अनुवादोंमें जो वाक्य-निर्माणके ऐसे अँगरेज़ी रूप पाए जाते हैं उन्हें तत्काल दूर कर देना चाहिए। कभी-कभी यह वाक्य-निर्माण निम्नलिखित प्रकारके भयंकर रूपमें भी पाया जाता है—

'राम, जो कि दशरथके पुत्र थे, ने रावण, जो कि उनकी पत्नीको हर ले गया था, को मारा।'

विराम-चिह्न

विराम-चिह्नों या संकेत-चिह्नोंकी भी एक समस्या आ खड़ी हुई है। हिन्दीकी पुरानी पोथियोंमें ढूँढ़नेसे निम्नलिखित चिह्न मिलते हैं—

। ॥ —

किन्तु अँगरेज़ीके शुभागमनसे उसके प्रायः सभी विराम चिह्न नागरीमें भी प्रयुक्त होने लगे हैं। वे हैं—

. , ; : – ! ? " " ( ) [ ]

हमारी भाषामें प्रायः गुम्फित वाक्य नहीं होते। जो होते भी हैं वे इतने उलझे हुए नहीं होते कि उनमें बहुतसे अनर्गल चिह्नोंकी आवश्यकता पड़े। अब प्रश्नवाचक चिह्नको ही ले लीजिए। यह चिह्न अँगरेज़ीमें तो इसलिये आवश्यक है कि वहाँ बहुतसे प्रश्न-सूचक वाक्योंमें प्रश्न-बोधक शब्द नहीं होते। जैसे—'इज़ देअर ए सीट हीअर?' (यहाँ कोई बैठनेका स्थान है?) किन्तु नागरीमें अनुवाद कर देनेपर हम कहेंगे— 'क्या यहाँ कोई स्थान है।' इस वाक्यमें 'क्या' शब्द प्रश्न-बोधक है ही, फिर व्यर्थ चिह्नका प्रयोजन? अतः केवल उन्हीं चिह्नोंका व्यवहार किया जाय जो नितान्त आवश्यक हों जैसे—। ॥, — ( ) तथा " " और यह उदार सिद्धान्त बना लिया जाय कि अर्थकी स्पष्टताके लिये जो चिह्न उचित हों उनका प्रयोग अवश्य किया जाय, किन्तु केवल अँधाधुन्ध अनुकरण न हो।

लेखनी कैसी हो?

एक समस्या है लेखनीकी। निर्झरिणी (फ़ाउण्टेन पेन) और लोहेके कलमोंके प्रयोगने सरकण्डे, किरिच या नरकटके कलमोंका वहिष्कार ही कर दिया है। किन्तु नागरी अक्षरोंकी सुन्दरता और बनावटकी रक्षाके लिये नरकटके कलमका ही प्रयोग आवश्यक है।

अनुनासिकका चिह्न

अन्तिम समस्या है अनुनासिकके चिह्नकी। आजकल लोग अनुनासिकके लिये भी अनुस्वारका प्रयोग करते हैं। वे 'हंस' और 'हँस' में कोई भेद ही नहीं समझते। वे गेँदको गेंद लिखते और छापते हैं जो वास्तवमें 'गेन्द' पढ़ा जाता है। अतः चन्द्रबिन्दु (ँ) का प्रयोग भाषाकी शुद्धताके लिये आवश्यक तथा अनिवार्य्य है। उर्दूमें शब्दके बीचमें अनुनासिक प्रयोगकी व्यवस्था नहीं है, इसीलिये हमारे पंजाबी मित्र 'हँसना' को 'हन्सना' पढ़ते और बोलते हैं किन्तु हमारी नागरी भाषा अनुनासिक-प्रधान है और 'में, मैं, हैं, बहुतों, स्त्रियाँ, ऊँट, उँगली, ईँट, बहुएँ, ओँठ, औँधा, कहूँ, सुनें, समझें, हँसना, रँभाना, गाँवँ, पाँवँ, कुआँ, साँप. जोँक, काँपना, तोँद, गेँद, पौँढा, तँदुआ' आदि अनुनासिक प्रधान तद्भव शब्दोँमें केवल अनुनासिकका चिह्न प्रयुक्त होना चाहिए, अनुस्वार नहीं।

६

रचनाके स्वरूप और शिक्षण-विधियाँ

रचना कैसे की जाय ?

रचना करनेकी प्रवृत्ति मनुष्यमें स्वाभाविक होती है। वह कुछ कहना चाहता है यह सत्य है, किन्तु वह लिखना भी चाहता हो या लिखकर ही अपनी बात कहना चाहता हो यह स्वाभाविक नहीं है। कभी तो अपनी आवश्यकता-वश, कभी परिस्थिति-वश (सम्बोध्यको सामने न पाकर) और कभी स्वतन्त्र भावाभिव्यक्तिकी प्रेरणासे ही मनुष्य लेखनी उठाता या जीभ हिलाता है।

आवश्यकता, परिस्थिति और अभिव्यक्ति

हम आवश्यकता-वश ही बात-चीत करते हैं, कथा-वार्त्ता कहते हैं, पत्रादि लिखते हैं। विशेष परिस्थितिमें पड़कर हम अभ्यर्थना (अपील) करते हैं, आवेदन-पत्र भेजते हैं, अभिनन्दन-पत्र या सम्मान-पत्र तैयार करते हैं और प्रशंसा-पत्र या प्रमाण-पत्र लिखते हैं। और फिर स्वतन्त्र भावाभिव्यक्तिकी इच्छा—दूसरे लोग मुझे जानें, मेरे विचार पढ़ें या समझें—साहित्यिक कृतियोंको जन्म देती है और इसी इच्छासे कथा, वर्णन, जीवन-चरित, आत्म-कथा, निबन्ध, नाटक, कविता, आलोचना आदि साहित्यके अनेक गद्य-पद्यात्मक रूपोंकी सृष्टि होती है।

भाषा-रचनाके दो प्रकार

वस्तु बनानेकी क्रिया ही **रचना** कहलाती है। इसीलिये शब्दोंकी सार्थक तथा कलात्मक सजावटको भाषा-रचना कहते हैं। रचना दो

प्रकारकी होती है—मौखिक और लिखित। हमारे यहाँ अक्षरके रूप और उसके उच्चारणका परिचय होते ही शब्द-ज्ञान और फिर सीधे वाक्य-रचनाका आरम्भ हो जाता है। मौखिक रचना तो लोक-संसर्गसे ही बालक सीख जाता है किन्तु उचित शिक्षाके बिना लिखित रचना नहीं सीखी जा सकती।

रचना-शिक्षण-विधियाँ

गद्य-पद्य भाषा-रचना सिखानेकी सत्रह विधियाँ हैं—

१. 'देखो और रचो'-विधि ('लुक एण्ड कम्पोज़' मेथड)
२. भाषा-यन्त्र-विधि (लिंग्वाफ़ोन ,,)
३. प्रश्नोत्तर-विधि (कन्वर्सेशन ,,)
४. उद्‌बोधन-विधि (एलिसिटेशन ,,)
५. प्रबोधन-विधि (सजेस्शन ,,)
६. मन्त्रणा-विधि (गाइडेन्स ,,)
७. सूत्र-विधि (नोट्स या पौइन्ट्स ,,)
८. तर्क या विमर्श-विधि (डिस्कशन ,,)
९. अनुकरण-विधि (इमिटेशन ,,)
१०. विचार या अध्ययन-विधि (स्टडी ,,)
११. शब्दप्रदान-विधि (वौकेबुलरी ,,)
१२. रूपरेखा-विधि (हिन्ट्स या आउटलाइन ,,)
१३. आदर्श-विधि (मौडल ,,)
१४. प्रवचन-विधि (टैलिंग ,,)
१५. अन्तर्योग-विधि (कोरिलेशन ,,)
१६. विषय प्रबोधन-विधि (सब्जेक्ट ,,)
१७. निर्देश-विधि (डाइरेक्शन ,,)

उपर्युक्त विधियोंमेंसे प्रथम पन्द्रह गद्य-रचनाके लिये तथा अन्तिम दो नाट्य-रचना तथा पद्य-रचना सिखानेके लिये प्रयुक्त होती हैं।

'देखो और रचो' विधि

इस विधिका आधार एक लकड़ीकी पिटारी है जो संसारके वरिष्ठ शिक्षाशास्त्री तथा काशी हिन्दू विश्वविद्यालयके संस्थापक महामना पण्डित मदनमोहन मालवीयजीके नामपर 'मोहन पेटी' कहलाती है। यह इस ग्रन्थके लेखक आचार्य पंडित सीताराम चतुर्वेदीका आविष्कार है। इस पेटीमें ढकनेके पीछे एक सलेट लगी रहती है, उसीपर एक पुस्तक फँसी रहती है, उसके सामने दाएँ हाथकी ओर खाँचीदार पटरियाँ लगी रहती हैं और उसके नीचे तीन सरकौआ डब्बे लगे रहते हैं जिनमें गत्तेके टुकड़ोंपर छपे हुए देवनागरीके अक्षर, अंक, मात्राएँ तथा कुछ अति प्रचलित शब्द भरे रहते हैं। इसकी शिक्षाकी चार अवस्थाएँ हैं—

१. पहली अवस्थामें पुस्तक देखकर विद्यार्थी सरकौआ डब्बोंके छोटे घरोंमेंसे अक्षर निकालकर खाँचीदार पटरियोंमें लगाता है और पूरा पृष्ठ रच चुकनेपर फिर अक्षर निकालकर उन्हीं घरोंमें यथा-स्थान डाल देता है। इस प्रयोगसे बालककी उँगलियाँ सधती हैं, उसे अक्षरोंकी पहचान होती है और बारबार देखते रहनेसे अक्षरोंका शुद्ध रूप उसके सामने आता रहता है।

२. दूसरी अवस्थामें विद्यार्थी अपने रचे हुए पृष्ठकी प्रतिलिपि सलेटपर करता है। इससे उसे लिखनेका अभ्यास भी होता चलता है और अक्षरोंकी बनावट तथा उनके विभिन्न अंगोंका अनुपात भी आ जाता है।

३. तीसरी अवस्थामें अध्यापक श्यामपट्टपर ऐसे शब्दोंके संयोगसे वाक्य बनाकर लिखता है जिन्हें बालक सीख चुका रहता है। उन वाक्योंको बालक खाँचीदार पटरियोंमें अक्षरोंसे रचता चलता है। इस अभ्याससे लिखे हुए अक्षरोंसे छात्रका परिचय भी हो जाता है और वह तीव्रताके साथ उसकी रचना भी करता चलता है।

४. चौथी अवस्थामें अध्यापककी बोली सुनकर ही छात्र गत्तेके अक्षरोंसे शब्द रचता है तथा सलेटपर लिखता है।

इस प्रणालीमें अवयव-सिद्धि (सेन्स ट्रेनिंग), करो और सीखो (लर्निङ्ग बाइ डुइङ्ग), स्वयं शिक्षा (औटो-एजुकेशन), शुद्ध अनुकरण (राइट इमिटेशन) आदि शिशु-शिक्षाके सम्पूर्ण मनोवैज्ञानिक सिद्धातोंका समावेश किया गया है। इसमें बालकोंकी रुचि भी होती है और उनका ज्ञान भी वेगसे बढ़ता चलता है।

भाषा-यन्त्र विधि

यह विधि पहले योरोपीय भाषाओंके शिक्षणमें ही काम आती थी किन्तु अब नागरीके लिये भी प्रयुक्त होने लगी है। इसे 'लिंग्वाफ़ोन मेथड' कहते हैं। इसके चार साधन हैं—ग्रामोफ़ोनकी मशीन, लिंग्वाफ़ोनका तवा (रेकर्ड), वर्ण्य चित्र तथा सहायक पुस्तक। वर्ण्य चित्रको भीतपर टाँगकर ग्रामोफ़ोनका तवा मशीनपर चढ़ाकर चला दिया जाता है। अध्यापक अपने हाथमें छड़ी लेकर ग्रामोफ़ोनके वर्णनके अनुसार चित्रपर सब वर्ण्य वस्तुएँ और घटनाएँ दिखाता चलता है। तवा बज चुकनेपर अध्यापक प्रश्न करके सब वर्णित बातें छात्रोंसे कहलवा लेता है और फिर सहायक पुस्तकके आधारपर छात्र स्वयं अपने उत्तरोंकी शुद्धता जाँच लेते हैं। यह विधि रचनाके मौखिक स्वरूपकी सिद्धिके लिये सहायक तो है किन्तु अत्यन्त व्यय-साध्य भी है।

प्रश्नोत्तर-विधि

यह विधि अत्यन्त प्राचीन है। हमारे देशमें पहले इसी विधिके द्वारा शिक्षा दी जाती थी। भेद इतना ही है कि तब शिष्य प्रश्न करता था, गुरु उत्तर देता था; अब गुरु प्रश्न करता है, शिष्य उत्तर देता है। इस प्रणालीमें ध्यान देने योग्य बात यही है कि जिस विषयपर प्रश्न किए जायँ उसका श्रृङ्खलाबद्ध वर्णन उत्तरके रूपमें आ जाय। आगे उदाहरण देकर इसकी व्याख्या की जायगी। यह विधि प्रारम्भिक

कक्षाओंमें अर्थात् मौखिक रचनाके समयतक ही प्रयोगमें लानी चाहिए। इस विधिमें इतनी बातें समझ रखनी चाहिएँ—

१. प्रश्न स्पष्ट हों, संक्षिप्त हों।

२. प्रश्न एक ही बातके लिये किया जाय, अर्थात् एक प्रश्नके उत्तरमें बहुतसी बातें न आ जायँ।

३. प्रश्न संगत (लौजिकल) हों अर्थात् एक प्रश्नका दूसरेसे सम्बन्ध हो।

४. प्रश्न बालकोंकी मानसिक अवस्था और बौद्धिक योग्यताके अनुकूल हों।

५. 'हाँ' या 'ना' में उत्तर लानेवाले प्रश्न (लीडिंग क्वैश्चन्स) न हों।

६. अस्पष्ट प्रश्न (वेग क्वैश्चन्स) न हों।

चित्र-वर्णना (पिक्चर कौम्पोज़िशन) तथा कथा-रचना सिखानेके लिये इस विधिका प्रयोग अवश्य करना चाहिए।

उद्बोधन-विधि

इसमें स्वतः विद्यार्थियोंसे ही निर्दिष्ट विषयके सम्बन्धमें ज्ञातव्य बातें निकलवा ली जाती हैं। इस विधिमें उनकी कल्पना-शक्ति उद्दीप्त करके उन्हें स्वतः वर्ण्य विषयके विभिन्न आवश्यक अंग ढूँढ़ निकालनेको उत्साहित किया जाता है। अधिकतर जीवन-चरित, आत्मकथा ऐतिहासिक या भौगोलिक वर्णन अथवा अन्य ज्ञात विषयों या दृश्यादिके वर्णनकी शिक्षामें इसका प्रयोग करना चाहिए।

प्रबोधन-विधि

इस विधिमें सम्पूर्ण सामग्री अध्यापक ही सूत्र-रूपमें दे देता है, बालक केवल अपने अध्यापक-द्वारा प्रदत्त सूत्रके अनुसार निर्दिष्ट विषयको भाषा-निबद्ध करते चलते हैं। यह विधि केवल वैज्ञानिक विषयों अथवा उन विषयोंकी रचना-शिक्षाके काममें लानी चाहिए जो विद्यार्थी न जानते हों। इस विधिमें अध्यापक केवल सूत्र ही नहीं देता वरन् ऐसे ग्रन्थ,

पत्र-पत्रिका अथवा साधनोंका भी निर्देश करना है जिनके आधारपर रचना की जानी चाहिए।

मन्त्रणा-विधि

इस विधिसे रचनाके लिये विषय देते समय अध्यापक तत्सम्बन्धी पुस्तकों, लेखों, पत्रों आदिके नाम बतला देता है और विद्यार्थी अपनी बुद्धिके अनुसार उस सामग्रीमेंसे अपने प्रयोगकी वस्तु निकालकर लेख लिखता है। यह एक प्रकारसे पथ-प्रदर्शन-प्रणाली ही है। इसमें विद्यार्थीको स्वावलम्बनका अवसर तो मिलता ही है, साथ ही उसे यह भी ज्ञान होता चलता है कि एक ही विषयको दो या कई विद्वान् लेखक किन दृष्टियोंसे देखते और किस प्रकार विवेचन करते हैं। इस विधिसे विद्यार्थियोंको विभिन्न लेखन-शैलियोंका भी ज्ञान होता चलता है, नए तथा समुचित शब्दोंका प्रयोग भी आ जाता है और उनकी विवेचना-शक्ति भी बढ़ती है।

सूत्र-विधि

इस विधिमें छात्रोंकी सहायतासे अध्यापक वर्ण्य विषयके सूत्र श्यामपट्टपर लिखते हैं, जिनके अनुसार विद्यार्थी पूरा लेख तैयार कर लेते हैं। इन सूत्रोंमें संगति और सक्रमता होनी चाहिए। यह विधि प्रारम्भसे लेकर अन्ततक काम आ सकती है और केवल उन्हीं जीवन-चरितों तथा कथाओंके लिये प्रयुक्त होनी चाहिए जो विद्यार्थी न जानते हों।

तर्क या विमर्श-विधि

यह विधि उन विषयोंके लिये प्रयुक्त होती है जिनके पक्ष या विपक्षमें बहुत कुछ कहा जा सके और जिनके विषयमें आचार्योंमें मतभेद हो। सभी सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक समस्याओंपर इसी विधिसे रचना कराई जा सकती है। इसका विधान यह है कि एक दिन पूर्व कक्षाको विषय बता दिया जाय। अगले दिन कक्षामें दो दल बनाकर वर्ण्य विषयपर वाद-विवाद करा दिया जाय। जब विद्यार्थी कक्षामें

उस विषय पर वाद-विवाद तथा विचार करके उसके दोनों पक्ष भलीभाँति समझ लें तब वह लिखनेके लिये दिया जाय।

अनुकरण-विधि

इस विधिमें एक विशिष्ट शैलीमें लिखा हुआ कोई लेख, नाटक, आख्यान या वर्णन छात्रोंको दे दिया जाता है और यह आदेश दे दिया जाता है कि उसी निर्दिष्ट शैलीमें किसी स्वतः चुने हुए विषयपर मौलिक रचना करो। इस विधिमें विषय-चयन तो छात्र करते हैं, केवल शैलीका निर्देश अध्यापक करते हैं और उस शैलीके मुख्य तत्त्व और गुण बता देते हैं।

विचार या अध्ययन-विधि

इस विधिमे विद्यार्थिगण परस्पर विचार-विमर्श करके, अपने गुरुजनोंके साथ परामर्श करके अथवा पुस्तकोंका आश्रय लेकर निबन्ध लिखते हैं। यह विधि उन उच्च कक्षाओंके लिये है जहाँ अध्यापकका बहुत कम सहारा लिया जाता है।

शब्द-प्रदान-विधि

प्रायः सब प्रकारके निबन्ध-शिक्षणके लिये आवश्यक है कि लेखनके लिये विषय देते समय अध्यापक उस लेखके उपयुक्त शब्दावली देकर उनका प्रयोग बता दे। इससे छात्रोंको ऐसे उचित शब्द मिल जाते हैं जिनका प्रयोग वे आत्मसात् कर लेते हैं और साथ ही अध्यापक-भी बहुत संशोधनकी झंझटसे बच जाता है।

रूपरेखा-विधि

इस विधिका प्रयोग ऐतिहासिक कथा, कहानी, जीवन-चरित, वर्णनात्मक या कथात्मक लेखोंकी शिक्षाके लिये करना चाहिए। इसमें अध्यापक ही छात्रोंकी सहायतासे या स्वतः सक्रम रूपरेखा बनाकर छात्रोंको दे देता है और उसी रूपरेखाके क्रमानुसार छात्र रचना करते हैं।

आदर्श-विधि

यों तो सब प्रकारके रचना-स्वरूपोंकी शिक्षा देते समय अध्यापकको उन-उन स्वरूपोंके अनुरूप शैलियोंमें एक आदर्श-रचना प्रस्तुत करनी चाहिए किन्तु आदर्श-विधिमें अध्यापकको कई लियोंमें एक ही विषय लिखकर अथवा कई शैलियोंमें लिखे हुए एक ही विषयके वर्णन छात्रोंके सम्मुख प्रस्तुत करके, उन शैलियोंकी विशेषता बताकर यह आदेश देना चाहिए कि इनमेंसे कोई भी शैली चुनकर उसीमें निबन्ध लिखो। अनुकरण-शैलीमें तो एक ही आदर्श दिया जाता है कि इसके अनुकरणपर रचना करो किन्तु इस विधिमें अनेक आदर्श प्रस्तुत किए जाते हैं और छात्रोंको यह छूट दे दी जाती है कि वे जो शैली चाहें अपनालें। उच्च कक्षाओंमें ही इस विधिका प्रयोग करना चाहिए।

प्रवचन-विधि

प्रवचन विधिमे अध्यापक किसी निर्दिष्ट विषयपर प्रवचन करता है, उसका पूरा विवरण मौखिक रूपसे दे डालता है और फिर छात्रोंको लिखनेका आदेश देता है। कहानियाँ तथा शास्त्रीय विषयोंकी रचनाका शिक्षण इसी विधिसे करना चाहिए। इससे छात्रोंकी स्मृति-शक्ति पल्लवित तथा संवर्द्धित होती है और उनकी धारणा-शक्ति व्यवस्थित होती है। इसका प्रयोग भी ऊँची श्रेणीमें ही हो सकता है।

अन्तर्योग-विधि

आजकल शिक्षा-शास्त्रियोंका मत है कि एक विषयकी शिक्षा देते समय अन्य तत्सम्बद्ध विषयोंके साथ उसका अन्तर्योग करते रहना चाहिए। इसलिये शिक्षण ऐसे ढंगसे व्यवस्थित करना चाहिए कि रचनाके साथ व्याकरण तथा उस विषयकी पाठ्य-पुस्तकमे पढ़े हुए ज्ञानका ठीक सम्बन्ध स्थापित हो सके और प्रयोग किया जा सके।

विषय-प्रबोधन-विधि

कविता या नाटक-रचनाकी प्रारंभिक शिक्षामें अध्यापकको विषय तथा अलंकरण-सामग्रीका स्पष्ट निर्देश कर देना चाहिए जिससे छात्रको इतना अवलम्ब मिल जाय कि वह विषय-निरूपणके बदले उसकी रूपसज्जामें अपनी कल्पना-शक्ति अधिक लगावे।

निर्देश-विधि

निर्देश-विधिमें अध्यापकको कविता या नाटकके तत्त्व, रचना-कौशलके सिद्धान्त, प्रयोगकी विधि तथा उनके प्रभावका पूरा विवरण देकर स्वतन्त्र रचनात्मक साहित्य (क्रिएटिव लिटरेचर) की सृष्टिके लिये प्रेरणा देनी चाहिए।

निबन्ध-रचना तथा कथा-रचनाको छोड़कर शेष सभी प्रकारकी भाषा-रचनाकी शिक्षा-विधियोंके साथ अध्यापकको अनिवार्य रूपसे आदर्श रचनाका स्वरूप तथा उचित शब्द-भाण्डार अवश्य प्रस्तुत करना चाहिए।

रचनाकी व्यवस्था

ऊपर कहा जा चुका है कि वाक्य-रचनाका अभ्यास संवाद या प्रश्नोत्तर-प्रणालीसे कराना चाहिए। उदाहरणके लिये अभ्यासार्थीसे प्रश्न किया गया—

तुम्हारा क्या नाम है ?

वह उत्तर देगा—

मेरा नाम राम है।

पुनः प्रश्न हुआ—

तुम क्या करते हो ?

उत्तर मिलेगा—

मैं पढ़ता हूँ।

इस प्रकार विद्यार्थीको स्वयं धीरे-धीरे वाक्य-रचनाका अभ्यास होने लगता है। उक्त अभ्यास हो चुकनेपर चित्र-वर्णन-द्वारा उसका विकास करा देना चाहिए। एक चित्र लीजिए—
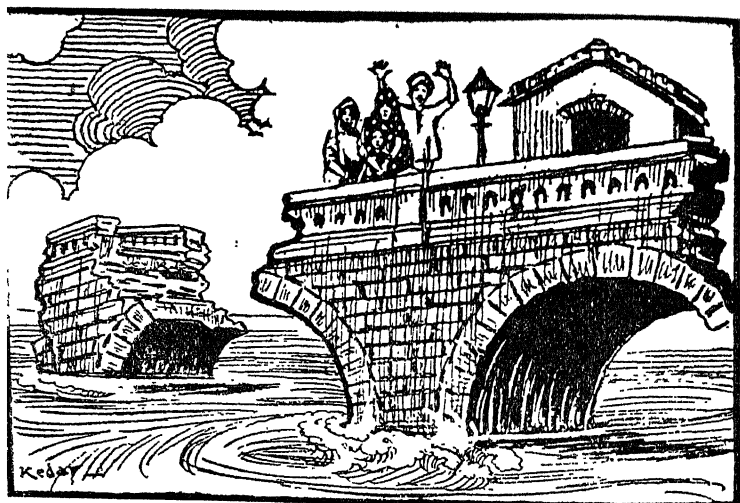
इस चित्रपर इस प्रकार प्रश्नोत्तर होगा—

प्रश्न—तुम चित्रमें क्या देखते हो?

उत्तर—एक नदी बह रही है। उसपर पुल बना है।

प्रश्न—पुलकी क्या दशा है?

उत्तर—टूट गया है।

प्रश्न—पुल कैसे टूटा है?

उत्तर—नदीकी बाढ़से।

प्रश्न—टूटे हुए भागपर क्या देखते हो?

उत्तर—एक झोंपड़ी।

प्रश्न—यह झोंपड़ी किसकी है?

उत्तर—पुलके रखवालेकी।

प्रश्न—झोंपड़ीके पास क्या देखते हो ?

उत्तर—कुछ लोग खड़े हैं।

प्रश्न—कौन लोग हैं ?

उत्तर—पुलका रखवाला, उसकी स्त्री और उसके बच्चे।

प्रश्न—वे क्या कर रहे हैं ?

उत्तर—वे हाथ उठाए हुए हैं।

प्रश्न—क्यों ?

उत्तर—वे सहायता चाहते हैं।

प्रश्न—वे क्यों सहायता चाहते हैं ?

उत्तर—क्योंकि नदीमें उस भागके भी बह जानेका डर है।

प्रारंभमें तो प्रायः विद्यार्थी प्रश्नोंका पूर्ण उत्तर नहीं दे पायँगे। वे भाव मात्र कहेंगे। यदि उनसे पूछा जाय कि '**तुम्हारा नाम क्या है**' तो वे छूटते ही उत्तर देंगे—**धनुर्धर**। वे संभवतः '**मेरा नाम धनुर्धर है**' नहीं कह पायँगे। पर इससे अध्यापकको घबराना नहीं चाहिए। धीरे-धीरे ये आंशिक उत्तर पूर्ण बन जायँगे।

चित्र-वर्णन

चित्र-वर्णनकी अवस्थामें ही कल्पनाका मिश्रण होना भी आरम्भ हो जाता है। पहले विद्यार्थी वस्तुस्थितिका ही वर्णन करता है, फिर धीरे-धीरे अपनी कल्पना-शक्तिका उपयोग भी करने लगता है।

चित्रवर्णनमें निम्नलिखित क्रमका विशेष ध्यान रखना चाहिए।—

(क) पहले चित्रमें प्रदर्शित स्थानोंका वर्णन छात्रोंसे कहलाया जाय।

(ख) फर चित्रमें वर्णित मनुष्यों तथा अन्य जीवोंके रूप, रंग, वेश आदिका वर्णन कराया जाय।

(ग) तत्पश्चात् चित्रमें वर्णित मनुष्यों और जीवोंकी क्रियाका वर्णन करा लिया जाय।

(घ) अन्तमेँ कल्पनाको उत्तेजित करनेवाले प्रश्न करके छात्रोँ की कल्पना-शक्ति उद्बुद्ध कराई जाय। ऊपर 'नदीपर टूटे पुल'वाले चित्रपर जो प्रश्न किए गए हैँ उनके अन्तमेँ ये प्रश्न कल्पनाके लिये उत्तेजक हो सकते हैँ—

ये किससे सहायता माँग रहे हैं? (जनतासे)

लोग इनकी किस प्रकार रक्षा करेंगे? (नावसे)

नदीके इतने वेगमें नाव कैसे आयगी? (रस्सेके सहारे)

इसी प्रश्नोत्तर-प्रणालीके साथ-साथ उद्बोधन-प्रणाली भी चलाई जा सकती है।

कथा-कहानी

इसी दूसरी अवस्थामेँ ही चित्र-वर्णनके पश्चात् कथा-कहानीका आगमन होता है। अध्यापकको चाहिए कि विद्यार्थियोँको स्वयं कोई कहानी सुनाकर फिर वही कहानी उनके मुखसे थोड़ी-थोड़ी करके कहला-ले। कभी-कभी अध्यापकको कुछ दिन पहले सुनाई हुई पुरानी कहानी भी विद्यार्थियोँ से दुहरवा लेनी चाहिए। इस प्रकारका अभ्यास हो जानेपर वर्णन करनेकी शिक्षा देनेमेँ बड़ी सुविधा होती है।

वर्णन

बालकोँ मेँ वर्णन करनेकी स्वतः रुचि होती है। वे मेले-ठेले आदिमेँ जो कुछ देखते-सुनते हैँ उसकी सूचना शीघ्रसे शीघ्र दूसरोँको देनेके लिये उतावले रहते हैँ। प्रायः देखा जाता है कि कोई वस्तु देख आनेके पश्चात् द्वारसे ही बच्चे उसका वर्णनात्मक विवरण देने लगते हैँ। इसलिये उन्हेँ वर्णन-द्वारा रचनाका अभ्यास करानेमेँ सुविधा होती है। पास-पड़ोस, हाट-बाट, मन्दिर-मेले, ब्याह-बरात, नदी-नाले, खेत-खलिहान, ताल-पोखरे आदि गाँव और नगरके समीपके स्थानोँ और उत्सवोँका वर्णन उनसे बड़ी सरलतासे कराया जा सकता है। इस प्रकार उत्तेजित करनेसे उनकी स्मृति, कल्पना तथा रचना-शक्ति स्वयं उत्साहित होकर अग्रसर होने लगती है।

शिष्ट-भाषण

इसके पश्चात् विद्यार्थीको यह शिक्षा भी अवश्य देनी चाहिए कि किस अवसरपर, किससे, किस प्रकार बातचीत करनी चाहिए, किसीके यहाँ ब्याह-बरात, काम-काजपर जाकर किस प्रकार हर्ष या शोक प्रकट करना चाहिए, अभ्यागतसे किस प्रकार बातचीत करके उसे मधुर वचनों-से परितृप्त करना चाहिए, अपने बड़ों और छोटोंसे किस प्रकार संलाप करना चाहिए। इन बातोंकी शिक्षा मनुष्यकी जीवन-यात्रामें सदा काम आनेवाली होती है। इसके शिक्षणका विस्तृत विवेचन हम बोल-चालकी शिक्षामें पीछे कर चुके हैं।

लिखित रचनाका आरम्भ

इस मौखिक रचनाके साथ ही साथ लिखित रचनाकी अवस्था भी आरम्भ हो जाती है। मौखिक रचनामें चित्र-वर्णनकी शिक्षाका आरम्भ होते ही वही वर्णन विद्यार्थी-द्वारा लिखाया जा सकता है। अध्यापकको चाहिए कि चित्रकी मुख्य बातें श्यामपट्टपर लिख दे, उसके आधारपर विद्यार्थियोंको मौखिक वर्णन करनेकी प्रेरणा करे, इसके पश्चात् उनसे कथा-कहानीकी पुनरावृत्ति करावे और फिर विद्यार्थियोंको कहानी लिखनेके लिये कहे। इसीके साथ हाट-बाट या किसी दृश्यावलीका वर्णन भी लिखाया जा सकता है।

तीसरी अवस्था

तीसरी अवस्थामें विद्यार्थी इस योग्य हो जाता है कि उसे अनुच्छेद-रचना सिखाई जा सके। लिखित विषयको उचित स्थानोंपर विलग करके एक-एक बातके लिये उचित स्थान या विश्राम देते हुए नवीन विषयकी चर्चा नवीन पंक्तिसे आरंभ करनेकी क्रियाको अनुच्छेद-रचना कहते हैं। इसी समय विद्यार्थीको दिनचर्या लिखनेकी विधि बताकर दिनचर्य्या लिखनेकी भी प्रेरणा दी जा सकती है। इतना अभ्यास हो चुकनेपर पाठ्य-पुस्तकमें आई हुई कथा-कहानियाँ पहले तो लेखकी भाषामें और फिर छात्रोंकी

अपनी भाषामें लिखवानी चाहिएँ। इस स्थलपर उन्हें रूढ़ोक्तियों (मुहावरों) और लोकोक्तियोंके समुचित प्रयोगसे परिचित कराकर उनसे काल्पनिक, सरल वर्णन करनेको कहा जाय और फिर अपनी रचनापर समुचित शीर्षक लगानेकी कलाका अभ्यास कराया जाय। कलाका अर्थ यह है शीर्षकमें स्वतः आकर्षण होना चाहिए। यदि आपने वर्षाका वर्णन लिखवाया है तो उसके शीर्षक इतने प्रकारके हो सकते हैं— 'जल-प्रलय, पानी ही पानी; वाह री बरसात; टिप-टिप, टिप-टिप; धरती सूखी बैल पियासा, ए मौला तू पानी दे; बरसो राम धड़ाकेसे; काली घटाएँ; बादल घिर आए; खेत भर गए; पपीहा बोल रहा है; मोर नाच उठा; धुआँधार पानी; बरसो, बादल बरसो; आओ बर्षा! स्वागत है; उमड़े हुए बादल; धरतीकी प्यास; हरियाली छा गई; वर्षाकी बहार; सावनकी फुहारें; वह अँधेरी रात; सावन-भादों आदि।

चौथी अवस्था

चौथी अवस्थामें विद्यार्थीको साधारण तथा विशेष व्यापार-विषयक तथा सम्बन्धियोंसे पत्र-व्यवहार करनेका ढंग बता देना चाहिए। इसीके साथ साथ उसे निमन्त्रण-पत्र, आवेदन-पत्र, सूचना, अभिनन्दन और अभ्यर्थना (अपील) आदि लिखनेकी भी शिक्षा देनी चाहिए। इसके अनन्तर उसे समाचार, विज्ञापन तथा आत्मचरित लिखनेकी कला बतलानी चाहिए।

निबन्ध-रचनाका सूत्रपात

अब विद्यार्थीमें इतनी समझ आ जाती है कि उससे निबन्ध-रचनाका अभ्यास कराया जा सके। अतः इस अवस्थामें उसे कथात्मक, वर्णनात्मक और विचारात्मक निबन्धोंका परिचय देकर उससे निबन्ध लिखवाना आरम्भ कर देना चाहिए। इसी समय उससे महापुरुषोंकी जीवनी और अपनी या किसी वस्तुकी कल्पित रामकहानी भी लिखवानी चाहिए किन्तु पूर्णतः मौलिक कहानीकी रचना करनेके लिये उसे बाध्य नहीं

करना चाहिए। पहले उससे दूसरोंकी लिखी हुई कहानियोंके आधारपर कहानी लिखवानेका अभ्यास कराना चाहिए और तत्पश्चात् स्वतंत्र कहानी-लेखनके लिये कहानीके तत्त्व और कौशल बताकर उसे उत्साहित करना चाहिए। विद्यार्थीमें जब उक्त योग्यता आ जाय तब उसे संवाद, सरल एकांकी नाटक तथा वार्त्तालाप आदि लिखनेकी ओर प्रवृत्त करना उचित है।

इस अवस्थाकी अन्तिम सीढ़ी अनुवाद है। विद्यार्थीका जिन दो भाषाओंसे परिचय हो उनका परस्पर अनुवाद करनेका काम भी विद्यार्थीको देते रहना चाहिए।

पाँचवीं अवस्था

उक्त पद्धतिसे शिक्षित विद्यार्थी पाँचवीं अवस्थामें गद्य और पद्यकी रचनामें समर्थ हो जाता है। अतः उसे निबन्ध, आलोचना, नाटक, श्रव्य रूपक (रेडियो फ़ीचर), गद्य-काव्य, कविता और तुकबन्दी आदिके तत्त्वों तथा सिद्धान्तोंका सम्यक् परिचय देकर उससे इन रचनाओंका प्रारम्भिक अभ्यास करना चाहिए।

छठी अवस्था

छठी अवस्थामें विद्यार्थीको लिखित रचनाकी पूर्ण योग्यता प्राप्त हो जाती है। इस अवस्थामें विद्यार्थी संक्षेपीकरण, साहित्य-समीक्षा, श्रव्य वार्त्ता (रेडियो टॉक), सम्पादकीय लेख और पत्र-सम्पादनकी शिक्षा भी प्राप्त कर सकता है। यद्यपि इतना हो चुकनेपर उसकी रचना-विषयक शिक्षा पूर्ण हो जाती है किन्तु केवल वर्णनात्मक, कथात्मक, वितर्कात्मक तथा विचारात्मक निबन्ध लिखवानेसे ही हमारा कर्त्तव्य पूर्ण नहीं हो जाता। पाठशालासे निकलनेके पश्चात् नागरीके छात्रको इस योग्य हो जाना चाहिए कि वह साहित्यिक रचनाओंके सभी रूपोंसे परिचित हो कर उनमें रचना कर सके।

रचना-सम्बन्धी कुछ ज्ञातव्य बातें

प्रायः हमारे अध्यापक-गण रचना-सम्बन्धी एकरूपतापर ध्यान नहीं देते किन्तु भाषा-संस्कार तथा निबन्ध-सौन्दर्य दोनों दृष्टियोंसे यह अत्यन्त आवश्यक है। इस एकरूपताके लिये ये नियम हैं—

१. निबन्ध या रचनाको लेख-बद्ध करनेसे पूर्व उसके सब सूत्र एक पृष्ठपर निम्नलिखित क्रमसे लिख लो—

   क. प्रस्तावना : जिसके अन्तर्गत केवल विषयकी संक्षिप्त भूमिका या उसका परिचय हो।

   ख. विस्तार : जिसके अन्तर्गत विषय-निरूपण हो। विषय यदि कथा-कहानी, जीवन-चरित आदि हो तो उसकी क्रमिक घटनाओंका उल्लेख हो, यदि विवेचनात्मक हो तो पहले विरोध पक्षकी एक-एक बातका उल्लेख किया जाय, तत्पश्चात् समर्थनात्मक बातोंका उल्लेख करके विरोधी पक्षका खण्डन किया जाय।

   ग. उपसंहार।

२. रचना प्रारंभ करते समय निम्नलिखित बातोंपर छात्रोंका ध्यान दिलाना चाहिए—

   क. नरकुलकी लेखनीसे लिखो।

   ख. रचनापर उचित, कलात्मक, आकर्षक तथा रचनाके विषयका परिचायक शीर्षक दो।

   ग. प्रत्येक पृष्ठपर बाईं ओर थोड़ी पट्टी छोड़कर लिखो।

   घ. प्रत्येक अनुच्छेद तीन अक्षरोंका स्थान छोड़कर प्रारंभ करो।

   ङ. एक-एक वर्णनीय बात एक-एक अनुच्छेदमें लिखो और उसका भी उपशीर्षक अनुच्छेदके प्रारंभमें बाईं ओर देते चलो जैसे इस पुस्तकमें प्रत्येक अनुच्छेद-पर लगे हुए हैं।

३. एकरूपताके लिये निम्नलिखित बातोंपर भी ध्यान दिलाओ—

   क. नागरी लिखते समय देवनागरी अक्षरोंका ही प्रयोग करो जो ये हैं—

अ आ इ ई उ ऊ ए ऐ ओ औ अं अः क ख ग घ ङ च
छ ज झ ञ ट ठ ड ढ ण त थ द ध न प फ ब भ म य
र ल व श ष स ह क्ष त्र ज्ञ श्र प्र।

इनमें कुछ नई बनावट के अक्षर आ गए हैं जिनका प्रयोग मराठीमें होता है, नागरीमें नहीं। जैसे—

अ, झ, ल, ळ, श, क्ष

कुछ अशुद्ध अक्षर भी चल पड़े हैं जिनका पूर्ण बहिष्कार करना चाहिए जैसे—

अि, अी, अु, अू, अे, अै ए, क्ष, त्र।

ह्रस्व 'इ' की मात्रा 'ि' के बदले दाईं ओर तनिक सी पाई (ि लटकाकर लिखनेकी जो नई अशुद्ध प्रणाली चली है उसका बहिष्कार करो। देवनागरी लिपिके प्रकरणमें हम इन विकृत अक्षरोंका पूरा वर्णन दे आए हैं।

ख. अनुनासिकके लिये चन्द्रबिन्दुका अनिवार्य प्रयोग करो जैसे—
आँख, काँटा, गाँव, पाँच, गेँद, मेँ, हैँ, हँसना आदि।
इन्हें **आंख, कांटा, गांवं, पांच गेंद, में, हैं, हंसना** लिखना अशुद्ध है।

ग. जिन शब्दोंमें समास हों उन्हें मिला दो या उनके बीच एक आड़ी पाई दे दो जिससे समास किए हुए शब्द स्पष्ट हो जायँ जैसे—
पाठ्य-सामग्री, रचना-शिक्षण, विचार-विश्लेषण आदि।
जहाँ समासके सब शब्द आपसमें घुल-मिल गए हों उन्हें मिलाकर ही लिखना चाहिए जैसे—

घुड़सवार (घोड़ेका सवार), पनघट (पानीका घाट), खटकीरा (खाटका कीड़ा), पनचक्की (पानीकी चक्की), उड़नखटोला (उड़नेवाला खटोला)।

घ. भाषा शुद्ध रहे अर्थात् कई बोलियोँके शब्दोँकी मिलावट न हो।

ङ. शैलीकी एकरूपता रहे अर्थात् जिस भाषा-शैली या भाव-शैलीमे प्रारंभ किया हो उसका अन्ततक निर्वाह हो।

च. भावकी अभिव्यक्ति स्पष्ट हो अर्थात् जो बात कही जाय वह किसी प्रकारकी विरोधी या अन्यार्थ-बोधक ध्वनि न दे जैसे—

'रमेशने अपने नौकरोँसे बुद्धूको पिटवाया।'

इस वाक्यका अर्थ यह है कि दोष रमेशका है; किन्तु

रमेशके नौकरो ने बुद्धूको पीटा।'

इस वाक्यमेँ ध्वनि यह है कि रमेशका दोष नहीँ, नौकरोँका दोष है।

छ. विभक्ति या कारक-चिह्न शब्दसे मिलाकर लिखो जैसे—

रामने घोड़ेसे उतरकर बालकका नाम पूछा : शुद्ध

राम ने घोड़े से उतरकर बालक का नाम पूछा : अशुद्ध

ज. आकारान्त पुल्लिग शब्दके साथ जब विभक्ति लगती है तो उसके अन्तिम 'आ' का 'ए' हो जाता है जैसे 'घोड़ा' शब्दमेँ विभक्तियाँ लगकर उसके ये रूप हो जायँगे—

घोड़ेने, घोड़ेको, घोड़ेसे, घोड़ेके लिये, घोड़ेका, घोड़ेमेँ, घोड़ेपर।

झ. 'जायगा, जायेगा, जाएगा, जावैगा, जावेगा' मेँ से 'जायगा' का प्रयोग करो।

और भी जो इस प्रकारकी एकरूपता-सम्बन्धी बातेँ होँ उनपर विशेष ध्यान दिलाना चाहिए।

रचना-शिक्षणकी क्रमिक विषय-योजना

ऊपर हमने विभिन्न अवस्थाओँमेँ रचनाके प्रकारकी जो व्यवस्था बताई है उसे हम अध्यापकोँकी सुविधाके लिये विस्तारसे नीचे दे देते हैँ—

अवस्था	विषय तथा विस्तार
पहली (५ से ७ वर्ष) मौखिक	१. वाक्य-रचना २. घरेलू मुहावरोंका प्रयोग ३. बातचीतके द्वारा विशेष अवसरोंके योग्य भाषाका प्रयोग अर्थात् सामाजिक शीलकी भाषा
दूसरी (८ से १० वर्ष) मौखिक तथा लिखित	१. चित्र-वर्णन २. कथा-कहानी ३. सरल वर्णन (घर, पास-पड़ोस, पाठशाला, हाट-बाट, आस-पासके दृश्य, नदी-नाले, पहाड़ियाँ, मेले-ठेले, संगी-साथी, पशु-पक्षी, पेड़-पौधे, खेती बारी, फूल-पत्ते, गाड़ी-घोड़े, घरेलू काम-धन्धे, खेल-कूद, तैरना, पेड़पर चढ़ना आदि)
तीसरी (११ से १२ वर्ष) लिखित	१. अनुच्छेद-रचना २. दिनचर्य्या ३. कथा-कहानी, (पाठ्य-पुस्तकोंमें पढ़ी या सुनी हुई कथाओंकी आवृत्ति) ४. सरल यात्रा-वर्णन (अनुभूत तथा काल्पनिक) (पैदल, बैलगाड़ी, हाथी, ऊँट-गाड़ी या ऊँट, घोड़ेगाड़ी, इक्के, घोड़े, भैंसागाड़ी या भैंसे, गधे, साइकिल, पालकी, रिक्शे या नावपर)

अवस्था	विषय तथा विस्तार
चौथी (१३ से १६ वर्ष) लिखित	१. यात्रा-वर्णन (अनुभूत तथा काल्पनिक): [मोटर-गाड़ी, रेलगाड़ी, विमान, जल-पोत, बारहसिंगे तथा कुत्तेकी फिसलन-गाड़ी (स्लेज) से] २. पत्र : [घरेलू तथा कामकाजी, निमन्त्रण, आवेदन, सूचना, अभिनन्दन, अभ्यर्थना (अपील), समाचार, विज्ञापन ।] ३. जीवन-चरित ४. रामकहानी, आपबीती (अनुभूत तथा काल्पनिक) ५. छोटे निबन्ध (कथात्मक तथा वर्णनात्मक) ६. कहानियाँ (सुनी हुई, पढ़ी हुई, अनूदित या मौलिक) ७. संवाद (वार्त्तालाप, हास्य-विनोद, चुटकुले) ८. अनुवाद (दूसरी भाषाओंका नागरीमें)
पाँचवीं (१५ से १६ वर्ष) लिखित	१. सरल निबन्ध (सब प्रकारके) २. सरल आलोचना ३. नाटिका या एकांकी नाटक ४. छोटी कहानियाँ ५. तुकबन्दी तथा कविता

अवस्था	विषय तथा विस्तार
छठी (१७ से ऊपर) लिखित	१. साहित्यिक निबन्ध (अध्ययनात्मक, समीक्षात्मक, विचारात्मक, गवेषणात्मक) २. समालोचना (सामाजिक, राजनीतिक, साहित्यिक तथा धार्मिक) ३. साहित्यिक समीक्षा (लेख, पुस्तक, लेखक या किसी विशेष रचनाकी) ४. नाटक (धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक वैज्ञानिक) तथा श्रव्य रूपक (रेडियो फ़ीचर ५. उपन्यास ६. गद्य-काव्य ७. कविता ८. अन्तर्दर्शन (भूमिका अथवा प्रस्तावना) ९. पुस्तकोंकी समीक्षा १०. संक्षेपीकरण ११. सम्पादन (सम्पादकीय लेख तथा समाचारोंका सम्पादन, विज्ञापनकी व्यवस्था आदि) १२. टीका १३. श्रव्यवार्त्ता (रेडियो टौक)

१०

शैली तथा रचना-कौशल

भाषा और भावका अलङ्करण

अभीतक हमने रचनाके विविध रूपों तथा उन्हें सिखानेकी विधियोंका ब्यौरेवार वर्णन करके रचनाके एक अंग अर्थात् विषय-सामग्रीकी व्यवस्थापर ही अपने विचार परिमित कर रक्खे थे। किन्तु सुन्दरसे सुन्दर सामग्री भी तबतक व्यर्थ है जबतक उसे उचित तथा सुन्दर भाषाका आवरण न पहनाया जाय। भाषाका प्रयोग अभ्याससे आता है। यह अभ्यास या तो बहुत पढ़नेसे आता है या बहुत लिखनेसे या अच्छी भाषा बोलनेवालोंका संसर्ग करनेसे; क्योंकि अधिक पढ़नेवाला अच्छा वक्ता होता है और अधिक लिखनेवाला अच्छा लेखक।

लेखन और शैलीका सम्बन्ध

लेखन और शैलीका लहँगा-ओढ़नीका साथ है। बिना शैलीकी शिक्षा दिए रचना-शिक्षा व्यर्थ है। भाषाकी दृष्टिसे अभिव्यक्तिकी दो रीतियाँ बतलाई जाती हैं जिन्हें शैली और शक्ति कहते हैं। परन्तु शक्ति तो शैली विशेषका ही एक गुण है। शैलीके अन्तर्गत दो बातें आती हैं—१. विषय और २. भाषा। विषय और भाषाके भी दो-दो विभाग हैं। विषयमें पहली बात है विषयान्तर्गत दृश्यका वर्णनात्मक चित्र और दूसरी बात है विषयान्तर्गत मानव-चरित्रका चित्रण।

शब्द और अर्थ

लिखने और बोलनेमें शब्द-भेदके कारण अर्थ-भेद होता है पर कभी-कभी केवल बोलनेमें उच्चारण-भेदसे भी अर्थ-भेद हो जानेकी

सम्भावना रहती है। अर्थ-भेद तीन प्रकारका होता है जिसे वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ कहते हैं। तीनोंका एक ही उदाहरण लीजिए—

(१) **मैं शिमलेमें रहता हूँ। [मैं शिमला नामक नगरमें रहता हूँ।]**

(२) **मैं शिमलेमें रहता हूँ। [मैं शिमला नगरके आस-पास रहता हूँ।]**

इस लक्ष्यार्थको अधिक स्पष्ट करनेके लिये लोग लिखते हैं—

यह समझिए कि मैं शिमलेमें ही रहता हूँ।'

(३) **मैं शिमलेमें रहता हूँ। [मैंने ऐसी व्यवस्था कर ली है कि अपने काशीवाले घरमें ही मुझे वह ठंढक और तरावट मिल जाती है जो शिमलेमें प्राप्त हो सकती है।]**

इस वाक्यके व्यंग्यार्थको अधिक स्पष्ट करनेके लिये लोग प्रायः इस प्रकार लिखते-बोलते हैं—

'मैंने तो काशीमें ही शिमला बना लिया है।'

उक्त उदाहरणोंमें एक ही वाक्य केवल अर्थ-भेदके कारण वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थका उदाहरण बन गया है।

भाषा-शैलियाँ

हिन्दीमें भाषा-विषयक कई शैलियाँ प्रचलित हैं। उर्दूके चोर-द्वारसे हिन्दीके गढ़में प्रवेश करनेवाले प्रायः रूढ़ोक्तियों (मुहावरों) से अधिक काम लेते हैं। दूसरी ओर सनातनी हिन्दीके लेखक संस्कृत न जाननेपर भी तत्सम शब्दोंका ही प्रयोग करते हैं और रूढोक्तियोंको अछूत समझकर उन्हें अपनेसे दूर ही रखते हैं। तीसरे वर्गके लोग मध्यम मार्गवर्त्ती हैं। उनके समीप भाषा उस नटीके समान है जो विषयके अनुसार अपनी वेशभूषामें निरन्तर परिवर्त्तन करती चलती है। परन्तु भाषाको इच्छानुकूल नचानेके लिये, उसके विविध रूपोंका परिचय रखनेके साथ-साथ उसपर पाण्डित्यपूर्ण अधिकारकी आवश्यकता होती है। अतः सभी पक्षोंसे विचार करने पश्चात् यही कहा जा सकता है कि अच्छी शैली

वही है जो लोक-प्रयोगोंसे समन्वित हो और जो अपनी, अपने देशकी जान पड़े, जिसमें देशी शब्दोंकी संख्या अपेक्षाकृत अधिक हो, जिसके द्वारा उचित प्रभाव डाला जा सके और जिसमें उचित तथा शिष्ट शब्दोंका प्रयोग हो।

शैलियाँ

प्रभावोत्पादक होना ही शैलीका प्रमुख गुण है। इस गुणकी प्राप्तिके चार उपाय हैं—भावुकता, तार्किकता, पुनरावृत्ति और प्रमाण-बहुलता। भावुकतावली आवेगात्मक शैली वहाँ काममें लानी चाहिए जहाँ जन-समूहको सम्बोधित करके उनका हृदय वशमें करना हो। इसका प्रभाव सदा क्षणिक होता है। विद्वानोंमें आदर पानेके लिये तार्किकतावली शैली भारी सहारा देती है। किसी बातको बार-बार दुहराते हुए समझाते चलनेकी शैलीका प्रयोग विद्यार्थियोंके उपयोगमें आनेवाली पुस्तकोंके लिये आवश्यक ही नहीं अनिवार्य्य भी है। प्रमाण-बहुला शैलीका प्रभाव मध्यम श्रेणीके लोगोंपर बहुत पड़ता है। अतः, आवश्यकतानुसार इनका प्रयोग करना चाहिए।

भाषा-शैलियाँ

विभिन्न रूपोंके विषय उपस्थित करनेकी भाषा-शैलियोंमें तीन ही अधिक प्रसिद्ध हैं—

१. ठेठ तद्भवात्मिका
२. रूढोक्ति (मुहावरे) से पूर्ण
३. संस्कृत-निष्ठ साहित्यिक शैली

नीचे एक ही वाक्यको हम तीनों शैलियोंमें प्रस्तुत कर रहे हैं—

१. ठेठ तद्भवात्मिक शैली—

तड़के-तड़के एक बन्दरने आकर मेरी सारी पोथियाँ फाड़ डालीं।

२. रूढोक्ति या मुहावरेसे पूर्ण—

अभी पौ नहीं फटी थी कि एक ललमुहेंने घुसकर मेरी एक-एक पोथी चिन्दी-चिन्दी कर डाली।

३. संस्कृत-निष्ठ साहित्यिक शैली—

आज ब्रह्मवेलामें एक शाखामृगने मेरी सम्पूर्ण पुस्तकें खंड-खंड कर डालीं।

आजकल विदेशी तथा विभिन्न प्रादेशिक शब्दोंसे भरी एक हिन्दुस्तानी शैली भी चली है—

आज सुबू एक बन्दरने मेरी किताबोंके वर्क़-वर्क़ टीअर कर डाले।

इसीको उर्दूवाले यों लिखेंगे—

इमरोज़ बवक्ते शफ़क़ यक बूज़नाने बन्देकी तमाम कुतुब नेस्त नाबूद कर डालीं।

नागरीका व्यापक प्रचार हो जानेके कारण अहिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्रोंके लोग इस प्रकारके वाक्य भी लिखते हैं—

'आज सकाळ एक वाँदराने मेरी सारी पुस्तकें चिन्ध्या कर डालीं'।

कभी-कभी इस प्रकारकी शैलीके बेढंगे उदाहरण भी मिल जाते हैं—

मैंने मौर्निङ्ग पेपरमें यह न्यूज़ पढ़ी कि अलाहाबादके कुछ गुन्डे रइसोंने एक स्कौलर पर झूठा केस चलाया और मैजिस्ट्रेटको इन्फ्लुएन्स करके उनका कन्विक्शन करा दिया।

विदेशी या विभिन्न प्रादेशिक शब्दोंसे भरी शैलीका प्रयोग वे ही लोग करते हैं जो नागरी भाषाकी प्रकृतिसे अपरचित हैं और जिन्हें नागरी नहीं आती। यह शैली सर्वथा त्याज्य है क्योंकि खिचड़ी भाषा लिखना या बोलना भाषाका दोष है, गुण नहीं।

वाक्योंकी बनावट

वाक्योंकी बनावट दो ढंगकी होती हैं—

१. जिसमें एक क्रियावाले या सरल वाक्य होते हैं। जैसे—

मैं गंगाजी गया था। वहाँ मैंने बहुत से लोगोंको नहाते देखा। वे सब तैर-कूद रहे थे। वे डुबकियाँ लेते हुए आनन्द ले रहे थे।

२. जिनमें कई वाक्योंको मिलाकर एक वाक्य बनाया जाता है जैसे—

मैं गंगाजी गया था जहाँ मैंने बहुत ऐसे लोगोंको नहाते देखा जो तैरते, कूदते और डुबकियाँ लेते हुए आनन्द ले रहे थे।

सजावट

वाक्योंकी सजावट चार ढङ्गोंसे की जाती है—

१. अलंकारोंकी छटा देकर। [अलंकरण-शैली]

२. कहनेके ढंगमें अनूठापन भरकर। [लाक्षणिक शैली]

३. अपनी बात दूसरों या बड़े लोगोंकी बातोंके सहारे समझाते चलनेकी लहर देकर। [समर्थनात्मक शैली], और

४. किसी दूसरेपर बात ढालकर कहनेके ढंगपर। [प्रतीकात्मक शैली]

नीचे हम सबके साँचे उन्हीं शैलियोंमें दे रहे हैं जिससे समझनेमें कठिनाई न हो।

अलङ्करण-शैली

अलङ्करण-शैली वह है जिसमें पद-पदपर सुन्दर, शोभन, मनोहर, श्रुतिमधुर शब्दावलीसे भरे नये-नये अलंकार वैसे ही सजे होते हैं जैसे कौषेयकी सतरंगी चादरपर गंगा-जमुनी तारोंसे किसीने बेल-बूटे काढ़ दिए हों। शैली वह अभिव्यक्ति-गंगा है जो अपने साथ न जाने कितनी अगणित भाव-धाराओंके विचार-जलको अपने अंकमें समेटकर अपनी रूप-धारा अविच्छिन्न बनाती हुई उद्देश्य-सिन्धुतक पहुँच जाती है। शैली वह अलौकिक भल्लिका है जो बिना फलके श्रोताको घायल कर दे, वह मधुबाला है जो विना मधु पिलाए उन्मत्त बना दे, वह सुधाधारा है जिसे कानसे पीकर मनुष्य अमरत्वको तुद्र समझने लगे। कलापूर्ण शैली द्राक्षाके समान मधुर, हिम-शिखरकी भाँति समुन्नत, सिन्धु-तलके समान गंभीर, द्वितीयाके चन्द्रमाके समाम निष्कलंक और माताके समान पवित्र होती है। सुन्दर अलंकृत शैली वह चन्द्र है जिसे राहुकी छाया भी स्पर्श नहीं कर सकती। इस अलंकृत कला-शैलीमें जो पारंगत हो जाता है वह नन्दन-काननके झूलोंपर पेंग मारता है, अप्सराओंके हाथकी

गुँथी मालासे पुलकित होता है और सारा संसार उसका पूजन और अभिनन्दन करता है।

लाक्षणिक-शैली

लाक्षणिक शैलीका बल पाकर भाषा सरस, पुष्ट और समृद्ध होती है। वह वक्ताकी जिह्वापर चढ़कर जब लास्य करने लगती है तब उसकी भावमयी मुद्राओँकी गतिपर कभी तो श्रोताओँके नेत्र झरने बन उठते हैँ, कभी हृदयकी कली खिलकर गुदगुदी उत्पन्न करने लगती है, कभी दन्तावलीकी चन्द्रिका ओठके कपाट खोलकर चाँदनी बिखेर देती है, कभी माथेकी नसेँ तनकर भौँहोँका धनुष चढ़ा देती हैँ और कभी आँखेँ ऊपर चढ़कर अद्भुत रसका स्थायी भाव मूर्त्तिमान् कर देती हैँ।

समर्थनात्मक शैली

समर्थन-प्रधान शैलीमेँ लेखक अपनी प्रत्येक बातका समर्थन दूसरोँसे कराता चलता है क्योँकि तुलसीदासजीने भरतसे कहलाया है—

करब साधुमत लोकमत, नृप-नय निगम निचोरि।

साधुमत और लोकमतका तो सदा सम्मान होता ही है। अँगरेजीमेँ कहावत है—

शैली ही व्यक्ति है।

शैलीमेँ मनुष्य अपना, अपने हृदयका पूरा परिचय दे देता है। अपना परिचय देनेके लिये, अपने मनकी बात स्पष्ट करनेके लिये वह सोच-समझकर मुँह खोलता है क्योँकि अरबकी लोकोक्ति है—

अपनी जीभ बाँधकर रक्खो, कहीँ वह सिर न कटवा ले।

यही बात कबीरने भी दूसरे ढंगसे कही है—

जिभ्या मेरी बावरी, कहिगी सरग-पतार।
आपु तो कहि भीतर गई, जूती खात कपार॥

कहनेका तात्पर्य यह है कि दस लोग जिस बातको ठीक समझेँ वही बात

ठीक है क्योंकि पंचोंकी वाणीमें परमेश्वरका वास होता है। भगवा श्रीकृष्णने भी भगवद्गीतामें कहा है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते॥

'श्रेष्ठ व्यक्ति जैसा करते और कहते हैं वैसा ही दूसरे भी करने-कहने लगते हैं।' यही बात नीचे लिखे शेरमें भी कही गई है—

अवाज़े ख़ल्कको नक्क़ारए ख़ुदा समझो।

'जनताकी वाणीको परमेश्वरका डंका समझो।' अर्थ यह है कि संसार जो बात कहे वही सबको माननी पड़ती है। बड़ोंकी ओट लेकर आप जो बात कहेंगे वह अवश्य सुनी जायगी, उसका सम्मान होगा।

प्रतीकात्मक शैली

हे कवि! तुम्हीं सरस्वतीके हंस हो। नीचेसे ऊपरतक श्वेततासे स्नात, अपने दुग्ध-धवल पक्ष फैलाकर तुम सरस्वतीको अन्धन्तमःपूर्ण असूर्यम्पश्य लोकोंमें भी घुमा लाते हो, किन्तु तुम्हारी श्वेतता और गौरवतामें कहीं भी कालिमा छू नहीं पाती। सबसे विचित्र बात तो यह है कि न जाने कितनी बार तुम्हारे आगे पानी मिलाकर दूध रख दिया गया किन्तु न जाने तुममें क्या शक्ति है कि तुम दूधका दूध और पानीका पानी कर डालते हो।

लिखनेवालेकी बहक

कभी-कभी लिखनेवाला ऐसे भी ढंगसे लिखता है कि आप झट पहचान जायँगे कि यह लिखनेवाला हँसोड़ होगा, चिड़चिड़ा होगा, बहुत सोचने-विचारनेवाला होगा या बहुत तीखा होगा। ऐसे लिखनेवाले यों तो बहुत ढंगसे लिखते हैं; पर उनकी पाँच शैलियाँ बहुत चलती हैं—

१. विनोदात्मक शैली
२. व्यंग्यात्मक शैली
३. दार्शनिक शैली

४. तर्कप्रधान शैली
५. आवेगात्मक शैली

विनोदात्मक शैली

विनोदात्मक शैलीमें लिखनेवाले लोग फागके दिन जन्म लेते हैं और बात-बातमें ऐसे कौशलसे गुदगुदाते हैं कि अच्छे-अच्छे मुहर्रमी भी खिलखिलाकर बतीसी निकाल दें। रेलके डब्बेमें सही-साँझ मुँह बाकर सोनेवाले साथी यात्रीकी घर्राती हुई नाकमें कागज़की बत्ती बनाकर डाल दीजिए और फिर वह जो शीर्षासन करे उसमें चमगीदड़वाले लटकौवलका आनन्द आपको न आवे तो मैं मूछें मुड़ा दूँ, कलम-घिसाई से कान पकड़ लूँ। पर यदि मैं इस विनोदात्मक शैलीमें लिखनेकी सौगन्ध ले लूँ तो दोनों गालोंमें पानकी गिलौरी दबा रखनेवाले घसीटेमलका कुर्त्ता पीछेसे कैसे रँगा जायगा और लफटंट साहब हँसीमें लोटपोट होकर अपना खोड़ा मुँह खोलकर उसमें दिल्ली-दरवाजा कैसे दिखलावेंगे ?

व्यंग्यात्मक शैली

व्यंग्यात्मक शैलीमें आपके व्यंग्यका कोई लक्ष्य होना चाहिए। मान लीजिए कवि 'घण्टाजी' ही आपके लक्ष्य हैं। तब आप कह सकते हैं—

रात जो कवि-सम्मेलन हुआ उसमें घण्टा बड़ा टनटनाया, बड़ा गूँजा, बड़ा घहराया पर सुननेवालोंको केवल टनटनाहट ही हाथ लगी। उसकी घनघनाहट क्यों हो रही थी? क्यों वह इतनी देरतक टनटनाता रहा और लोगोंके ताली पीटनेपर भी क्यों घहराता रहा? यह समझमें न आया। पर भाई वाह रे घण्टे! तुम्हें तो सारनाथके विहारमें या विश्वनाथजीके मन्दिरमें लटकना चाहिए था। जहाँ किसीने छेड़ा कि आप टनटनाए। भैया! कवि-सम्मेलनमें आप मत बजा कीजिए क्योंकि न तो घड़ीके घण्टेका आपमें संयम है, न स्कूलके घण्टेकी आपमें अवधि, न लन्दनकी बिगबेनके घड़ीकी मधुरता। इसलिये आप अपनी घनघन-टनटन बन्द रखिए। आपकी घनघनाहट सहन

करनेके लिये कानमें गैंडेकी खालके परदे होने चाहिएँ और भूलसे आपको बनाते समय आपके श्रोताओंके कानपर गैंडेकी खालके परदे नहीं बाँधे।

दार्शनिक शैली

दार्शनिक शैलीमें दर्शनकी गम्भीरता और सूत्रोंकी संक्षेप-वृत्ति होती है। दार्शनिक शैलीमें गम्भीर विचारोंकी शृंखला तनकर ऐसी बँधी रहती है कि उसमें चिन्तन और मनन तथा बौद्धिक ऊहापोहके लिये पर्याप्त अवसर रहता है। शैलीका तात्त्विक विवेचन मानव-मस्तिष्ककी सूक्ष्मतम क्रियाओंका संश्लिष्ट परिणाम है। इस परिणामकी प्राप्ति केवल बौद्धिक विश्लेषणसे नहीं वरन् आध्यात्मिक पर्यवेक्षणसे ही सम्भव है क्योंकि भावोंकी जटिलताको अध्यात्मसे सुलझाना उतना कठिन नहीं है जितना तर्कसे।

तर्कप्रधान शैली

तर्कप्रधान शैलीमें तर्कोंके बलपर किसी भी तत्त्व, पदार्थ या विषयके दोनों पक्षोंका परीक्षण किया जाता है। तर्कप्रधान शैली जहाँ एक ओर सामाजिक, दार्शनिक, राजनीतिक तथा धार्मिक विषयोंके लिये उचित और अनुकूल है वहाँ वह वैज्ञानिक और ऐतिहासिक तथ्योंके लिये अत्यन्त असंगत है क्योंकि सामाजिक, दार्शनिक, राजनीतिक तथा धार्मिक विषयोंके दोनों पक्ष इतने प्रबल होते हैं कि उनपर अनेक दृष्टियोंसे, अनेक अवसरों और परिस्थितियोंके अनुसार विचार किया जा सकता है। किन्तु दो और दो चार हो सकते हैं या नहीं? आग छूनेमें ठंढी लग सकती है या नहीं? सूर्य पश्चिममें उग सकता है या नहीं? राम दशरथके पुत्र थे या नहीं? ये ऐसे प्रश्न हैं जिनपर किसी प्रकारका तर्क नहीं हो सकता।

आवेगात्मक शैली

यदि आपने अत्यन्त मनोयोगसे साहित्यका अनुशीलन किया है? यदि आपने तुलसी, मीरा, सूर और रसखानकी काव्य-सरितामें

अवगाहन करके उनका रस लिया है? यदि आप शब्द और अर्थके सम्बन्धको ठीक-ठीक समझनेमें समर्थ हो सके हैं? तो आपको यह समझनेमें भी कोई कठिनाई नहीं होगी कि आवेगात्मक शैलीका भी अपना अलग महत्त्व है। व्याख्याताकी भाषामें, विद्रोही राजनीतिज्ञकी ललकारमें, भावुक इतिहासकारकी लेखनीमें यदि आवेगात्मिका शैलीका वास न हो तो वह शून्य है, व्यर्थ है, निरर्थक है, नीरस है। वह विशाल ताजमहलको क्षण भरमें खँडहर कर देगा, व्यासकी विभूति महाभारतके पन्ने-पन्ने चीर डालेगा और भारतीय वाङ्मयकी समस्त उदात्त निधिको प्रलय-सागरमें डुबो देगा। क्या आपने सिसरोकी वाणी सुनी है? क्या आपने ऐडमन्ड बर्कका भाषण पढ़ा है? क्या आपने विक्रमोर्वशीयके चतुर्थ अङ्कमें पुरूरवाका प्रलाप सुना है? यदि नहीं सुना, नहीं पढ़ा, तो पुस्तकालयकी गुहामें बैठकर अध्ययन-तपस्याका योग साधकर निर्विकल्प समाधिमें चिन्मय ब्रह्मका साक्षात्कार करके उन सब महानुभावोंसे सत्सम्पर्क स्थापित कीजिए जिन्होंने अपनी भावमयी वाणीमें आवेग भरकर उसे उद्दीप्त, प्रदीप्त, सप्राण और सशक्त बनाया है।

शब्दोंके उचित प्रयोगका महत्त्व

किन्तु लेखकके लिये यह आवश्यक है कि उसके मस्तिष्कमें शब्दोंका भरपूर भाण्डार हो, उचित रूपसे शब्द चयन करनेकी तथा उनका उचित प्रयोग करनेकी प्रतिभा हो और कौनसी बात किस प्रकारसे कही जाय इसका विवेक हो। हम लोग साधारणतः अपने विद्यार्थियोंको एक विषयपर निबन्ध लिखनेका आदेश तो दे डालते हैं किन्तु इस बातकी चिन्ता नहीं करते कि विद्यार्थीके पास शब्द-भाण्डार भी है या नहीं। अतः विद्यार्थीको लिखनेका आदेश देनेसे पूर्व उसे कुछ सामग्री भी देनी चाहिए और उसे कुशल बनानेके लिये कुछ अभ्यास भी करा देने चाहिएँ जिनमेंसे कुछ सामग्रीका उल्लेख नीचे किया जाता है।

अध्यापक-द्वारा विद्यार्थियोंको दी जानेवाली सामग्री

रचना या निबन्ध प्रारम्भ करनेसे पूर्व अध्यापकको चाहिए कि निम्नलिखित सामग्री छात्रोंको अवश्य दे दे—

क. उस श्रेणीके योग्य शब्द-समूह ।

ख. सूक्ति-भाण्डार ।

ग. उस विषयके लिये सहायक पुस्तकोंकी सूची, जो उस श्रेणीके लिये उपयुक्त हो ।

घ. आदर्श निबन्ध

कल्पना-शक्ति तथा शब्द-प्रयोगका अभ्यास

निबन्ध या रचनाका अभ्यास करनेके लिये ऐसे विषय देने चाहिएँ जिनमें बालकोंकी कल्पना-शक्ति स्वाभाविक रूपसे जागरित हो और वे शब्दोंका उचित प्रयोग करना सीख जायँ—

१. संज्ञाओंके अनुकूल उचित विशेषणोंके चुनावका अभ्यास । जैसे-

बालक, भवन, घोड़ा, कुत्ता, अटारी, स्त्री, गाय

संज्ञाएँ देकर बालकोंसे कहा जाय कि निम्नलिखित विशेषणोंमेंसे उचित शब्द चुनकर ऊपर लिखी संज्ञाओंके साथ लगाओ—

अड़ियल, दुधार, भव्य, ऊँची, कर्कशा, चतुर, कटखना ।

[**उत्तर : चतुर बालक, भव्य भवन, अड़ियल घोड़ा, कटखना कुत्ता, ऊँची अटारी, कर्कशा स्त्री, दुधार गाय ।**]

इसी प्रकार विशेषण देकर उचित संज्ञाएँ चुनने और प्रयोग करनेका अभ्यास डलवाया जा सकता है ।

२. वाक्योंमें उपयुक्त क्रियाओंके चुनावका अभ्यास । जैसे, निम्नलिखित अपूर्ण वाक्य दिए जायँ—

गाय — —

चिड़िएँ — —

बैल हल — —

सोहन हल — —

मक्खन निकालनेके लिये दही —

और बालकोंसे कहा जाय कि निम्नलिखित क्रियाओंमेंसे चुन-चुनकर उपर्युक्त वाक्योंके रिक्त स्थानमें भर दो।

चलाता है, रँभाती है, खींचते हैं, मथा जाता है, चहचहाती है।

३. अक्रम वाक्योंको सक्रम रखवानेका अभ्यास। जैसे, निम्नलिखित अक्रम और निरर्थक वाक्यको सक्रम और सार्थक बनाकर लिखो—

एक मौलवी अकबरने अपने पढ़ानेके लिये जहाँगीरको पुत्र नियुक्त किया।

[उत्तर : अकबरने अपने पुत्र जहाँगीरको पढ़ानेके लिये एक मौलवी नियुक्त किया।]

४. दिए हुए सूत्रोंके आधारपर पूरी कथा या जीवनचरितकी रचना कराना और उचित शीर्षक दिलानेका अभ्यास कराना। जैसे, नीचे दिए हुए सूत्रोंके आधारपर कहानी लिखवाना—

एक सिंह—जीवोंको मारना—जीवोंका सिंहके पास जाना—प्रतिदिन एक जीव भेजनेकी प्रतिज्ञा—खरहेकी बारी—देरसे पहुँचना—सिंहका क्रोध—सिंहको कुएँतक ले जाकर परछाईं दिखाना—सिंहका अन्त।

५. तुम्हारे एक सनकी धनी चाचा तुम्हें पचास रुपए इसलिये देते हैं कि तुम वे रुपए चौबीस घंटोंमें व्यय तो कर दो किन्तु न तो किसीको दानमें दो, न कुछ मोल लो और न कहीं संग्रह करो। तुम जिस प्रकार यह द्रव्य व्यय करोगे उसका पूर्ण विवरण लिखो।

[उत्तर : तुम अपने मित्रोंको सैर-सपाटेके लिये उनका किराया देकर ले जा सकते हो।]

इस प्रकारके अभ्याससे कल्पना-शक्तिका अधिक विकास होता है।

६. निम्नलिखित घटना बढ़ाकर लिखो—

सन्ध्याका समय था। सूर्य अस्त हो रहे थे। उधर सूर्य डूबे, इधर नदीमें पचासों नर-नारियोंसे भरी नाव डूब गई।

७. जिस समय रावण सीताजीको हरकर ले जा रहा था उस समय तुम वहाँ होते तो क्या करते?

इस प्रकारके अभ्याससे भावावेगका शिक्षण होता है।

८. यदि आज रावण लंकाका राजा होता और तुम्हारा स्कूल देखने आता तो तुम्हें कैसा लगता और वह किस प्रकार व्यवहार करता। समझ लो कि वह नागरीसे परिचित है और भारत तथा लंकामें परस्पर सन्धि हो गई है।

९. एक मित्रने तुम्हें निमन्त्रण दिया है। वे मांसाहारी हैं, इसलिये तुम उनके यहाँ भोजन करने नहीं जाना चाहते। एक ऐसा अस्वीकृति-पत्र लिखो कि वे बुरा न मानें। स्मरण रक्खो कि रोग या बाहर जानेका बहाना न हो।

१०. ब्रज, अवधी या अन्य हिन्दीके अन्तर्गत प्रादेशिक भाषामें लिखे हुए गद्यको नागरीमें रूपान्तरित करना।

११. एक बालक इक्केके नीचे आ रहा था। तुमने उसे तो बचा लिया पर तुम्हें कुछ चोट आ गई है। उस बालकके पिताने तुम्हारे लिये दस रुपए और एक कृतज्ञताका पत्र भेजा है। तुम रुपए अस्वीकार करते हुए उस पत्रका उत्तर दो।

१२. आचार्य सीताराम चतुर्वेदी-द्वारा रचित 'सेनापति पुष्यमित्र' नाटकमें तुम्हारे एक मित्रने अत्यन्त सुन्दर अभिनय किया है। तुम्हें उसके अभिनयमें क्या बात अच्छी लगी उसका वर्णन करो और नाटककी रचनाके सम्बन्धमें एक पत्र आचार्य चतुर्वेदीजीको लिखो।

१३. एक मद्रासी सज्जन तुम्हारे नगरके विषयमें जानना चाहते हैं। ऐसी भाषामें उन्हें समझाइए कि वे भली भाँति समझ सकें। वे थोड़ी-सी नागरी जानते हैं।

१४. बिना नाम बताए एक परिचित नगरका ऐसा वर्णन कीजिए कि लोग उसका नाम समझ जायँ, जैसे काशीका निम्नलिखित वर्णन—

रेलगाड़ीसे उतरते ही मैं सीधे दशाश्वमेध घाट पहुँचा। वहाँ स्नान-सन्ध्यासे निवृत्त होकर मैंने विश्वनाथ-अन्नपूर्णाके दर्शन किए। वहाँसे मैं सीधे महामना मालवीयजीकी अखंड धवल कीर्तिके रूपमें संस्थापित हिन्दू विश्वविद्यालय देखने

चला गया। वहाँसे दोपहरको लौटा तो भारत-माताका मन्दिर देखने पहुँच गया। सायंकालके समय एक मित्रकी गाड़ी लेकर उस स्थलका दर्शन करने गया जहाँ बुद्धदेवने सर्वप्रथम पाँच शिष्यों को उपदेश दिया था।

१५. एक ऐसे दृश्यका वर्णन करो जिसमें एक साथ पूर्ण चन्द्र, बदली, आँधी तथा वर्षाका वर्णन हो किन्तु वह अस्वाभाविक न होने पावे।

१६. अपने किसी अभिमानी या दुष्ट मित्रका ऐसा व्यंग्यात्मक वर्णन करो कि उसका नाम कहीं न आवे पर वह और उसे जाननेवाले सब लोग समझ जाने पर भी बुरा न मानें और वह साथी भी उस वर्णनको पढ़कर अपना सुधार कर ले।

ऊपर हमने कुछ ऐसे अभ्यासोंके लिये सामग्री दी है जिससे रचनामें कुशल होनेके लिये भाषाका भी विकाश हो सकता है तथा कल्पनाका भी। इस सामग्रीका पूर्ण उपयोग तथा इसमें नवीनता लाना अध्यापककी योग्यतापर निर्भर है।

लेख-शिक्षणमें सावधानी

लेख-रचना या निबन्ध-रचनाके शिक्षणमें छात्रोंको अधिकसे अधिक स्वतन्त्र कल्पना करने, स्वतन्त्र विचार व्यक्त करने तथा स्वतन्त्र शैली चुनकर लिखनेको प्रोत्साहित करना चाहिए और यह निर्देश करते रहना चाहिए कि वे शुद्ध, कलात्मक, मधुर तथा प्रभावोत्पादक शैलीमें लेख-रचना करें। अध्यापकका यह भी कार्य होना चाहिए कि वह सब प्रकारके लेख-शिक्षणमें उचित शब्दावली, रूढ़ोक्ति-संग्रह, विचार, आवश्यक सामग्री तथा शैलीके चयनके लिये आदर्श शैलीमें लिखे हुए लेख सदा प्रस्तुत करता रहे।

लेख-शिक्षणकी प्रक्रिया

लेख-शिक्षणमें निम्नलिखित क्रमका अनुसरण करना चाहिए—

१. प्रस्तावना : जिसके अन्तर्गत लेखके विषयका चयन, नाम-करण तथा उसकी स्थापना हो।

२. उद्देश्य-कथन : जिसके अन्तर्गत विषयकी परिधि स्पष्ट कर देना चाहिए कि उसके अन्तर्गत उस विषयसे सम्बद्ध कितनी बातें आ सकेंगी।
३. विषय-विस्तार : जिसके अन्तर्गत प्रश्न-द्वारा क्रमशः विचारणीय विषयके सब पक्षोंका विवेचन करके सम्पूर्ण सामग्री निकलवा लेनी चाहिए।
४. आदर्श निबन्ध-पाठ : जिसके अन्तर्गत अध्यापकको लेखनीय विषयके समान ही किसी दूसरे विषयपर एक आदर्श निबन्ध लिखकर सुनाना चाहिए जिसे सुनकर छात्र अपनी शैली निर्धारित कर सकें। इसीके साथ-साथ अध्यापकको चाहिए कि निबन्धके योग्य शब्दावली तथा रूढ़ोक्तियाँ भी श्यामपट्टपर अङ्कित कर दे।
५. प्रयोग : जिसके अन्तर्गत छात्रोंसे कहा जाय कि दी हुई शब्दावली, रूढोक्ति तथा विचार-सामग्रीके आधारपर लेख लिखो।

लेखका संशोधन

लेखका संशोधन भी तीन प्रकारसे किया जा सकता है—

१. अध्यापक अपने घर लेख-पुस्तिकाएँ ले जाय और प्रत्येक अशुद्धिपर चिह्न लगाकर शुद्ध करता चला जाय। किन्तु यह प्रणाली अत्यधिक परिश्रम-साध्य है और सभी छात्रोंके लेख इस दृष्टिसे परीक्षित करना कठिन है।
२. अध्यापक सब लेखोंको पढ़कर व्यापक अशुद्धियाँ एक अलग पत्रपर अङ्कित करता रहे और फिर उन सब व्यापक अशुद्धियोंको कक्षाके सामने स्पष्ट करके ठीक कराता रहे। यह संशोधन-प्रणाली अधिक व्यावहारिक तथा छात्रोंके लिये अधिक लाभकर होती है। इससे अध्यापकका भी श्रम बच जाता है और छात्रोंको केवल अपनी ही अशुद्धियाँ नहीं वरन् सब प्रकारकी अशुद्धियोंका परिज्ञान हो जाता है।
३. कक्षामें प्रत्येक विद्यार्थी अपना-अपना लेख पढ़ता चले और अध्यापक प्रश्नके द्वारा अन्य छात्रोंसे अशुद्धियोंका निर्देश कराकर शुद्ध कराता

चलें। इस प्रणालीमें समय अधिक लगता है और यह आशंका भी बनी रहती है कि बुरे लेखक कक्षामें लज्जित हों और इस प्रकार निरुत्साहित होकर मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे 'मूढ' होते चले जायँ और लेख-रचनाकी ओरसे धीरे-धीरे विरक्त हो जायँ। अतः दूसरी प्रणाली ही ग्राह्य है।

११

व्याकरणकी शिक्षा

भाषाकी शुद्धि

व्याकरणकी शिक्षाके बिना भाषा-विषयक शिक्षा कदापि पूर्ण नहीं होती। व्याकरण ही भाषाका शासक होता है। व्याकरणके नियम न माननेसे भाषा उच्छृङ्खल हो जाती है और जिस प्रकार उच्छृङ्खल व्यक्तिकी चाल-ढाल निरङ्कुश हो जानेके कारण किसीकी समझमें नहीं आती और समाज उसे अपना त्याज्य सदस्य समझने लगता है उसी प्रकार उच्छृङ्खल भाषा भी किसीकी समझमें नहीं आती और लोग उसे हीन दृष्टिसे देखने लगते हैं। यदि भाषाको रथ और भावको रथी मान लें तो व्याकरणको सारथि मान सकते हैं क्योंकि व्याकरण ही भाषारूपी रथको ठीक लीकपर इस प्रकार चलाता है कि इच्छित भाव, सरलतासे अपने गन्तव्य स्थानपर पहुँच जाते हैं। कहनेका तात्पर्य यह है कि व्याकरणकी शिक्षा, भाषा-शिक्षाका एक आवश्यक और अपरिहार्य अङ्ग है। भाषाको शुद्ध बनाए रखनेका काम व्याकरणका ही है। चाहे रचना-शक्तिकी दृष्टिसे कवि और वैयाकरणकी तुलनामें कवि ही बीस पड़े और जब सामने सूखा पड़ा खड़ा देखकर वैयाकरण कहता हो—

'शुष्को वृक्षस्तिष्ठत्यग्रे'

तब कवि उसमें चमत्कार भरकर कह दे—

'नीरस तरुरिह विलसति पुरतः।'

किन्तु उसपर भी शासन तो व्याकरणका ही है क्योंकि वह 'विलसति'के बदले 'विलसते' नहीं कह सकता। कालिदासकी वह कथा

इस सम्बन्धमें बड़े महत्त्वकी है कि जब वे कहारका वेष बनाकर किसी पण्डितकी पालकी ढो रहे थे तब उस पण्डितने दयार्द्र होकर कहा—

अयमान्दोलिकादण्डः स्कन्धे किं तव बाधति।

[यह पालकीका डंडा क्या तुम्हारे कन्धेपर गड़ रहा है।]

इसपर कालिदासने कहा—

न बाधते तथा मां हि यथा बाधति बाधते।

[यह डंडा इतना नहीं गड़ रहा है जितना आपका यह 'बाधते' के बदले 'बाधति' कहना।] भाषापर व्याकरणका यही सबसे बड़ा शासन है। व्याकरणके महत्त्वके सम्बन्धमें संस्कृतमें एक अत्यन्त मनोरंजक कथा प्रसिद्ध है। एक गुरुजी अपनी कन्याको और एक शिष्यको व्याकरण पढ़ाया करते थे। जब वे दोनों सयाने हुए तो गुरुजीने सोचा कि इन दोनोंका परस्पर विवाह कर दिया जाय। जब उन्होंने अपनी कन्यासे यह प्रस्ताव किया तब उसने अस्वीकार करते हुए कहा—

यस्य षष्ठी चतुर्थी च विहस्य च विहाय च।
यस्याहं च द्वितीयास्याद्द्वितीयास्यामहं कथम्॥

[जो व्यक्ति 'विहस्य' क्रियापदको संज्ञाकी चतुर्थीका रूप, 'विहाय' क्रियापदको संज्ञाकी षष्ठीका रूप और 'अहं' को द्वितीयाका रूप (रामस्य, रामाय और रामम्‌के अनुसार) बताता है, उसकी मैं द्वितीया (पत्नी) कैसे हो सकती हूँ ?]

व्याकरणकी विभीषिका

शुष्क भाषा-नियमोंका बृहत् समुच्चय होनेके कारण ही व्याकरणकी गिनती नीरस विषयोंमें की जाती है और गणितके समान व्याकरण भी रूखा विषय समझा जाता है। यही कारण है कि व्याकरणके पठन-पाठनसे सभी देशोंके विद्यार्थी बहुत घबराते हैं। नागरीके विद्यार्थी तो व्याकरणकी प्रायः उपेक्षा ही किया करते हैं। इसीलिये नागरीके बड़े-बड़े लेखक, नाटककार और कवि अपनी रचनाओंमें व्याकरण-सम्बन्धी बड़ी भद्दी

भूलें करते पाए गए हैं। नागरीके एक सुप्रसिद्ध नाटककार 'प्रत्येक' शब्दका प्रयोग सदा बहुवचनके साथ ही किया करते थे। वे 'प्रत्येक वृक्ष' न लिखकर 'प्रत्येक वृक्षों' ही लिखा करते थे। नागरी जगत्में फैली हुई व्याकरण-विषयक इस व्यापक विभीषिकाका बहुत कुछ कारण संस्कृत व्याकरण है। संस्कृतका व्याकरण संसार भरकी भाषाओंके व्याकरणोंकी अपेक्षा कहीं अधिक पूर्ण है और उसकी यही पूर्णता उसकी जटिलताका कारण है। इसी जटिलताके कारण संस्कृतके वैयाकरणोंमें यह प्रवाद प्रचलित है कि बारह वर्ष पढ़े बिना संस्कृत व्याकरणकी पूरी जानकारी हो ही नहीं सकती। उसका कारण भी उन्होंने स्पष्ट दे दिया है—

यद्यपि बहुनाधीषे तथापि पठ पुत्र व्याकरणम्।
स्वजनः श्वजनो मा भूत्सकलं शकलं सकृच्छकृत् ॥

[बेटा! तुमने पढ़ा तो बहुत है फिर भी व्याकरण अवश्य पढ़ लो क्योंकि कहीं ऐसा न हो कि भूलसे स्वजन (अपने सगे) को श्वजन (कुत्ता), सकल (पूरे) को शकल (खंड) और सकृत् (प्रायः) को शकृत् (विष्ठा) कह डालो।] संस्कृत व्याकरणके इस आतंकके कारण नागरीवाले भी व्याकरणके नामसे चौंकने लगे। परन्तु वास्तवमें व्याकरण पढ़ना-पढ़ाना भयकी बात नहीं है।

लेख-रचना और व्याकरण अन्तर्योग

लेख-रचनाकी शिक्षाके साथ-साथ व्याकरणकी पढ़ाई भली प्रकार हो सकती है। केवल व्याकरणके लिये कार्यक्रममें प्रतिदिन एक घण्टा समय अलग निकाल देना अर्थात् नियमित व्याकरण (फ़ौर्मल ग्रामर) पढ़ाना अच्छी बात नहीं। भाषा और लिपि-शिक्षणके समान व्याकरण-शिक्षण भी सरल और सुबोध है तथा बड़ी सरलतासे पढ़ा और पढ़ाया जा सकता है। परन्तु नागरी व्याकरणपर विचार करनेसे पूर्व इस भाषा के उद्गमपर भी दृष्टि डालना बहुत आवश्यक है। व्याकरण ही शब्द और वाक्यपर अनुशासन करता है इसलिये किसी भाषाका व्याकरण पढ़ानेसे पहले उस

भाषाके निकास और विकासपर भी ध्यान देना चाहिए क्योंकि शब्दोंकी अधिकांश संख्या किसी परम्परामें बँधकर किसी भाषामें आती है।

हिन्दीका उद्‌गम

संसारकी सबसे प्राचीन भाषा वैदिक संस्कृत है। जिस समय भारतकी भाषा वैदिक संस्कृत थी उस समय भी पौरस्त्य, प्रतीच्य उदीच्य और दाक्षिणात्य भाषाएँ प्रान्तीय बोलियोंका काम कर रही थीं। भारत भरमें व्याप्त संस्कृत बोलनेके प्रयासमें संस्कृतको अपने उच्चारणमें ढालनेके कारण अनेक प्राकृतें बन चलीं जिनका नाम देश-भेदसे मागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री और पैशाची आदि पड़ गया। लौकिक या काव्य-संस्कृतका यद्यपि इनपर निरन्तर प्रभाव पड़ता रहा फिर भी उनका स्वतन्त्र अस्तित्व नष्ट नहीं हुआ। इन प्राकृतोंको भी गाँवके लोग बिगाड़कर बोलने लगे जिससे बहुत सी अपभ्रंश भाषाएँ बन गईं। संस्कृतके इन विकृत रूपोंके साथ अलग-अलग प्रदेशोंमें देशी भाषाएँ भी चल रही थीं जो आज हिन्दी (ब्रज, अवधी, नागरी आदि), गुजराती, मराठी और बँगला आदि भाषाओंके रूपमें मिलती हैं।

तत्सम, तद्भव, देशी और विदेशी शब्द

जिस नागरी भाषाका आज हम प्रयोग करते हैं वह बहुत ढल-सँवर कर वर्त्तमान अवस्थातक पहुँची है। इसलिये उसमें बहुतसे शुद्ध संस्कृत शब्द आ गए हैं जिन्हें हम तत्सम कहते हैं, बहुतसे संस्कृत शब्द बिगड़कर आए हैं जो तद्भव कहलाते हैं। इनके अतिरिक्त बहुतसे शब्द नागरीके अपने हैं जिन्हें देशी कहते हैं और अनेक शब्द उन विदेशी (अरबी, फ़ारसी, तुर्की, पुर्तगाली, अँगरेज़ी आदि) भाषाओंसे भी आ गए हैं जिनके सम्पर्कमें हमारा देश समय-समयपर रहता चलता आया है। एक वाक्य लीजिए—

पिल्ला मेरे नवीन कोटपर बैठा गटर-गटर पानी पी रहा है।

इसमें 'नवीन' शब्द तत्सम है, 'पानी' (संस्कृतके 'पानीयम्'

'तद्भव', है' 'पिल्ला' देशी है, 'कोट' और 'गटर-गटर' विदेशी हैं। ऐसी स्थितमें हमारे यहाँ शब्द-निर्माण कई प्रकारसे होता है—कुछ संस्कृत रूपोंसे, कुछ देशी रूपोंसे और कुछ विदेशी रूपोंसे। तात्पर्य यह है कि नागरी विकासोन्मुखी भाषा है अतः यद्यपि अमर-वाणी संस्कृतके समान इसमें शब्द-रचनाका कोई व्यापक नियम तो नहीं बनाया जा सकता फिर भी नागरीके व्याकरणमें हमें निम्नलिखित बातोंका ध्यान रखना ही चाहिए—

१. शब्दों (संज्ञा, विशेषण और क्रियाओं) के लिंग और वचन।
२. वाक्य-निर्माणमें कर्त्ता, क्रिया, कर्म आदिका क्रम।
३. मिश्रित वाक्योंका पारस्परिक अनुबन्ध।
४. कारकों या विभक्तियोंका उचित प्रयोग।
५. शब्दोंके शुद्ध रूप (स्पेलिंग)।

लिङ्ग-निर्णय

नागरी गद्यके गठनमें प्रायः लिङ्ग-विषयक कठिनाई पड़ती है किन्तु कर्त्ता और कर्म शब्दके स्वरूप और धातुके गठनपर ध्यान देनेसे यह कठिनाई दूर हो जाती है। हमने बहुतसे शब्दोंके लिंग अँगरेज़ी, फ़ारसी, अरबी, या तुर्कीके ढंगपर ढाले हैं। अतः लिङ्ग-निर्णयका सबसे अच्छा मार्ग यह है कि जिस मूल भाषासे शब्द लिया जाय उसीके अनुसार उसका लिङ्ग-निर्देश भी किया जाय। किन्तु कठिनाई तब पड़ती है जब दूसरी भाषाओंके नपुंसक-लिङ्गी शब्द नागरीमें आ जाते हैं। नागरीमें नपुंसक-लिङ्ग होता नहीं, इसलिये संस्कृतके नपुंसक शब्द नागरीमें कुछ पुल्लिङ्ग और कुछ स्त्रीलिङ्ग बन गए हैं, जैसे 'पुस्तक' शब्द स्त्रीलिङ्ग बन गया और 'ज्ञान' पुल्लिङ्ग। नागरीमें अँगरेजीके बहुतसे शब्द उभयलिङ्गी भी होकर चलते हैं जैसे नोटिस, मोटर, पैन् (कलम) आदि।

लिङ्ग-निर्णयकी चार प्रणालियाँ

हमारे यहाँ लिङ्ग-निर्णयकी चार प्रणालियाँ प्रचलित हैं—

१. विदेशी शब्दोंका वही लिङ्ग रक्खा जाय जो उसकी मूल भाषामें है जैसे 'मेज़' फ़ारसीमें स्त्रीलिङ्ग है अतः नागरीमें भी स्त्रीलिङ्ग रहे।

२. जो शब्द दूसरी भाषाका लिया जाय उसके प्रचलित नागरी पर्यायका जो लिङ्ग हो वही मान लिया जाय, जैसे 'कलम' शब्द फ़ारसीमें पुल्लिङ्ग है और उसका संस्कृत पर्याय 'कलम' भी पुल्लिङ्ग है किन्तु नागरीमें उसका प्रचलित पर्याय 'लेखनी' है, अतः 'लेखनी' के लिङ्गानुसार 'कलम'को स्त्री-लिङ्ग ही मान लिया जाय जैसा कुछ लोग लिखते और बोलते हैं। यह नियम अशुद्ध है।

३. किसी दूसरी भाषाके चलते शब्दके बदले अपनी भाषाके पर्याय-का लिङ्ग भी उस दूसरी भाषाके शब्दका लिंग ही मान लेना, जैसे उर्दूके 'रूह' शब्दके बदले 'आत्मा'का या 'हवा'के बदले 'वायु, पवन, समीर' का प्रयोग तो किया, पर रक्खा उसे स्त्रीलिङ्ग ही। यह प्रणाली भी अशुद्ध है।

४. शब्दके रूप अर्थात् गढ़नके अनुसार लिङ्ग-निर्णय किया जाय, जैसे ईकारान्त शब्द स्त्रीलिंग ही होते हैं। किन्तु नागरीमें छह शब्द (दही, मोती, हाथी, घी, जी, पानी) ईकारान्त होते हुए भी पुल्लिङ्ग ही जाने और माने जाते हैं। शब्द-रूपके अनुसार लिङ्ग-निर्णयके नियमोंका परिचय विद्यार्थीको अवश्य दे देना चाहिए।

नागरीमें संज्ञाके लिङ्गके साथ-साथ विशेषण और क्रियाका भी लिङ्ग-परिवर्त्तन होता है, जैसे—

'अच्छा लड़का पढ़ता है। अच्छी लड़की पढ़ती है।'

पर विशेषणके लिङ्गका यह बन्धन केवल तद्भव शब्दोंके लिये ही है। तत्सम विशेषण देकर हम कहते हैं—

'सुन्दर बालक पढ़ता है। सुन्दर बालिका पढ़ती है।'

बहुतसे लोग तत्सम विशेषणोंमें भी संज्ञा (विशेष्य) के लिङ्गका निर्वाह करते हैं और कहते हैं—'सुन्दरी बालिका पढ़ रही है।' किन्तु हिन्दीमें तत्सम विशेषणोंके लिये लिङ्ग बदलनेकी छूट है। अतः

यह प्रयोग अशुद्ध तो नहीं पर वाञ्छनीय नहीं है क्योंकि यदि हमें कहना हो—'यह दही सुन्दर है' तो हम संस्कृतके अनुसार 'दधि'को नपुंसक मानकर नहीं कहेंगे कि 'यह दधि सुन्दरम् है।'

कभी-कभी किसी शब्दका तत्सम रूप पुल्लिङ्ग होता है, तद्भव स्त्रीलिङ्ग हो जाता है जैसे 'श्वास' पुल्लिङ्ग है, 'साँस' स्त्रीलिङ्ग। जिन विशेष शब्दोंके लिङ्ग-रूप बड़े-बड़े लेखकोंने भ्रमवश अशुद्ध लिखे हैं उनके ठीक रूप छात्रोंको बता देने चाहिएँ जैसे—

शब्द	शुद्ध	अशुद्ध
आत्मा	पुल्लिङ्ग	× स्त्रीलिङ्ग
वायु, समीर, पवन	पुल्लिङ्ग	× स्त्रीलिङ्ग
दही	पुल्लिङ्ग	× स्त्रीलिङ्ग

हम पीछे समझा आए हैं कि विभक्तिके साथ आकारान्त पुल्लिङ्ग शब्दोंका रूप '**आ**' के स्थानपर '**ए**' हो जाता है और यह अकेला '**ए**' द्वितीय कर्म अर्थात् '**को**' का वाचक हो जाता है, जैसे 'आगरे गया' का अर्थ 'आगरेको गया' होता है। पर यह परिवर्त्तन आकारान्त स्त्रीलिंग शब्दोंमें नहीं हो सकता। हम 'कलकत्ते' या 'पटने' तो जा सकते हैं पर 'मथुरे' नहीं जा सकते। साधारणतः लिङ्गका निर्णय विशिष्ट लेखकोंके प्रयोगानुसार ही माना जाता है।

कारकका प्रश्न

बिना कारक और क्रियाके वाक्य नहीं बनता। अतः वाक्यमें कारक और क्रियाका सम्बन्ध होना आवश्यक है। कारकका सम्बन्ध क्रियासे होता है, इसलिये संस्कृतवाले सम्बन्ध-कारकका औचित्य स्वीकार न करके छह ही कारक मानते हैं—कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण। परन्तु नागरीवालोंने 'सम्बन्ध'को भी कारक मान लिया है इसलिये नागरीमें कारकोंकी संख्या सात है। इन कारकोंका रूप स्पष्ट

करनेके लिये अर्थात् क्रिया या संज्ञासे शब्दका सम्बन्ध दिखानेके लिये संज्ञाओंमें 'विभक्ति' नामका प्रत्यय (मेलजोड़ करनेवाली टेक) लगाए जाते हैं। इसलिये 'विभक्ति वह प्रत्यय है जो शब्दमें लगकर अन्य शब्दों (संज्ञा या क्रियासे) उसका सम्बन्ध बताती है।' अतः व्याकरणकी शिक्षामें कारक और विभक्तिका ज्ञान देना आवश्यक है। इसके बिना शुद्ध वाक्य-रचना हो ही नहीं सकती। नागरीमें कर्त्ताके विभक्ति-प्रत्यय 'ने' का प्रयोग बहुत व्यापक होनेके साथ-साथ अव्यवस्थित भी है। अध्यापकको इसकी विशेषता अवश्य समझा देनी चाहिए क्योंकि उत्तर-प्रदेशके पूर्वी भागमें लोग 'दशरथ कहे थे' जैसे अशुद्ध वाक्योंका प्रयोग करते पाए जाते हैं और पंजाबके मित्र 'मैंने पढ़ना है' जैसे वाक्योंका।

व्याकरणकी शिक्षण-पद्धति

व्याकरण पढ़ानेकी पाँच प्रणालियाँ हैं—

१. सूत्र या सिद्धान्त प्रणाली (एफ़ोरिज्म और डिडक्टिव मेथड)।
२. प्रयोग या परिणाम-प्रणाली (इण्डक्टिव मेथड)।
३. पाठ्य-पुस्तक-प्रणाली (टेक्स्टबुक मेथड)।
४. अव्याकृति या भाषा-संसर्ग-प्रणाली (डाइरेक्ट लैंग्वेज मेथड)।
५. अन्तर्योग-प्रणाली (कौरिलेशन मेथड)।

सूत्र या सिद्धान्त-प्रणाली

सूत्र-प्रणालीमें व्याकरणके नियम सूत्र या वाक्य-रूपमें कण्ठस्थ करा दिए जाते हैं और पीछे उदाहरणके द्वारा समझा दिए जाते हैं जैसा संस्कृत-व्याकरणकी शिक्षामें होता है। इसे सिद्धान्त प्रणाली (डिडक्टिव मैथड) भी कहते हैं।

प्रयोग या परिणाम-प्रणाली

सूत्र-प्रणालीसे ठीक उलटी प्रयोग या परिणाम-प्रणाली (इण्डक्टिव मेथड) है। इसमे पहले पर्याप्त उदाहरण देकर अन्तमें एक व्यापक

नियम निकलवाया जाता है और फिर उस नियमके प्रयोगके लिये अभ्यास कराया जाता है। सूत्र-प्रणालीकी अपेक्षा यह अधिक उपयोगी है। इस पद्धतिसे व्याकरण पढ़ानेमें विद्यार्थीकी उत्सुकता और रुचि अन्ततक बनी रहती है, जिससे वह सब बातें सुनता, समझता, उसपर स्वयं विचार करता, परिणाम निकालता और धारण करता चलता है। व्याकरण पढ़ानेके लिये इसी पद्धतिका प्रयोग उचित है।

पाठ्य-पुस्तक-प्रणाली

पाठ्य-पुस्तक-प्रणालीको हम रटन्त-प्रणाली कह सकते हैं। व्याकरणकी आधुनिक शिक्षा प्रायः इसी प्रणालीसे दी जाती है कि व्याकरणकी सारी पुस्तक विद्यार्थी बिना कुछ समझे-बूझे कण्ठस्थ कर लेता है। यह नियम कष्ट-साध्य होनेके साथ-साथ व्यर्थ भी है। रटन्त-प्रणालीसे विद्यार्थीको कोई वास्तविक लाभ नहीं होता, केवल उसकी स्मरण-शक्तिपर व्यर्थका बोझ अवश्य पड़ता है।

अव्याकृति या भाषा-संसर्ग-प्रणाली

अव्याकृति-प्रणालीवाले अलग व्याकरण-शिक्षाकी उपयोगिता नहीं स्वीकार करते। उनकी दृष्टिमें नियमित व्याकरण (फ़ौर्मल ग्रैमर) पढ़ाना ही दोष है। उनका कथन है कि 'यदि किसी भाषा और साहित्यपर अधिकार प्राप्त करना हो तो केवल ऐसे लेखकोंकी रचनाएँ पढ़ो जिनका भाषापर अधिकार हो; धीरे-धीरे तुम भी भाषापर अधिकार प्राप्त कर लोगे।' [इफ़ यू वान्ट टु मास्टर ए लैंग्वेज, रीड इट्स मास्टर्स।] मातृभाषाके सम्बन्धमें तो यही प्रणाली निःसन्देह सर्वश्रेष्ठ है।

अन्तर्योग (कौरिलेशन)

अन्तर्योग-प्रणालीवाले इतनी दूरतक तो नहीं जाते पर व्याकरणके प्रति उनका भाव भी अव्याकृतिवालोंके जैसा ही है। वे स्वतन्त्र रीतिसे व्याकरण-शिक्षाके विरोधी होते हुए भी इतना तो स्वीकार करते ही हैं कि

आवश्यकतानुसार पाठ्य पुस्तक तथा रचना-शिक्षणके साथ-साथ नियम भी बताए जायँ।

वाक्य-विश्लेषण और पदच्छेदका रोग

नागरीमें वाक्य-विश्लेषण (ऐनेलिसिस) और पदच्छेद (पार्सिङ्ग) की कुछ भी आवश्यकता नहीं पड़ती, इसलिये अँगरेजीके अन्धानुकरण पर न तो इन्हें पढ़ानेकी आवश्यकता है और न तो प्रश्न-पत्रमें पूछनेकी।

शब्दोंके रूप

बहुत-से प्रचलित शब्दोंके रूपोंके सम्बन्धमें व्यापक भ्रान्ति है। उनके शुद्ध रूप बालकोंको पहलेसे बता देने चाहिएँ। देखिए—

शुद्ध	अशुद्ध
कैलास	× कैलाश
अन्तर्धान	× अन्तर्ध्यान
छात्र (विद्यार्थी)	× छात्र
उपर्युक्त	× उपरोक्त
राष्ट्रिय	× राष्ट्रीय
अन्ताराष्ट्रिय	× अन्तर्राष्ट्रीय

बहुतसे शब्दोंके अनेक शुद्ध रूप होते हैं किन्तु लोग किसी एक प्रचलित रूपको शुद्ध मानकर शेषको अशुद्ध समझते हैं—

नूतन, नूत्न। कलश, कलस। भृकुटी, भृकुटि, भ्रुकुटि, भ्रुकुटी, भ्रूकुटि, भ्रूकुटी। वसिष्ठ, वशिष्ठ। वेश, वेष। कोश, कोष। विकाश, वीकाश। विहार, वीहार।

व्याकरण कब पढ़ाया जाय?

प्रारम्भिक अवस्थावाले विद्यार्थीको व्याकरण पढ़ाना उसपर केवल बोझ लादना है। मौखिक या लेख-रचनामें थोड़ी-बहुत गति हो जानेके पश्चात् ही उसके साथ व्याकरणका सहयोग श्रेयस्कर होता है। लौर्ड मेकौलेका कथन है कि 'मनुष्य उसी भाषाका पूर्ण पण्डित हो सकता है जिसे उसने पहले और जिसका व्याकरण उसने पीछे सीखा हो।'

१२

रूढोक्ति और लोकोक्ति

भाषामें सलोनापन

व्याकरणका काम भाषा सिखाना नहीं, केवल भाषाको व्यवस्थित करना है। इसीलिये व्याकरणको पतञ्जलिने 'शब्द-शासन' नहीं 'शब्दानु-शासन' कहा है। वाक्यका कौनसा अङ्ग किस स्थानपर रहना चाहिए इसकी व्यवस्था करना तथा शब्दोंका रूप स्थिर करना व्याकरणका उद्देश्य है, किन्तु भाषामें चमत्कार-द्वारा सौन्दर्य उत्पन्न करना व्याकरणके सामर्थ्यकी बात नहीं। इस अभावकी पूर्ति शब्द-शक्ति करती है। शब्दशक्तिके सहारे कुछ शब्द-समूह अनेक अर्थ धारण करके लोक-जिह्वामें सधते-सधते लोकोक्ति (कहावत) और रूढोक्ति (मुहावरे) के रूपमें बँध जाते हैं। अतः शब्दशक्तियाँ एक प्रकारकी विद्रोहिणी सुधारिकाएँ हैं जो अनुशासक व्याकरणके बन्धनोंकी चिन्ता न करके अपना नया-नया रूप-रंग बनाती चलती हैं और वैयाकरण तथा कोषकार, मन मारकर उनकी धाँधलियाँ स्वीकार करनेके लिये बाध्य हो जाते हैं।

भावका महत्त्व

हम कह चुके हैं कि भाषा रथ है, भाव रथी और व्याकरणको सारथि मान लीजिए। यद्यपि रथको सारथि ही चलाता है तथापि सारथिपर रथीका ही नियन्त्रण रहता है। जिस प्रकार सारथि-द्वारा रथ एक निश्चित मार्गपर जाते हुए भी रथी-द्वारा बीचमें ही भिन्न दिशाकी ओर जानेके लिये बाध्य किया जा सकता है, उसी प्रकार व्याकरणके बन्धनमें चलती हुई भाषा भी भावके संकेतपर पथ-परिवर्त्तन कर दिया करती है। व्याकरण भी उस

परिवर्त्तनको माननेके लिये बाध्य हो जाता है। इसी परिवर्त्तित प्रयोगको रूढ़ोक्ति कहते हैं।

संकेत और संकेतात्मिका ध्वनियाँ

भाषा यद्यपि मनोभावोंको प्रकट करने का सर्वोत्कृष्ट साधन है तथापि इस साधनके अभावमें मनुष्यका कार्य कभी रुका नहीं रहा। गूँगा भी पाणि-मुद्राओं, अक्षि-विकारों तथा अस्पष्ट ध्वनि-संकेतों-द्वारा अपना काम चला ही लेता है। आज भी अपरिचित प्रदेशमें जब हमारे मनोभावोंको स्पष्टतया व्यक्त करनेमें भाषा असफल और विवश जाती है तब मनुष्य अक्षि-विकार, पाणि-विहार आदि सहज और स्थूल साधनों-द्वारा ही दूसरोंपर अपने भाव ठीक-ठीक प्रकट कर लेते हैं। भावोंकी तीव्र, मध्यम तथा साधारण अनुभूतिके अनुसार ही भाषाकी गति भी तीव्र, मध्यम, तथा साधारण होती चलती है। बहुधा देखा जाता है कि क्रोध, वात्सल्य, हर्ष, भय और आश्चर्यकी तीव्र अनुभूतियाँ, भावोंको भाषाके साँचेमें नहीं ढालने पातीं। ऐसे अवसरोंपर मनुष्य उपर्युक्त भावसूचक विभिन्न सङ्केतों और संकेतात्मक ध्वनियों (हुं, हुँः, अः, ओः) का प्रयोग करता रहता है। अतः भावके सहारे भाषा चलती है। रसना-रङ्गमञ्चपर यदि भाव-सूत्रधार मौन रहे तो भाषा-नटी भी निश्चेष्ट ही रहेगी।

वाक्यका अनुबन्ध

भाषाकी अवयुति वाक्य है। पीछे बताया जा चुका है कि 'योग्यता, आकांक्षा और आसत्तियुक्त पद-समूह ही वाक्य कहलाता है।' किसीने कहा—'पानी बरसता है'। इस वाक्यमें 'पानी' और 'बरसना' शब्दोंके अर्थोंमें अबाध सम्बन्ध है। इस वाक्यको सुनकर या पढ़कर श्रोता या पाठक समझेगा कि 'आकाशसे जल गिर रहा है'। जलका गिरना तथ्य है। वाक्यने इस तथ्यके ज्ञानकी पूर्त्ति की। व्याकरणकी दृष्टिसे यह वाक्य पूर्णतः ठीक उतरा।

अब मान लीजिए ग्रीष्म ऋतु है। भयंकर गर्मी पड़ रही है। सूर्य

तप रहा है। आँखें आकाशकी ओर उठनेमें असमर्थ हैं। किसीको गर्मीकी तीव्र अनुभूति हुई। इस अनुभूतिको उसकी तीव्रताके अनुसार ही प्रकट करनेके लिये उसने कहा—'आग बरस रही है'। अत्यधिक गर्मीकी सूचना देनेके लिये ही उसने इस वाक्यका प्रयोग किया है। अग्निमें उष्णता और जलानेकी शक्ति होती है। इधर गर्मीकी मात्रा इतनी बढ़ी हुई है कि शरीर जलता-सा जान पड़ता है। अतः 'गर्मीकी अधिकता' और 'अग्नि'में एक स्वाभाविक साम्य स्थापित हुआ। अत्यधिक गर्मीकी उत्पत्तिसे पृथ्वीका कोई स्पष्ट सम्बन्ध नहीं दिखाई देता। सूर्य ही उसका गोचर कारण लक्षित होता है। सूर्य आकाशमें है और पानी भी आकाशसे ही बरसता है। पानीकी 'बरसना' क्रिया लाकर 'आग'के साथ जोड़ दी गई। अतः 'आग बरस रही है' वाक्यका अर्थ यह नहीं लगाया जायगा कि 'आकाशसे आगके अंगारे अथवा चिनगारियाँ भूमिपर गिर रही हैं।' उपर्युक्त वाक्यसे गर्मीकी अधिकता ही व्यञ्जित होगी, अर्थात् वाक्यका अभिधेयार्थ छोड़कर लक्ष्यार्थ ही स्वीकार किया जायगा। जिस शक्तिसे अभिधेयार्थका निषेध करके उससे कुछ सम्बन्ध रखनेवाला लक्ष्यार्थ लिया जाता है उसे लक्षणा कहते हैं—

मुख्यार्थबाधे तद्युक्तो ययाऽन्योर्थः प्रतीयते।
रूढेः प्रयोजनाद्वाऽसौ लक्षणा-शक्तिरर्पिता॥

—साहित्यदर्पण।

[जहाँ रूढ़ितः अथवा प्रयोजनवश प्रसिद्ध अर्थ छोड़कर किन्तु उससे कुछ सम्बन्ध रखनेवाला अर्थ प्रतीत होता है वहाँ लक्षणा शक्ति लगी रहती है।]

इसी प्रकारका एक और उदाहरण 'सिर उड़ाना' भी लीजिए। 'सिर' कोई पक्षी, पतंग या पंखवाला पदार्थ नहीं है जो उड़ाया जा सके। वायुमें निराधार संचरणके व्यापारको 'उड़ना' कहते हैं। तलवारके द्वारा कटनेपर सिर उछलकर भूमिपर गिरता है। निराधार संचरणके व्यापारका आरोप जब सिरके साथ किया गया तो 'सिर उड़ाना'का लक्ष्यार्थ हुआ 'सिर काट

देना।' यही आलङ्कारिक अनुकरणात्मक आरोप अथवा लक्षणा ही रूढोक्ति या मुहावरेका मूल है। 'कोई भी आलङ्कारिक अनुकरणात्मक आरोपसे युक्त पद निरन्तर प्रयोगके द्वारा रूढ हो जानेपर रूढोक्ति (मुहावरा) कहलाने लगता है।' प्रारम्भमें तो आलङ्कारिक अनुकरणात्मक आरोपोंकी गिनती प्रयोजनवती लक्षणामें होती है किन्तु निरन्तर प्रयोग-द्वारा कुछ समय बीत जानेपर वही 'रूढा-लक्षणा' हो जाती है और लोग उसे रूढोक्ति, मुहावरा, सिद्धोक्ति या व्यवहारोक्ति कहने लगते हैं। कहनेका तात्पर्य यह है कि कोई वाक्य या वाक्यांश रूढ हुए बिना मुहावरा नहीं बन सकता।

रूढोक्ति (इडियम) या मुहावरेकी परिभाषा

'मुहावरा' स्वयं अरबी भाषाका शब्द है। इसकी उत्पत्ति अरबीके 'हौर' अथवा 'हरीर' शब्दसे बताई जाती है। अरबी भाषामें 'हौर' शब्दका अर्थ 'गर्म' है। 'गर्म' शब्दके अभिधेयार्थका निषेध करके यदि उसके लक्ष्यार्थपर विचार करें तो इसका अर्थ होगा 'अत्यधिक प्रयोगमें आनेवाली वस्तु।' जैसे 'कांग्रेसी शासनमें भी घूसका बाज़ार गर्म है' कहनेसे कोई यह न समझेगा कि 'घूसका कोई बाज़ार है और उस बाज़ारमें आग लग गई है'। इसका लाक्षणिक अर्थ यही होगा कि 'कांग्रेसी शासनमें भी बहुत घूस ली जाती है जहाँ नहीं ली जानी चाहिए थी।' 'हिन्दी शब्दसागर, फ़रहंग आसफ़िया और वेब्स्टर डिक्शनरी' आदि हिन्दी, उर्दू और अँगरेज़ीके प्रमाणिक कोषमें 'मुहावरा' शब्दके कई अर्थ किए गए हैं पर सबमें पाया जानेवाला उसका सामान्य अर्थ है 'चिर और निश्चित लोक-प्रयोग।' सबके विचारोंमें सामान्यतया एकरूपता है और सभीने रूढोक्तिमें लक्षणाके ही लक्षणाको किसी न किसी रूपमें स्वीकार किया है। परन्तु मुहावरेका एक प्रचलित अर्थ 'अभ्यास' भी है। यदि यह अर्थ भी दृष्टिमें रखकर विचार करें तो मुहावरेकी परिभाषा होगी कि **'भाषामें निरन्तर**

अभ्यासके द्वारा संस्कृत, सर्वसम्मत तथा रूढ आलङ्कारिक अनुकरणात्मक आरोपसे युक्त चामत्कारिक प्रयोगको रूढोक्ति या मुहावरा कहते हैं।'

रूढोक्तिकी उत्पत्ति

हिन्दी रूढोक्तियोंको शुद्ध, सुन्दर और प्रभावशाली रूप देनेका अधिक श्रेय उर्दू लेखकों और शायरोंको है। पर इसका यह भाव नहीं है कि उन्होंने रूढोक्तियोंकी कोई टकसाल बैठाई। रूढोक्तिकी उत्पत्तिमें ग्रामों और ग्रामीण जनताका महत्त्वपूर्ण हाथ रहा है। अधिकांश रूढोक्तियाँ हमारी अपढ़ और अशिक्षित जनताने उत्पन्न की है। प्रकृतिके सहज, सुन्दर और चिर-परिचित स्वरूपों, उपकरणों तथा व्यापारोंका अन्य-अन्य स्थलोंपर आरोप करके उन्होंने उसे रूढ बना दिया। अनेक सुन्दर और सजीवन शब्दोंके समान हमारी सर्वोत्तम रूढोक्तियाँ भी बैठकघरों, सभाओं अथवा पुस्तकालयोंमें न उत्पन्न होकर चटकल, पुतलीघर, रसोईघर, चौपाल, गाँव, खेत और खलिहानमें उत्पन्न हुई हैं। किसान, श्रमिक, अशिक्षित स्त्रियाँ तथा समाजकी नीची श्रेणीके अज्ञ-जन अपने भाव प्रकट करनेके लिये कभी-कभी ठेठ घरेलू शब्द जोड़-तोड़कर बोल बैठते हैं। ये प्रयोग इतने सधे हुए, शब्द-लाघवतायुक्त और सामान्य भाव-भूमिके इतने समीप पहुँचे होते हैं कि बोलचालमें सधते-सधते ये रूढोक्तियोंके रूपमें ढल जाती हैं। विद्वानों-द्वारा वे ही रूढ प्रयोग कट-छँट, सँवर-सुधरकर भाषाको सजानेवाले और उसमें शक्ति भरनेवाले अनमोल आभूषण बन जाते हैं।

बहुतसे असम्बद्ध वाक्य और वाक्यांश भी रूढोक्तियोंके समान प्रयुक्त होते हैं। ये क्यों और कैसे उत्पन्न हुए और मुहावरोंमें इनकी गणना क्यों होने लगी इसका निश्चित कारण निर्दिष्ट करना तो कठिन है किन्तु सम्भवतः ये इस बातके परिचायक हैं कि मानव-मस्तिष्कमें निष्फल तथा असम्बद्ध बातोंके लिये भी कुछ स्थान रहता है और मनुष्य इन

उच्छृङ्खल और असङ्गत प्रयोगोंको इतना प्यार करता है कि तर्क या व्याकरणके बन्धनकी कोई चिन्ता न करके इन्हें अपने नित्यप्रतिकी बोलचालमें स्थान दे देता है। 'तीन-पाँच करना, नौ-दो ग्यारह होना' आदि ऐसी ही रूढोक्तियाँ हैं।

रूढोक्तिकी शिक्षा

रूढोक्ति सिखानेकी सबसे सरल, स्वाभाविक और व्यावहारिक पद्धति यह है कि विद्यार्थीके हाथमें ऐसी पोथियाँ दे दी जायँ जिनमें रूढोक्तियोंका प्रचुर प्रयोग हुआ हो। इस सम्बन्धमें पण्डित रतननाथ दर सरशारका 'फ़िसानए आज़ाद', बाबू शिवपूजनसहायकी 'देहाती दुनिया', पंडित सीताराम चतुर्वेदीका 'गंगाराम' (जिसके एक अध्यायका उद्धरण आगे दिया गया है) और हरिऔधजीके 'चुभते तथा चोखे चौपदे' या 'बोलचाल' जैसी पुस्तकोंसे सहायता ली जा सकती है। इसके साथ ही पाठ्य पुस्तकमें जहाँ रूढोक्ति आवे वहाँ उसका अर्थ बतलाते हुए तत्सम्बन्धी अन्य रूढोक्तियोंका भी परिचय करा देना चाहिए। यदि आँखसे सम्बन्ध रखनेवाली कोई रूढोक्ति आवे तो वहाँ आँखसे सम्बन्ध रखनेवाली दूसरी रूढोक्तियोंका भी ज्ञान करा देना चाहिए। पाठ्य-पुस्तकोंमें अवस्थानुक्रमसे विद्यार्थियोंके लाभार्थ घरेलू और आङ्गिक रूढोक्तियोंसे प्रारम्भ करते हुए जीवनके अन्य विविध क्षेत्रोंसे सम्बद्ध रूढोक्तियोंका धीरे-धीरे ज्ञान करा देना आवश्यक है।

अन्य भाषाओंकी रूढोक्तियाँ

अन्य भाषाओंकी रूढोक्तियोंका भी अपनी भाषामें अनुवाद करनेकी शिक्षा प्रदान करना अत्यन्त आवश्यक है। इस सम्बन्धमें प्रोफ़ेसर आज़ादका यह कहना कि 'एक ज़ुबानके मुहावरेका दूसरी ज़ुबानमें तरजुमा करना जायज़ नहीं' पूर्णतः ठीक नहीं है। परस्पर सम्पर्कमें आनेपर विभिन्न भाषाओंका एक दूसरेपर प्रभाव पड़ना और रूढोक्तियोंका परस्पर आदान-प्रदान होना अत्यन्त स्वाभाविक ही

है, किन्तु उनका शब्दानुवाद न करके भावानुवाद ही करना अच्छा होता है। दूसरी भाषाकी रूढोक्तिका अनुवाद अपनी भाषामें करते समय उस पराई रूढोक्तिके अर्थकी द्योतिका जो रूढोक्ति अपने यहाँ प्रचलित हो उसीका प्रयोग करना चाहिए, जैसे—'टु टेक टु वन्स हील्स' का अनुवाद 'अपनी एड़ीपर लेना' के बदले 'सिरपर पैर रखकर भागना' ही ठीक हो सकता है। इसी प्रकार 'बर्ड्स आइ व्यू', 'टु थ्रो डस्ट इन वन्स आइज़' और 'टु स्ले दी स्लेन' का शाब्दिक अनुवाद क्रमशः 'विहंगम दृष्टि, आँखमें धूल झोंकना, मरेको मारना' किया जा सकता है। परन्तु 'नौट् टु लेट् ग्रास ग्रो अन्डर वन्स फ़ीट' और 'क्रोकोडाइल्स टीयर्स' का अनुवाद 'पैर तले घास न उगने देना' तथा 'नक्राश्रु' बहुत ही अनुचित है। नागरीमें इन उक्तियोंका कोई अर्थ ही नहीं। प्रत्येक जातिकी धार्मिक भावनाओं और रूढ विश्वासोंमें अन्तर होता है। यदि कोई अपने इस विश्वासके अनुसार कि घड़ियाल अपने आखेटको खानेसे पहले रोता है, किसी प्रच्छन्न पातकीके आँसुओंको 'क्रोकोडाइल्स टीयर्स' कहे तो अनुचित नहीं, पर जिस जातिके यहाँ कभी ऐसी बात सुनी ही न गई हो उसकी भाषामें इसका अनुवाद 'नक्राश्रु' करना व्यर्थ ही है। हम अपने यहाँ उसे 'बिलैया दंडवत्' कह सकते हैं।

शब्द-बद्ध रूढोक्तियाँ

आजकल उर्दू रूढोक्तियोंको हिन्दी रूप देनेका भी प्रयत्न किया जा रहा है और यह ठीक भी है किन्तु रूढोक्तियोंका रूप कभी-कभी उनके शब्दोंके साथ ही ढला होता है। 'ज़मीन-आसमानका फ़र्क है' कहनेके बदले हम 'आकाश-पातालका अन्तर है' कह सकते हैं किन्तु 'उसकी साँप लोटने लगे' के स्थानपर यह नहीं कह सकते कि 'उसके थलपर सर्प लुंठित होने लगे' और न हम किसी ईर्ष्यालु व्यक्तिको हमसे क्यों जलते हो' कहनेके बदले 'तुम हमसे क्यों प्रज्वलित होते कह सकते हैं। ऐसी उक्तियाँ शब्दोंमें बँधी होती हैं। उनका ज्योंका

रूढोक्तिके प्रयोगका औचित्य

अतः रूढोक्तियोंकी शिक्षा देते समय उसके उचित तथा शुद्ध प्रयोगका सदा ध्यान रखना चाहिए और यथासम्भव अधिकसे अधिक रूढोक्तियोंका प्रयोग सिखाना चाहिए क्योंकि इनसे भाषामें चिकनाई और गति आती है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि हम धुआँधार, अँधाधुन्ध, दाएँ-बाएँ रूढोक्तियाँ जमाते चलें और अपनी भाषा बनावटी बनाते चलें। रूढोक्तियोंका प्रयोग उचित स्थलोंपर उचित प्रभाव डालनेके लिये ऐसी सावधानीके साथ करना चाहिए कि वह स्वाभाविक, उचित तथा प्रभावोत्पादक प्रतीत हो। रूढोक्तियों (मुहावरों) से भरे होनेके कारण कोई लेख, वर्णन या कहानी कितनी लुभावनी और मनभावनी हो जाती है इसका प्रत्यक्ष उदाहरण यह लीजिए—

गंगाराम

'गंगाराम उन इने-गिने भागवान लोगोंमें से है जो अपनी माँके पेटमें बैठे-बैठे अपने दादा, चाचा और तीन भाई-बहनोंको डकार गए, धरतीपर उतरनेके साथ ही भूकम्प बनकर सैकड़ों बस्तियाँ उजाड़ते-पजाड़ते न जाने कितनोंको समेट ले गए, दो दिन बीतते न बीतते अपनी सगी माँको हड़प गए और छठीका दिन आते-आते अपने हट्टे-कट्टे बापको भी चट्ट कर गए। सात दिनके नन्हे-मुन्ने गंगारामके इस सूनेपनपर आँखें तो बहुत पसीजीं पर किसीका जी इतना न पसीज पाया कि जान-बूझकर कोई इस साढ़ेसातीको ले जाकर अपने घर पाल लेता। आँखोंमें मिर्च लगाकर आँसू बहानेवाले उसके गोती-नातियोंमें गंगारामके बापके घर-बार, खेती बारी, रुपये-पैसेकी देखभालका बीड़ा उठानेवाले तो सैकड़ों उठ खड़े हुए पर ऐसा माईका लाल एक भी न निकला जो फूटे मुँह इतना ही कह देता कि 'गंगारामको मैंने गोद लिया' मानो वह कोई बाघ था कि जो उसके आगे जाय उसे फाड़ खाय।

मछलीकी आँखें, कछुएकी पीठ, सूअरका थूथन, बौनेका डील, नरसिंहका

मुँह, परशुरामके कन्धे, रामका रंग, कृष्णकी त्रिभंगी आन-बान, बुद्धकी उदासी और कल्किकी लाल-लाल आँखोंवाले गंगारामको देखनेसे कोई भी समझ सकता था कि श्रीमान्‌जी अपने नन्हे से चोलेमें हमारे दसों अवतार उलझाए चले आ रहे हैं। उसके मुँहमें न तो तुलसीदास-जैसे दाँत ही निकले थे न वह मुँहसे राम ही कह रहा था और न उसका जनम ही किसी सत्यानासी घड़ीमें हुआ था फिर भी न जाने क्यों उस बच्चेका माँ-बाप बननेकी कोई हामी नहीं भर पा रहा था।

पूतके पाँव पालनेमें ही दिखाई पड़ जाते हैं। जिस फूटी ढोलपर उसके धरतीपर आनेका बधावा खड़का और जिस बेसुरी गौनिहारिनने आँख-भौं मटका-मटकाकर सोहर अलापा और तान तोड़ी, वे दोनों ही गंगारामकी माँको बधाई देनेकी हड़बड़ीमें उसका नाम रखनेसे पहले ही सरग सिधार गए। चारों ओरसे अपनी पाली झाड़-बुहारकर जब पचास बरसकी पुरानी, सड़ी बाधवाली, टूटी पटियावाली झिलँगो खटियामें पड़े गंगाराम किर्याँ-किर्याँ करते हुए सारा घर सिरपर उठाए हुए थे, तब उसकी मौसी ही ऐसी ममतावाली निकली कि उसका जी पिघल उठा और वह उसका सनीचरी उजाड़-पौरा देख-समझकर भी उसे गोदमें उठाए अपने घर लिए चली आई।

यों तो दसवें दिन ही हम लोगोंमें बच्चोंका नाम रख दिया जाता है पर उसके माँ-बापने बैकुंठ बसानेकी इतनी हड़बड़ी दिखाई कि उस धपलेमें गंगारामका नामकरन भी महीने-भर टसका देना पड़ा। पर बात यहीं-तक होती तो ठीक थी। पुरोहितजीसे भी जब नामकरणकी बात छेड़ी गई तो वे कुछ दिनों कन्नी काटते रहे, इधर-उधर करके टाल-मटोल करते रहे, भरणी-भद्राकी आड़में कावा काटते रहे। पर जब गंगारामकी मौसी सेर चून बाँधकर पीछे ही पड़ गई और उनके आगे ग्यारह कलदार और चीनी-भरा चाँदीका कटोरा ला धरा; तब तो पुरोहितजीने भी दो-टूक कह दिया कि 'ऐसे करमफूटेके नामका पैसा खाकर क्या मुझे घर उजाड़ना है। जहाँ यह पैसा पहुँचा नहीं कि बंटा-ढार हुआ नहीं, कोई नामलेवा पानीदेवा न बचेगा। ग्यारह क्या, ग्यारह करोड़ भी लाकर कूड़ दो तो मैं ठीकरे समझूँ, ठीकरे।'

मौसीजीने सुना तो उन्हें काठ मार गया। वे सन्न रह गईं। पर उन्हों ने तो ओखलीमें सिर दे दिया था, अब मूसलों से क्या डरना था। उन्हों ने सोचा कि मेरा घर तो यों ही अँधेरा है। कौन जाने गंगाराम ही इस घरका उजाला बन जाय। मेरा क्या है ? मैं तो जमराजका न्यौता पाए बैठी हूँ। न जाने किस दिन डेरा कूच कर दूँ, आँखे मूँद लूँ। यह रहेगा तो दो अंजली पानीका भरोसा तो रहेगा।

उन्हों ने पुरोहितजीसे भी कुछ न पूछा-ताछा और अपने आप उसका नाम गंगाराम धर दिया कि गंगाके नामसे इसके सारे करम धुल जायँगे और रामके नामसे सारे पाप। बुढ़ियाके मनमें यह भी भरोसा था कि जैसे सुग्गा पढ़ाते-पढ़ाते बेसवा तर गई, अपने बेटे नारायणका नाम पुकार-कर अजामील भगवान्‌के पास पहुँच गया वैसे ही कहीं अन्त समयमें मेरा भी हंसा गंगारामको पुकारते-पुकारते उड़ा तो सीधे बैकुण्ठमें ही जाकर पंख समेटेगा। यह नाम रख देनेपर मौसीजीको इतना ढाढ़स हुआ कि लोग लाख समझा-बुझाकर हार गए कि गंगारामको घरसे हटा दो, कहीं किसी अनाथालयमें टिका दो, पर वह तो जैसे अंगदका पैर बन गई, टससे मस न हुई। कुछ बात भी ऐसी हुई कि जिस दिनसे उसका नाम गंगाराम पड़ा, उससे पहले वह जितनी बलि ले चुका था, उससे आगे उसने मुँह नहीं पसारा।

गंगारामको और लोग चाहे जो समझते हों पर अपनी मौसीके लिये तो वह सोनेका तार था। अभी उसकी दँतुलियाँ भी नहीं चमक पाई थीं कि उसकी मौसी उसे धुआँधार मधु चटाने लगीं कि ज्यों-त्यों उसका कंठ तो फूटे, वह कुछ तोतली बोलीमें बोलने तो लगे। पर बत्तीसों दाँत भरपूर निकल आनेपर भी गंगारामके मुँहसे एक फूटी बोली-तक न निकली। मौसीजीने बहुत झाड़-फूँक कराई, जन्तर-मन्तर बँधवाए, मान-मनौतियाँ मनाई, पर वही ढाकके तीन पात। वह भला कहाँ बोलकर दे। मौसीजीने जब देखा कि किसीका किया-धरा कुछ नहीं होता तो वह झख मारकर, जी समझाकर बैठ रही कि 'गूँगा ही सही, कहनेको तो अपना है।' अब वे उसे बड़ी टीम-टाम और ठाट-बाटसे सजा-बजाकर, पहना-उढ़ाकर रखने लगीं। एक तो गंगाराम यों ही अटपटे

रूप-रंगके थे, तिसपर जब वह पीली कछौटी मारे, मुँहसे लार बहाते, घुटनोंके बल डगमगाते गिरते-पड़ते चलते, तब तो उनकी धजा ही निराली बन जाती। इतनेपर भी मौसीको डर यही बना रहता कि गंगारामको किसी कुडीठेकी डीठ न लग जाय। इसीलिये वे तड़के-तड़के नहा-धोकर राई-नून करती, बलैयाँ लेती, टोना-टोटका करती, अला-बला उतारतीं और उसके काले-कलूटे चुक्कड़ मुँहपर एक लम्बा-चौड़ा काला डिठौना टीप देतीं।

आँखोंका काजल गालोंपर पोतकर जब गंगाराम रोने लगता तब भगवान् भी उसे चुप नहीं करा सकते थे। दो-चार घंटे फुक्का फाड़कर रो लेनेपर जब वह थक जाता तो अपने आप चुप मारकर बैठ रहता और इतनी देरमें उसकी आँजनसे भरी आँखोंसे निकले हुए और बँहोलियोंसे पोंछे हुए आँसू उसके मुँहपर ऐसे बेलबूटे चीत देते मानो कोई सधा हुआ चितेरा मेघदूतके यक्षके आगे चित्रकूटपर असाढ़के उठे हुए बादल चीत गया हो।

मौसीजीका मन इतनेसे ही न भरता। वे गंगारामके गलेमें सोनेका तोड़ा डालकर, कमरमें घुँघुरूदार तगड़ी बाँधकर और तंजेबके कुर्त्तेपर लाल मखमलकी कामदार टोपी देकर पास-पड़ोस ले जाया करतीं और उसकी ऐसी-ऐसी बड़ाई करतीं कि जो सुनती वह आँचलमें मुँह देकर जी भरकर हँसती। भला गंगारामको देखकर कोई सामने हँस तो दे! मौसीजी उसकी चोटी न उखाड़ लें, दाढ़ी न नोच लें! मौसीजी सुन भर लें कि कोई मेरी बातोंपर हँस रही थी या कोई झूठ-सच ही इधर-उधरसे आकर जड़ दे कि कोई गंगारामको कुबड़ा या बौना कह रहा है तो समझिए महाभारत न्यौत दिया गया। मौसीजी कच्छा बाँधकर, गला फाड़-फाड़कर सारा टोला सिरपर उठा लें और वह गिन-गिनकर गालियाँ सुनावें कि दस पीढ़ी पहले और दस पीढ़ी पीछेका कोई पुरखा उनकी गालियोंके बानसे बिना बिंधे न रह पावे। उस समय डाकगाड़ीका अंजन बनकर झकझकाती चलती हुई उनकी जीभ सबके घरोंकी राई-रत्ती सुना डालती, सबकी ढकी-खुली बखान जाती।

पहले तो लोग उनके मुँह नहीं लगना चाहते थे पर जब उन्होंने देखा

कि आए दिन यहाँ कुरुक्षेत्रका अखाड़ा बना रहता है तो लोगोंको भी रस आने लगा। कोई भी आते-जाते अचानक किसी कोनेसे भीरेसे कूक देता--'वह जा रही कुबड़ेकी माँ! वह जा रही गूँगेकी मौसी।' और फिर तो धूप-जाड़ा-बरसातमें पाँतमें खड़े होकर, पासका पैसा देकर, रोग और धुएँसे भरे अँधेरे चित्रघरोंमें चलती-फिरती मूरतें देखनेपर भी जो आनन्द न मिले उससे कहीं बढ़कर मनबहलावका पूरा ठाठ वहाँ बिना पैसेके मिल जाता।

गंगाराम एक बरसका होनेको आया तो मौसीने सोचा कि इसकी जन्मगाँठ धूमधामसे मनाई जाय। उन्होंने पास-पड़ोसियोंको न्यौता भेज दिया और बड़ी ठाट-बाट से वर्षगाँठ मनानेका पूरा साज बाँध लिया। पड़ोसके चरपटोंने सोचा कि अब चूके तो गए। ऐसा दाँव कब हाथ आता है? उन्होंने झट एक शहनाईवालेको एक रुपया बयाना जा थमाया और समझा दिया कि संझाको पाँच बजे मौसीजीके यहाँ जमकर बधावा बजे। अँगरेज़ी बाजेवालोंको भी ठीक कर दिया गया और हिंजड़ोंको भी उभाड़ दिया गया कि दिया-जले अच्छी धमा-चौकड़ी रहे। दो रुपएमें इतना मनबहलाव कुछ महँगा नहीं था। पाँच बजते-बजते वहाँ ऐसा जान पड़ने लगा मानो आठ-दस बारातें एक साथ आ धमकी हों। ढोल-ढपलीतक तो कुछ नहीं, पर जब हिँजड़े भी आकर हाथ मटका-मटकाकर, ढोलके साथ ताली बजा-बजाकर गाने और नाचने लगे--

'दसरथजीके लाल-बाल जीएँ जीएँ। हाँ, जीएँ जीएँ।'

तब तो मौसीजीके भी कान खड़े हुए। उन्होंने झाँककर देखा कि उनकी पौड़ीपर अच्छा बड़ा मेला जुट गया है। कहीं शहनाईवाला सोहरकी तान ले रहा है, कहीं अँगरेज़ी बाजेवाले किसी फ़िल्मी गीतकी तान भोंपुआ रहे हैं, कहीं हिंजड़े उँगली चमका-चमकाकर नाच रहे हैं और सारा टोला वहीं खड़ा आपसमें कुछ फुस-फुसा रहा है। मौसीजीने ताड़ लिया कि यह सब मुहल्लेवालोंकी मिली भगत है। वे चण्डी बनकर निकलीं घरसे और लगीं एक-एकको सुना-सुनाकर पानी पी-पीकर कोसने।

शहनाईवालोंने देखा कि अब ठहरनेमें शहनाई और ढप दोनोंके ठप हो

जानेका डर है तो वे भी धीरेसे वहाँसे नौ-दो ग्यारह हुए। उधर अँगरेज़ी बाजेवालोंने भी रंग बदरंग देखा तो वे भी बेचारे धीरेसे टसक दिए। पर हिँजड़े भला किसकी सुननेवाले थे। वे मौसीजीकी ओर उँगली मटका-मटकाकर लगे गाने—

'मौसीजीका नन्हाँ-मुन्ना जीए जीए,

हाँ, जीए, जीए।'

और जब मौसीजीने उन्हें भी आड़े हाथों लिया तो उन्होंने भी मौसीजीको वह-वह खोटी फबतियाँ सुनाईं कि उनकी गालियाँ मुँहकी मुँहमें ही रह गईं। वे हार झख मारकर, किवाड़ देकर, जीमें कुड़बुड़ाती भीतर घुस रहीं। पर जब रातके नौ बजेतक भी हिँजड़े टससे मस न हुए तब तो मौसीजी बड़ी झल्लाईं। उन्होंने ऊपर खिड़कीसे एक कलदार फेंककर कहा—'अब और यहाँ ठहरे तो जीना भारी कर दूँगी। यहाँसे चलते-फिरते दिखाई दो।' पर वे भी हिँजड़े थे—न पुरुष न स्त्री। उन्हें किसकी लाज थी। वे भी खूँटे बनकर गड़ गए। देखें हमारा क्या कर लेती हो? यार लोग भी इधर-उधरसे बोलियाँ बोल-बोलकर उन्हें बढ़ावा देते जा रहे थे—'वाह वाह! जमे रहो! हटना मत!'

पर मौसीजी बड़ी जबरजंग निकली। सोचा यूँ तो ये टलेंगे नहीं। झट एक घड़ा पानी ऊपरसे उन हिंजड़ोंपर उँडेल ही तो दिया। जाड़ेका दिन, वे सब भी तलेसे ऊपरतक नहा गए और अपना गाना-बजाना बन्द करके ताबड़तोड़ बड़े फूहड़ ढंगसे कोसते और गाली देते वहाँसे पत्ते-तोड़ भागते ही दिखाई दिए।

तो गंगारामकी वर्षगाँठ, सकुशल ही कहना चाहिए, पूरी हुई। गंगाराम पूरे एक बरसके हो गए।'

रूढ़ोक्तिके प्रयोगमें सावधानी

कुछ रूढ़ोक्तियाँ किसी विशेष काल (भूत, भविष्य या वर्त्तमान) में ही प्रयुक्त होती हैं, सब कालोंमें नहीं। अतः ऐसी सब रूढ़ोक्तियोंका प्रयोग समझाते हुए बता देना चाहिए कि इनका प्रयोग अमुक कालमें ही किया जाय। निम्नलिखित रूढ़ोक्ति लीजिए—

क. कलेजा जलाना (दुःख देना)।
इस रूढोक्तिका प्रयोग केवल वर्त्तमानमेँ ही होता है—

'तुम क्योँ मेरा कलेजा जलाए जा रहे हो' या **'उसने मेरी कलेजा जला रक्खा है।'**

इस रूढोक्तिका प्रयोग करते हुए हम यह नहीँ कह सकते—

'वह मेरा कलेजा जला रहा था।' या **'मैँ उसका कलेजा जला दूँगा।'**
इसी प्रकार **'होश उड़ गए'** का प्रयोग भूत कालमेँ ही होता है। इसका प्रयोग हम यह नहीँ कर सकते—

मैँ उसके होश उड़ा रहा हूँ।
कुछ रूढोक्तियाँ भविष्यमेँ ही सुन्दर उतरती हैँ जैसे **'ऐसे कीड़े पड़ेँगे।'** इसका प्रयोग अच्छा यही होता है—

जिन्होँने मुझपर झूठा अभियोग चलाया है, उन्हेँ ऐसे कीड़े पड़ेँगे कि सब सड़-सड़कर मरेँगे।
इसके बदले यह नहीँ कह सकते—

उन्हेँ ऐसे कीड़े पड़े कि सड़-सड़कर मर गए।

उन्हेँ ऐसे कीड़े पड़ रहे हैँ कि सड़-सड़कर मर रहे हैँ।

अतः रूढोक्तिका प्रयोग सिखाते समय उनके प्रयोगकी विधि, अवसर, परिस्थिति तथा कालका भी पूरा विवरण सिखा देना चाहिए।

लोकोक्ति या कहावत (प्रोवर्ब)

मानव-जीवनकी विशिष्ट घटना या व्यवहारका समाधान, समर्थन या परिहार करनेके लिये किसी विशेष घटनाके फल-स्वरूप किसी कविकी कोई उक्ति ऐसी सटीक बैठ जाती है कि वह एक कानसे दूसरे कान और एक मुँहसे दूसरे मुँहमेँ पहुँचकर लोक-जिह्वापर बैठ जाती है और जब-जब उस प्रकारकी परिस्थिति उत्पन्न या उपस्थित होती है तब-तब लोग उसका प्रयोग करते चलते हैँ और ये ही उक्तियाँ, आगे लोकोक्तियाँ या कहावतेँ बन जाती हैँ। किसी राधा नामकी नर्तकीने न जाने कब और

कहाँ, न नाचनेका बहाना बनानेके लिये कह दिया होगा कि 'मैं तभी नाच सकती हूँ जब चारों ओर बहुत अधिक लूकों (मशालों) या तैल-दीपोंका प्रकाश हो। उसके लिये नौ मन तेल लगेगा। और जबतक इतना तेल नहीं जुट जायगा तबतक मैं नहीं नाचूँगी।" न नौ मन तेल जुट पाया न राधा नाची। अतः जहाँ कहीं कोई किसी कार्यके लिये समर्थ होनेपर भी ऐसा अड़ंगा लगा दे कि उसका पूरा होना संभव न हो, वहाँ लोग कह देते हैं—'**न नौ मन तेल होगा न राधा नाचेगी।**' यह वाक्य अब लोकोक्ति बन गया।

सूक्ति

किसी विशेष परिस्थितिमें पड़कर लोग उस परिस्थितिसे संबद्ध किसी कवि-सूक्तिका निरन्तर प्रयोग करने लगते हैं तो वह सूक्ति भी लोकोक्ति बनकर चल निकलती है। उदाहरणके लिये, जब किसीपर कोई दैवी आपत्ति आ जाती है और मनुष्य उसका परिहार करनेमें अशक्त प्रतीत होता है तो लोग अपनेको या उसको सान्त्वना देनेके लिये तथा विवशता व्यक्त करनेके लिये कह देते हैं—

तुलसी जस भवितव्यता, तैसी मिलै सहाय।
आपु न आवै ताहि पै, ताहि तहाँ लै जाय॥

ऊपर 'नौ मन तेल' वाली लोकोक्तिसे इस प्रकारकी सार्वभौम उक्तियोंको अलग करनेके लिये इन्हें 'सूक्ति' कहते हैं। नीतिके सब श्लोक, दोहे और पद आदि सूक्तिके ही अन्तर्गत आते हैं।

लोकोक्ति तथा सूक्ति-शिक्षण

लोकोक्तियों तथा सूक्तियोंके शिक्षण तथा प्रयोगके लिये कुछ लोकोक्तियाँ और सूक्तियाँ संग्रह करके छात्रोंको रटवा दी जायँ, लेख-रचनाके समय ही शब्द-भाण्डारके साथ देकर उनका प्रयोग तथा उनके प्रयोगके अवसर समझा दिए जायँ और लेख-रचनामें उनका निरन्तर

प्रयोग कराते हुए उन्हें ऐसे वर्णन पढ़कर सुनाए जायँ जिनमें रूढोक्ति, लोकोक्ति और सूक्तियोंका सुन्दर, कलात्मक तथा मधुर योग हो।

रूढोक्ति, लोकोक्ति और सूक्तिसे सुसज्जित एक वर्णन लीजिए—

देख ली यारो ! तुम्हारी बम्बई

'दिल्लीका लड्डू जो खाय वह पछताय, न खाय वह भी पछताय। बम्बई भी जो जाय वह पछताय, न जाय वह और भी पछताय। बम्बईमें गाड़ीसे तले पैर धरते ही आँखें खुल जाती हैं। बोरीबन्दरपर गाड़ियोंका वह जमघट, बिजलीके दुमुहे अंजनोंकी वह मीठी सरसराहट कि न धूल न धक्कड़, धीरेसे कूँऽऽ किया और सरपट चल दिया। न कनफोड़ सीटी, न भकभक, न झकझक। और आना-जाना कितना सस्ता। दो आनेका ट्रामका टिकट लेकर कोलाबासे दादर-तक चक्कर लगा आइए। फिर बम्बईमें घुसकर देखिए तो घर-घरके तले जलपान-घर, बिना अंजनकी बिजलीगाड़ी, बड़ी-बड़ी दुतल्ली बसें और इतनी ऊँची-ऊँची अटारियाँ कि ऊपर सिर उठाओ तो टोपी नीचे गिर पड़े। किसी दूकानमें पहुँचभर जाइए तो जी झक्क हो जाय। क्या है जो यहाँ नहीं मिल सकता ? सूईसे लेकर मोटरतक जो चाहें जितनी चाहें ले लीजिए। धरतीपरका ऐसा कोई गोती नहीं जो वहाँ न मिल जाय।

पर भाई जान ! बम्बईमें जहाँ मन करे वहाँ भरपेट घूमिए, पर किसी भलेमानुसके घर टिकनेका नाम न लीजिएगा। आपको देखा नहीं कि उनके प्रान सूखे नहीं। आँखें चार होते ही जी आधा हो जाता है, जूड़ी आने लगती है, मन ही मन कोसने लगता है—'यह सनीचर कहाँसे आ टपका।' वह भी क्या करे ? ले-देकर, पगड़ी पूजकर एक ही तो खोली हाथ लगी, उसीमें उसके कच्चे-बच्चे भी भुस बनकर भरे पड़े हैं। बम्बईमें कहावत ही हो गई है—'मुम्बइमाँ रोटलो मळशे, पण ओटलो नथी मळशे।' [बम्बईमें रोटी तो मिलती है पर ठिकाना नहीं मिलता।] इसीलिये आपका मुँह देखती ही उनका मुँह फक्क हो जाता है, ऊपरकी साँस ऊपर और नीचेकी नीचे रह जाती है और वे मन ही मन महाबीरजीको मनाने लगते हैं कि यह सनीचर टले तो सवा पाव पेड़ा चढ़ावें।

भाड़में जाय ऐसे संगी-साथी और हित-नात जो मिलते ही खिल न उठें। नाम न लीजिए ऐसोंकी देहली झाँकनेका। 'आपको न चाहै वाके बापको न चाहिए।' धता बताइए ऐसे हेली-मेलियोंको जो आपको देखते ही कन्नी काट जायँ, आँख चुरा जायँ,—

आवत ही हरषै नहीं, नयनन नहीं सनेह।
तुलसी तहाँ न जाइए, कंचन बरसै मेह॥

इससे अच्छा कहीं इधर-उधर किसी छोटे-मोटे तबेलेमें पड़ रहिए। जो रूखी-सूखी मिल जाय, खाकर सो रहिए—

रहिमन रहिलाकी भली, जो परसै मन लाय।
परसत मन मैलो करै, सो मैदा जरि जाय॥

यहाँ जिसे देखिए साहब बना फिरता है। पूछो तो सीधे मुँह बात नहीं करता। अपनेको धन्ना सेठका बाप समझता है। बाप न मारी मेंढकी बेटा तीरन्दाज। घरमें भूँजी भाँग नहीं, पर ठाठबाट ऐसा नवाबी, मानो सैकड़ों रनवास बसाए बैठे हों। लड़कोंके भी कान काटती हैं यहाँकी लड़कियाँ। ओठ-गाल लाल-लाल किए, घुटनोंतक टाँग उघाड़े, बालोंमें सौ-सौ लहरें दिए, तितली बनी हाथमें बटुआ लेकर जब निकलती हैं तो सारा बम्बई हाय कर उठता है। और टर्री ऐसी कि नाकपर मक्खी न बैठने दें। कोई छेड़ दे तो गलेमें दुपट्टा डाल बैठें। अकबर चिल्लाते मर गए—

तालीम लड़कियोंकी ज़रूरी तो है मगर।
ख़ातूनख़ाना हों वे सभाकी परी न हों॥
ज़ीइल्मोमुत्तक़ी हों वले उनके मुन्तज़िम।
उस्ताद अच्छे हों मगर उस्तादजी न हों॥

जब प्रयागकी लड़कियोंकी चालढाल देखकर वे इतने खीझ उठे तो बम्बईकी लड़कियोंको देखकर वे हाराकिरी ही कर लेते।

बड़े लोगोंकी तो बात न पूछिए। गाड़ीसे नीचे पैर नहीं धरते। पर छोटे बाबू उनके भी चचा हैं। बड़े मियाँ सो बड़े मियाँ, छोटे मियाँ सुभान-अल्ला। बिना जेब खनखनाए या नोटोंकी झलक दिखाए मुँह उठाकर

ताकते तक नहीं। पर जहाँ कलदार फेंकिए कि सब झुक-झुककर बिलैया-डंडौत करने लगें। जिधर देखो उधर दिनरात रुपएकी हाय-हाय पड़ी हुई है—हाय रुपैया, हाय रुपैया।

ख़ुदा ख़ुदा न सही राम-राम करो।
जिसमें पैसा मिले वो काम करो॥

खाने-पीनेके नाम भी जयसियाराम ही समझिए। सच्चेके नाम भगवान् या नारियलका पानी। दूध ऐसा कि जिसे दिया जाय उसके हाथ पानी ही पानी लगे। लँगोटा कसकर डुबकी मारनेपर भी उसे यही थाह न लग पावे कि—

यह दूधमें पानी है या पानीमें दूध है।

रबड़ी, मलाई, खुरचन-पेड़ेका कहीं नाम नहीं। जहाँ देखो वहाँ बटाटे-वड़े और 'राईस प्लेट चालू आहे' की धूम है। कहीं किसी जलपान-घरमें पैर भर धरिए तो मूँगफलीके तेलकी सड़ी गन्धसे नाक बस्सा उठे। बड़ा नाम सुना था चौपटीका। पर वहाँ भी जाइए तो वही बटाटेका चाप और पकौड़ा, वह भी मूँगफलीके तेलमें तला हुआ। कोई एक दिन खा ले तो दस दिन वैद्यजीकी देहली खूँदनी पड़ जाय। दीवाला पिट जाय। तानसा झीलका पानी भी ऐसा पहलवानी कि पच्चीस बरसका जवान बरस-भर जमकर पीए तो पाँच सौ बरसका बूढ़ा होकर ममी बनकर पिरैमिडकी खोहमें लेट जाय—

देखिए यह सीन कितना ग्रैंड है।
देह है या साइकिलका स्टैंड है॥

और वाह री बम्बईकी हिन्दी! 'तुमकू किदर जानेका है। तुमेरा ओरत खोलीका बाजूमें पडेला है। तुम कबी (कब) जानेको मँगता। ये तुमेरा छाती (छतरी) नहीं तो किसीका (किसका) है। टपालका तपास करो नहीं तो तुमकू पगार नहीं देंगा, रजा नहीं मिलेंगी। हमकू बोला तो क्या करनेका? मेरे कू किदर भी नहीं जानेका है। तुम खाली-पीली बूम क्या पाड़ता है? तुमेरा भाई किधर बी होयगा। कौन कू बोला।'

वहाँके लोग अपने घर 'चोपड़ी' बाँचते हैं। गाड़ीमें उन्हें 'गर्दी' मिलती है 'भीड़' नहीं। 'मैं वहाँ था' के बदले कहते हैं। 'हम उधर होता'। कुछ न पूछिए। इस दिन यह हिन्दी कानमें पड़े तो अच्छा पढ़ा-लिखा हिन्दीका पण्डित भी पागल हो उठे, तेलमें अफ़ीम घोलकर पी रहे, संखिएकी डली निगल जाय—

काबुल गए तुरुक बनि आए बोलै अटपट बानी।
'आब-आब' करि मुए मियाँ, सिरहाने रक्खा पानी॥

बनारसी मस्तीमें पले हुए साँड़ वहाँ एक पखवाड़े रह जायँ तो सूखकर टेंगर हो जाय, हाड़-हाड़ निकल आवे। जहाँके लोग दो-चार घंटे गप-सड़ाका न लगाते हों, दो बीड़ा पान जमाकर घड़ी आध-घड़ी तमोलीकी दूकानपर गलचौर न करते हों, भाँग-बूटी छानकर पहर-दोपहर तरी न लेते हों वह भी कोई भलेमानसोंकी बस्ती है—

चनी चबैनी गंगजल, जो पुरवै करतार।
कासी कबहुँ न छाँड़िए, बिस्वनाथ दरबार॥

कहाँ तो वह काशी जहाँ 'सात बारमें नौ त्यौहार' होते हैं और कहाँ बम्बई, जहाँ त्यौहारके दिन भी निन्यानबेका त्यौहार लगा रहता है।

देख ली यारो तुम्हारी बम्बई।
हो तुम्हें ही यह मुबारक बम्बई॥

हमें तो अपनी काशी अच्छी—

मुक्ति-जन्म महि जानि, ज्ञान-खानि अघ-हानि कर।
जहँ बस सम्भु-भवानि, सो कासी सेइय कस न॥

———

१२

पाठ्य-पुस्तक

पुस्तकें कैसे रची जायँ ?

ाचीन कालमें लोग सब कुछ कण्ठस्थ कर लिया करते थे। उस मौखिक शिक्षाकी बँधी हुई परम्परामें सारी ज्ञातव्य बातें गुरु-मुखसे सुनकर कण्ठस्थ कर ली जाती थीं। सुन-सुनकर स्मरण किए जानेके कारण ही हमारे वेद आज भी श्रुति कहलाते हैं। परन्तु वह अवस्था बदल गई। आज हमारी शिक्षा-रूपी विशाल अट्टालिकाके ईंट-पत्थर पुस्तक ही हैं। कुशल कारीगरके समान अध्यापक उन्हीं पुस्तकोंके मसालेसे अपने शिष्योंके लिये शिक्षा-रूपी सदनका निर्माण करता है।

पाठ्य पुस्तकोंकी दयनीय दशा

हमारे देशमें भाषाका अध्यापक चारों ओरसे इतना जकड़ा हुआ है कि उसे शिक्षा विभाग-द्वारा निश्चित पाठ्यक्रम और पाठ्य-पुस्तकोंकी सीमामें ही बन्दी रहना पड़ता है। जहाँतक पाठ्यक्रम (सिलेबस) का सम्बन्ध है, वहाँतक तो उचित भी है, किन्तु जब पाठ्यपुस्तकोंका ठेका भी शिक्षा-विभाग ले लेता है तब बड़ा आश्चर्य और दुःख होता है। आश्चर्य इसलिये कि शिक्षा-शास्त्र सिखाने-पढ़ानेवाले तथा नेता लोग एक ओर तो अध्यापककी सुविधाके लिये, उसे सम्मान देने-दिलानेके लिये आकाश सिरपर उठाए हुए हैं किन्तु जब अध्यापकको स्वतन्त्रता देनेकी बात आती है तो वे अध्यापकोंको अनाड़ी और मूर्ख समझ बैठते हैं। जब हम अपने स्कूलोंमें शिक्षा-

शास्त्रसे परिचित अध्यापक रखनेका विधान करते हैं, तब हम उन्हें पाठ्य-पुस्तक बनानेकी स्वतन्त्रता क्यों नहीं देते ? दुःख इसलिये होता है कि पाठ्य-पुस्तकोंके निर्माणका काम जिन लोगोंके हाथमें है वे या तो विश्वविद्यालयोंके अध्यापक हैं जिन्हें शिक्षा-विज्ञानका कोई ज्ञान नहीं है या ऐसे महापुरुष हैं जो प्रकाशकोंके हाथकी कठपुतलियाँ हैं। इसका दुष्परिणाम यह हो रहा है कि हमारे बालकोंके लिये जो पाठ्य-पुस्तकें तैयार की जा रही हैं उनमें न क्रम है न अनुकूलता, न आदर्श न व्यावहारिकता, न भाषा-शैलीका विचार न विषयोंका उचित चुनाव।

पाठ्य-पुस्तक-निर्माणके नियम

पाठ्य-पुस्तकोंके निर्माणमें निम्नलिखित नियमोंका ध्यान रखना चाहिए—

१. पाठ्य-पुस्तकोंकी भाषा बालकोंकी अवस्थाके क्रमानुसार तद्भवसे तत्समकी ओर प्रवृत्त होती हो।
२. घरेलू रूढोक्तियोंसे आरम्भ करके क्रमशः सामाजिक तथा साहित्यिक रूढोक्तियोंका प्रयोग किया जाय।
३. सरल वाक्योंसे प्रारम्भ करके क्रमशः गुम्फित (संयुक्त) तथा लम्बे मिश्रित वाक्योंका प्रयोग हो।
४. घरेलू विषयोंसे प्रारम्भ करके पास-पड़ोसके, फिर देशके और फिर संसारके विषयोंका वर्णन हो।
५. साधारण प्राकृतिक अनुभवोंसे प्रारम्भ करके वैज्ञानिक आविष्कार, साहित्यिक समीक्षा, दार्शनिक विवेचन तथा अन्य उच्चतर वैज्ञानिक प्रयोगोंकी व्याख्या हो।

साधारण तुकबन्दियों तथा पद्योंसे प्रारंभ करके क्रमशः ऐसी उदात्त कविताओंका समावेश हो जिनमें सुरुचि, भाव-सरलता तथा उदात्त प्रवृत्तियोंको उकसानेकी क्षमता हो।

७. विभिन्न भाषा-शैलियाँ, भाव-शैलियाँ तथा रूप-शैलियोंका सन्निवेश हो।
८. प्रत्येक अवस्थाकी पाठ्य-पुस्तकके लिये उस अवस्थाके बालकोंकी रुचि तथा बौद्धिक योग्यताका ध्यान रक्खा जाय।
९. पाठ्य-पुस्तकोंकी सामग्री मनोरञ्जक, ज्ञानवर्द्धक तथा विद्यार्थियोंकी रचनात्मिका बुद्धिको उत्तेजित करनेवाली हो और उनकी शैली मनोहर हो।
१०. कोरे उपदेश न हों, जो हों वे कथा अथवा काव्यके आवरणसे ढके हों।
११. पुस्तकों या पत्रिकाओंसे ज्योंके त्यों लेख लेकर पाठ्य-पुस्तकोंमें न रक्खे जायँ वरन् बालकोंकी योग्यता तथा मानसिक अवस्थाके अनुसार उनकी भाषा, शैली, विषय, आदिका उचित संपादन कर लिया जाय।
१२. पाठ्य-पुस्तकमें आए हुए पाठोंके विषय कक्षाके अन्य विषयोंसे सम्बद्ध हों।
१३. पाठोंका क्रम ऋतु और समयके अनुकूल हो।
१४. किसी पाठमें कोई शब्द, अंश या उक्ति ऐसी न हो जिसकी व्याख्या करनेमें अश्लीलताकी ध्वनि आवे।

ऊपर दिए हुए नियमोंके अनुसार पाठ्य-पुस्तकोंकी रचना और परीक्षा करके देख लेना चाहिए कि उनकी सामग्री सरल, मनोरञ्जक और चरित्र-निर्माणमें सहायता देनेवाली है या नहीं; उनमें सीधे-सीधे कोरी उपदेशात्मक बातें ही तो नहीं कही दी गई हैं। यदि पुस्तक सरल न हुइ तो बालक उसे समझ नहीं पावेगा। यदि मनोरंजक न हुई तो बालकका मन उसमें नहीं लगेगा। मन न लगनेपर चरित्र-निर्माणमें सहायता देनेवाली उनकी सामग्री भी व्यर्थ हो जायगी और उसकी अच्छाइयोंका भी विद्यार्थीपर कोई प्रभाव नहीं पड़ सकेगा। मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे भी कोरी उपदेशात्मक बातें प्रायः चिढ़ और अरुचि

उत्पन्न करती हैं। कभी-कभी उनसे प्रतिक्रियात्मक भावनाओंको भी उत्तेजन मिल जाता है जिसका परिणाम सदैव वाञ्छनीय नहीं होता। अतः पाठ्य-पुस्तकोंकी सामग्री सरल, सरस, मनोरंजक, ज्ञानवर्द्धक और चरित्र-निर्माणमें सहायक होनी चाहिए।

पाठ्य-पुस्तकोंका मूल उद्देश्य

पाठ्य-पुस्तकोंका मूल उद्देश्य भाषा-सम्बन्धी योग्यता बढ़ाना ही होता है। अतः पाठ्य-पुस्तकोंका चुनाव करते समय पहले भाषाकी दृष्टिसे ही देख लेना चाहिए कि उनमें विभिन्न भाषा-शैलियोंका प्रयोग किया गया है या नहीं। शैली ही लेखकके व्यक्तित्वकी परिचायक होती है। विविध शैलियोंका परिचय विद्यार्थियोंके ज्ञान-क्षितिजको उदार बनाता है और इन्हींके आधारपर बालक अपनी लेखन-शैली चुनता है। पुस्तककी भाषामें आए हुए शब्द तद्भव रूपमें छात्रोंके परिचित रहते हैं अतः उनके द्वारा ही अपरिचित शब्दोंसे परिचित कराना सीधा और स्वाभाविक मार्ग है। अतः 'आग, कान, पहेली' आदि तद्भव शब्दोंका प्रयोग पहले और 'अग्नि, कर्ण, प्रहेलिका' आदि तत्सम रूपोंका प्रयोग पीछे करना चाहिए। इसी प्रकार पहले घरेलू रूढ़ोक्तियोंसे प्रारम्भ करते हुए ठेठ साहित्यिक रूढोक्तियोंकी ओर अग्रसर होना श्रेयस्कर है। 'दाँत निकालना, मुँह बनाना, कान गरम करना' आदिका प्रयोग पहले होना चाहिए और 'कानके कच्चे होना, मीन-मेख निकालना और नौ-दो ग्यारह होना' आदिका प्रयोग पीछे। वाक्योंके प्रयोगमें भी पहले सरल और साधारण वाक्योंसे रचना प्रारम्भ की जाय और फिर धीरे-धीरे गुम्फित, श्लिष्ट, संयुक्त और गाम्भीर्यपूर्ण वाक्यावलीका प्रयोग होता चले।

छात्रोंकी मानसिक अवस्थाका विचार

पाठ्य-पुस्तकोंके चुनावमें बालकोंकी मानसिक अवस्थाका भी विचार कर लेना चाहिए कि उनके लिये जिस पाठ्य-पुस्तककी व्यवस्था

की जा रही है उसकी सामग्रीमें ऐसी कौन-कौनसी बातें सम्मिलित हैं जिनका उनपर उनकी अवस्थाके अनुकूल या प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। पुस्तक लिखते समय देख लेना चाहिए कि अवस्था-विशेषने उन्हें कौनसे विषय रुचिकर लगते हैं, कौनसी शैली उन्हें मुग्ध करती है। पहली कक्षाके विद्यार्थीको परियोंको कहानी जितनी रुचिकर लगेगी उतनी कोलम्बसकी अमरीका-यात्रा नहीं। पर वही जब और सज्ञान हो जायगा तब उसे परियोंकी कहानीकी अस्वाभाविकता स्वयं खटकने लगेगी। अतः विद्यार्थीका मस्तिष्क ज्यों-ज्यों विकासोन्मुख होता जाय त्यों-त्यों उसकी अवस्थाके अनुकूल पाठ्य-सामग्रीमें भी परिवर्त्तन होता रहना चाहिए। पुस्तकका विषय ऐसा हो ही नहीं कि उसे पढ़ाना पड़े। अध्यापकका काम एक-एक शब्दका अर्थ बताना और एक-एक वाक्यकी व्याख्या करना नहीं है। उसे तो केवल मन्त्रणा और संकेत-द्वारा विद्यार्थीको निर्देश करते हुए नई शैली तथा विषयकी विशेषताका विवरण भर देना चाहिए।

कोरे उपदेश न हों

पाठ्य-पुस्तकका उद्देश्य न तो धर्म-शिक्षा देना है, न विज्ञान-शिक्षा। उसका उद्देश्य भाषा तथा लोक-ज्ञानका विकास करना ही है। इसलिये उसमें कोरे उपदेशोंका संग्रह न हो। उपदेशकी भी बड़ीसे बड़ी बातें कथात्मक ढङ्गसे इस प्रकार कही जा सकती हैं कि बालक स्वयं उसमेंसे नीति-पथ ढूँढ़ निकाले। यह कोई नवीन सिद्धान्त नहीं है। पाटलिपुत्रके राजा सुदर्शनके पुत्रोंकी शिक्षाके लिये आचार्य विष्णुशर्माने यही नीति बरती थी। उन्होंने कथाके-द्वारा ही सम्पूर्ण नीति सिखा दी थी—

कथाच्छलेन बालानां नीतिस्तदिह कथ्यते।

[कहानीके बहानेसे इसमें बच्चोंको नीति सिखाई जा रही है।]

इसलिये केवल नैतिक ही नहीं वरन् वैज्ञानिक तथा स्वास्थ्य-सम्बधी उपदेश भी कथात्मक ढंगसे ही देने चाहिएँ।

गद्य और पद्य

पाठ्य-पुस्तकोंमें प्रयुक्त विषय कुछ गद्यात्मक और कुछ पद्यात्मक होते हैं। विद्यार्थियोंकी प्रारम्भिक अवस्थाके लिये जिस पाठ्य-पुस्तककी व्यवस्था की जाय उसका गद्य-भाग अत्यन्त सरल और सुबोध हो, उसका प्रत्येक वाक्य छोटा और सरल हो। उसमे केवल ऐसे शब्दोंका प्रयोग किया जाय जिनसे विद्यार्थी प्रायः परिचित हों। प्रारम्भमें केवल सरल कहानियाँ ही दी जायँ। तत्पश्चात् क्रमशः दृश्य, वस्तु, घटना आदिका सरल भाषामें सरल वर्णन हो और जीवनोपयोगी विषयोंका ज्ञान करानेवाले विवरण दिए जायँ। पाठ्य-पुस्तकोंमें सरल विषयोंपर विवरणात्मक निबन्ध, छोटी-छोटी सुन्दर कहानियाँ, संवाद और छोटे नाटकोंका सन्निवेश भी कर लेना चाहिए। इस प्रकार शिक्षाकी अन्तिम अवस्थामें विविध शैलियोंके परिचायक उच्च कोटिके निबन्ध एवं अन्य साहित्यिक रचनाओंके समावेशसे पाठ्य-पुस्तकें सुन्दर और उपयोगी बनाई जा सकती हैं।

पाठ्य-पुस्तकोंमें गद्य रखनेका मुख्य उद्देश्य कवियों अथवा पद्योंसे परिचय कराना नहीं होता। उसका उद्देश्य यह होता है बालकोंकी काव्यमें रुचि हो, वे चावसे सूक्तियाँ कण्ठस्थ करें, उनका प्रयोग करें, कविताका रस लें तथा स्वयं कविताकी रचना करें।

गद्यका चयन

बच्चोंके लिये जो पुस्तकें निकल रही हैं उनमें भाषापर बहुत कम ध्यान दिया जाता है। प्रारम्भिक अवस्थामें भाषा इतनी सरल हो और विषय इतने रोचक कथारूपमें प्रस्तुत किया जाय कि अक्षर-ज्ञान होते ही छात्र स्वयं उसे पढ़ने और समझने लगे। जब उसे यह आत्मविश्वास हो जायगा कि मैं तो सब कुछ स्वयं पढ़कर समझ लेता हूँ तब उसकी रुचि तीव्र हो जायगी और वह पढ़नेमें रस लेने लगेगा। यह एक छोटी-सी कहानी बच्चोंके लिये देखिए—

उपमन्यु

बहुत दिन पहलेकी बात है। हमारे देशमें एक गुरुजी थे। वे जंगलमें नदीके तीरपर कुटिया बनाकर रहते थे। उनके यहाँ सैकड़ों बच्चे दूर-दूरसे पढ़ने आते थे। उन्हे वे खाना-कपड़ा भी देते थे। इन्हीं बच्चोंमें एक उपमन्यु भी था।

एक दिन गुरुजीने उपमन्युको बुलाकर कहा—

"देखो बेटा! तुम तड़के-तड़के उठकर जंगलमें गौएँ हाँक ले जाया करो। दिनभर चराकर साँझको लौटा लाया करो।"

उस दिनसे वह तड़के-तड़के उठता। दिन भर गौएँ चराकर साँझको ले आता।

एक दिन गुरुजीने देखा कि उपमन्यु मोटा होता जा रहा है। उन्होंने पूछा—"क्यों बेटा! तुम आजकल कुछ मोटे-तगड़े दिखाई पड़ रहे हो। क्या बात है? आजकल क्या खा-पी रहे हो?"

वह बोला—"गुरुजी! मैं दोपहरको कुछ माँग लाता हूँ। उसीसे पेट भर लेता हूँ।"

गुरुजी बोले—"देखो बेटा! अकेले-अकेले सब नहीं खाना चाहिए। बिना गुरुजीको दिए एक दाना भी मुँहमें नहीं डालना चाहिए।"

उस दिनसे वह माँगकर सब गुरुजीके आगे धर देता। गुरुजी उसमें से एक दाना भी उपमन्युको न देते। फिर भी वह गुरुजीकी गौएँ चराकर साँझको लाकर बाड़ेमें छोड़ देता।

एक दिन फिर गुरुजीने पूछा—"क्यों बेटा! आजकल पेट कैसे भरते हो?"

उपमन्यु बोला—"गुरुजी! मैं दूसरी बार जाकर माँग लाता हूँ। वही खा-पी लेता हूँ।"

गुरुजी बोले—"राम राम! दूसरी बार नहीं माँगना चाहिए।"

उपमन्युने बात मान ली।

गुरुजीने देखा कि उपमन्यु अब भी वैसा ही हट्टा-कट्टा है। उन्होंने

उससे फिर पूछा। वह बोला—"गुरुजी! अब तो मैं गौओंके दूधसे ही पेट भर लेता हूँ।"

गुरुजीने कहा—"राम राम! मुझसे बिना पूछे गौओंका दूध नहीं पीना चाहिए।"

उपमन्युने यह बात भी मान ली उसका मोटापा फिर भी कम नहीं हुआ। गुरुजीने फिर पूछा। उपमन्युने कहा—"गुरुजी! दूध पीते हुए बछड़े कुछ फेन गिराते रहते हैं। वही पीकर पेट भर लेता हूँ।"

गुरुजी बोले—"राम-राम! यह ठीक नहीं है।"

उपमन्युने यह बात भी मान ली। अब उसे बड़ी भूख लगी। भूखके मारे उसने आकके पत्ते चबा लिए। आकके पत्ते खा लेनेसे वह अन्धा हो गया। जंगलमें भटकते-भटकते वह एक कुएँमें जा गिरा।

दिन-छिपेतक भी उपमन्यु लौटकर नहीं आया। अब गुरुजी उसे ढूँढ़ने निकले। जंगलमें पहुँचकर वे उसका नाम ले-लेकर पुकारने लगे। कुएँमें पड़े हुए उपमन्युने गुरुजीकी बोली पहचान ली। उसने वहींसे चिल्लाकर कहा—"मैं यहाँ कुएँमें गिरा पड़ा हूँ गुरुजी!"

कुएँके पास पहुँचकर गुरुजीने पूछा—"क्यों बेटा! तुम कुएँमें कैसे गिर गए?"

उसने सब बातें सच-सच बता दी।

गुरुजीने उससे कहा—"तुम हाथ जोड़कर अश्विनीकुमारोंको पुकारो। वे आकर तुम्हारी आँखें ठीक कर देंगे।" उपमन्युने हाथ जोड़कर सच्चे मनसे अश्विनीकुमारोंको पुकारा। चट आकर वे बोले—"लो! यह पूआ खा लो, तुम्हारी आँखें ठीक हो जायँगी।"

उपमन्यु बोला—"नहीं! मैं बिना गुरुजीको दिए पूआ नहीं खा सकूँगा।"

यह सुनकर अश्विनीकुमारोंने कहा—"तुमने अपने गुरुजीका बड़ा कहना माना है। लो! तुम्हारी आँखें ठीक हो जायँगी।"

इतना कहते ही उपमन्युकी आँखें खुल गईं। वह कुएँसे बाहर निकला। वह झट दौड़कर गुरुजीके पैरों पर जा गिरा।

इस कहानीका एक भी शब्द तत्सम या कठिन नहीं है, एक भी वाक्य गुम्फित नहीं है। गुरुजीका नाम 'आयोदधौम्य' भी इसलिये निकाल दिया कि उसका उच्चारण करना और उसे स्मरण रखना बालकोंके लिये कठिन था।

इसके पश्चात् मुहावरेदार (जैसे पीछे 'गंगाराम' दिया चुका है) भाषावाले पाठ, उसके पश्चात् तत्सम शब्दोंवाले गद्यपाठ और अन्तमें उच्च कक्षाओंमें लाक्षणिक तथा समास शैलीवाले गंभीर निबन्ध दिए जाने चाहिएँ।

पद्यका चयन

पाठ्यपुस्तकोंमें गद्यकी अपेक्षा पद्यका चुनाव अधिक कठिन होता है। पद्यके दो भेद हैं। एक कोरा पद्य अर्थात् तुकबन्दी जिसमें बिखरे हुए गद्य-खण्ड छन्दोंके साँचेमें ढाल दिए जाते हैं—

चून्नू-मुन्नू भाई-भाई।
करते थे दिनरात लड़ाई॥

अथवा—

क्या तुमको मालुम है बच्चो !
यह बन्दरकी दुम है बच्चो॥

से लेकर—

वे ही नगर-वन-शैल-नदियाँ जो कि पहले थीं यहाँ।
हैं आज भी पर आज वैसी जान पड़ती हैं कहाँ॥

—जैसीसभी रचनाएँ पद्यके ही अन्तर्गत आती हैं। ऐसी रचनाएँ केवल प्रारम्भिक अवस्थावाले विद्यार्थियोंके कामकी हो सकती हैं। परन्तु पाठ्य पुस्तकोंकी सहायतासे हमारा उद्देश्य कोरा पद्य पढ़ना नहीं होता। हमारा प्रधान लक्ष्य तो कविताके प्रति विद्यार्थीकी रुचि जागरित करना

ही रहता है। कविता मानव-जीवनकी सारी कोमलता और मधुरताकी प्रतीक है।

कविका उद्देश्य और भाषा

पाठ्य-पुस्तकोंमें रखने-योग्य कविताओंका चुनाव करते समय हमें कवि, कविके उद्देश्य और उसकी भाषापर विचार कर लेना चाहिए। हमें यह देख लेना चाहिए कि किस कविकी कौनसी रचना किस श्रेणीके विद्यार्थीके अनुकुल या प्रतिकूल है। इस सम्बन्धमें सर्वप्रथम कविको ही लीजिए। हमारी पाठ्य-पुस्तकोंमें चौथी-पाँचवीं कक्षाओंकी पोथियोंमें भी कबीर और जायसीकी रचनाएँ डाल दी गई हैं। इन सम्पादकोंका कहना है कि बालकोंका सभी कवियोंसे परिचय होना चाहिए। किन्तु यह बड़ी भारी भूल है। प्रारम्भिक कक्षावाले विद्यार्थीके लिये इन कवियोंका क्या महत्त्व है? कबीर बैरागी उपदेशक थे और जायसी सूफ़ी सन्त। उन्होंने अपनी रचनाएँ बालकोंके लिये की ही नहीं थीं उनका उद्देश्य तो एक विशेष सिद्धान्तका प्रचार करना था। ऐसी स्थितिमें कोमलमति बालकोंपर उनके सिद्धान्तों और उपदेशोंका बोझ डालना कदापि उचित नहीं।

कवि-चयनमें विवेक

पाठ्य-पुस्तक-निर्माणकी सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि पाठ्य-पुस्तक प्रणेता इस बातपर ध्यान नहीं देते कि स्कूलोंमें पद्य पढ़ानेका उद्देश्य विद्यार्थियोंके मनमें कविताके प्रति रुचि उत्पन्न करना होता है। किन्तु वे प्रायः सभी प्रतिनिधि कवियोंकी थोड़ी-बहुत रचनाओंका संग्रह कर दिया करते हैं, जिससे विद्यार्थियोंको कोई वास्तविक लाभ नहीं पहुँचता। जिस कविकी रचनाके निर्माण या उसकी भाषाके सम्बन्धमें कोई मतभेद हो उसे संग्रहमें कदापि स्थान नहीं देना चाहिए। उदाहरणके लिये कबीरको ले लीजिए। कबीरके विषयमें आजतक यही निर्णय नहीं हो पाया है कि उनके नामसे प्रचलित पद्य उन्हींके हैं या उनके चेलोंके।

अतः जिसकी प्रामाणिकतामें ही सन्देह है उसे उसकी रचना कहकर चलाना कितना बड़ी विडम्बना है। इसीके साथ-साथ उन पद्योंको भी दूर रखना चाहिए जिनके कारण कविके वास्तविक स्वरूके बदल भ्रमात्मक रूप सामने आता हो। हमारी पाठ्य-पुस्तकोंमें बिहारीके ऐसे दोहे भरे जाते हैं जिनमें उन्होंने मन बहलावके लिये कुछ नीति या भक्ति-भावकी चर्चा की है। बिहारी स्पष्टतः शृङ्गारी कवि थे। उनके सात सौ दोहोंमें सत्तर दोहे भी शुद्ध नीतिके या भक्ति-विषयक नहीं हैं।

मीत न नीत, गलीत ह्वै, जौ धरिए धन जोर।
खाऐं खरचैं जौ जुरै, तौ जोरिए करोर॥ (बिहारी)

ऐसे दोहे नीतिसे सम्बन्ध रखते हैं और—

अजौं तर्यौना ही रह्यौ, स्रुति सेवत इक अङ्ग।
नाक-बास बेसर लह्यौ, बसि मुकुतनके सङ्ग॥ (बिहारी)

—जैसे दोहे शाब्दिक चमत्कारसे। खोजनेसे दस-बीस दोहे ऐसे भक्तिभावके भी मिल जाते हैं—

मेरी भव-बाधा हरौ, राधा नागरि सोय।
जा तनकी झाईं परे, स्याम हरित-दुति होय॥
कबकौ टेरत दीन रट, होत न स्याम सहाय।
तुमहूँ लागी जगत-गुरु जगनायक जगबाय॥

इन्हें पढ़कर बिहारीको विद्यार्थी तुलसीके समान भक्ति-काव्यका प्रणेता समझ बैठते हैं। इसी प्रकार पाठ्य-पुस्तकमें जायसके पद्मावतसे उद्धृत गोरा-बादलकी वीरता पढ़कर यदि विद्यार्थी उन्हें भूषणके समान वीर-काव्यका कवि मान बैठे तो उस विद्यार्थीका नहीं वरन संग्रहकर्त्ता महोदयका ही दोष है।

छायावादी कविता

अभी पिछले दिनोंतक हिन्दी-साहित्यको छायावादकी मायाने

अभिभूत कर रक्खा था, जिसके कारण संग्रहकर्त्ता लोग बड़े धड़ल्लेसे तथाकथित ऐसी छायावादी रचनाओंको बड़ी स्पृहाके साथ अपने संग्रहोंमें स्थान दिया करते थे जिनका अर्थ न अध्यापक समझता है, न छात्र समझता है न स्वयं कवि, समझ पाता है। ऐसी कविताएँ दार्शनिक, साम्प्रदायिक अर्थात् अतिगूढ लाक्षणिक होती हैं। उनमें प्रत्यक्ष तथा लौकिक अनुभूतिका सर्वथा अभाव रहता है। अतः ऐसी कविताएँ पाठ्य-पुस्तकोंमें नहीं रखनी चाहिएँ। महादेवी वर्माकी एक प्रसिद्ध कविता की पंक्ति है—

पथ मेरा निर्वाण बन गया।

जितने अध्यापक हैं, उतने ही इसके अर्थ हैं। इसके कुछ अर्थ लीजिए—

१. मार्गमें ही मेरा दम निकल गया। मै मार्गमें ही समाप्त हो गया।

२. इतना लम्बा मार्ग था कि सारा जीवन उसपर चलते-चलते समाप्त हो गया।

३. अपने इष्टके भवनकी ओर ले जानेवाला पथ ही मेरे लिये मोक्षके समान सुखकर हो गया।

४. मैं जिस पथपर चल रहा था वही मेरा लक्ष्य था।

५. मार्ग ने ही मुक्तिका रूप धारण कर लिया, साधन ही साध्य हो गया।

६. मार्गमें ही मुक्ति मिल गई।

७. साधन पूरा होनेसे पहले ही सिद्धि मिल गई।

८. साधन (मार्ग) को ही देखकर मैं इतना भयभीत हो गया कि आगे न बढ़कर उस मार्गको ही नमस्कार करके बैठ गया।

इन उपर्युक्त अर्थोंमेसे कौन-सा अर्थ ठीक है यह कहना तो कठिन है किन्तु इनके अतिरिक्त और भी अनेक दार्शनिक अर्थ निकाले जा सकते हैं। ऐसे बहुर्थी, जटिल तथा गूढार्थी पद पाठ्य-पुस्तकोंमें संगृहीत नहीं करने चाहिए। ऐसे पदोंसे कविताके प्रति रुचि उत्पन्न होनेके बदले अरुचि उत्पन्न होने लगती है और कविता-शिक्षणका पूर्ण लक्ष्य ही समाप्त हो जाता है।

रुचिकर कविताका चयन

पाठ्य-पुस्तकोंमें संगृहीत कविताएँ ऐसी होनी चाहिएँ जिनका अर्थ समझते ही विद्यार्थी उसे कण्ठस्थ करनेके लिये लालायित हो उठे। इस दृष्टिसे, नीतिके ऐसे दोहोंका संग्रह उनमें किया जा सकता है जो चरित्र-निर्माणमें सहायता देनेके साथ-साथ व्यवहार-पटुता भी सिखाते हों—

खीरा मुखसों काटिए, भरिए नमक बनाय।
रहिमन करुए मुखनको, चहियत यही सजाय॥ [रहीम]

अथवा भारतेन्दुके वे सवैये जिनमें शब्द-चमत्कारके साथ भाव-चमत्कार भी हो—

यह संगमें लागियै डोलैं सदा, बिन देखे न धीरज आनती हैं।
छिनहू जो बियोग परै 'हरिचन्द' तौ चाल प्रलैकी सु ठानती हैं॥
बरुनीमें थिरैं न झपैं उझपैं, पलमें न समाइबो जानती हैं।
पिय प्यारे तिहारे निहारे बिना अँखियाँ दुखियाँ नहिं मानती हैं॥

अथवा 'रत्नाकरका'—

नैकु कही बैननि, अनेक कही नैननिसौं,
रही-सही सोऊ कहि दीनी हिचकीनिसौं। [उद्धव-शतक]

वीरतापूर्ण ऐतिहासिक पद्योंका संग्रह भी विद्यार्थियोंको अधिक लाभ पहुँचा सकता है।

वासनात्मक विषयोंका लोप

इसी स्थलपर शिक्षा-सम्बन्धी इस सिद्धान्तका भी उल्लेख कर देना बुरा न होगा कि पाठ्य-पुस्तकोंमें कोई शब्द, वाक्य अथवा भाव ऐसा न हो जो किसी प्रकारकी वासनात्मक भावनाको उत्तेजना दे या उसका स्मरण भी दिलावे। पाठ्य-पुस्तकोंमें केवल ऐसी कविताओंका संग्रह होना चाहिए जिनसे बालकोंकी उदात्त वृत्तियाँ जागरित हों, उनमें सुन्दर भावनाओंका रोपण और विकास हो।

भाषाका विचार

पाठ्य-पुस्तकोंमें तद्भव शब्दोंसे तत्समकी ओर तथा सरल वाक्योंसे गुम्फित वाक्योंकी ओर क्रमशः बढ़ना चाहिए। इसी प्रकार कविताको भी सरल पद्योंसे प्रारम्भ करके क्रमशः व्यंजनापूर्ण सरस-काव्यकी ओर उठाते जाना चाहिए।

विषयोंका परस्पर अन्तर्योग

पाठ्य-पुस्तकके पाठ उस श्रेणीके अन्य विषयोंसे इस प्रकार सम्बद्ध हों कि उनके द्वारा उस श्रेणीके योग्य अन्य विषयोंका भी ज्ञान होता चले। पाँचवीं कक्षामें भारतका भूगोल पढ़ाया जाता है किन्तु उस कक्षाकी भाषाकी पाठ्य-पुस्तकमें इटलीके लोगोंके रहन-सहनका पाठ दिया जाता है। उक्त श्रेणीका बालक इतिहासमें भारतीय महापुरुषोंका जीवन-चरित पढ़ता है किन्तु पाठ्य-पुस्तकमें उसे गैरीबाल्डीका जीवन-चरित पढ़नेको मिलता है। यदि यह पाठ सातवीं श्रेणीमें रक्खा जाता तो ठीक होता क्योंकि वह भूगोलके अध्यापकसे इटलीके विषयमें पढ़ चुका रहता है। अतः पाठोंका चुनाव करते समय उस श्रेणीके अन्य पाठ्य-विषयोंका पूरा क्रम देख कर इस प्रकार पाठ-क्रम रखना चाहिए कि उनसे अन्य विषयोंके सम्यक् ज्ञानमें सहायता मिले।

पाठका परिमाण

पाठ्य-पुस्तकका प्रत्येक पाठ उतना ही बड़ा होना चाहिए जितना चालीस मिनटमें पढ़ाया जा सके। यह संभव न हो तो पाठको ऐसे भागोंमें विभक्त कर दिया जाय कि एक-एक भाग पढ़ानेमें चालीस मिनटसे अधिक न लगें। इसका मनोवैज्ञानिक कारण यह है कि बहुत बड़ा पाठ देखकर बालकका जी घबरा उठता है, रुचिकर सामग्री होते हुए भी पाठमें अरुचि उत्पन्न होती है। यदि पाठ छोटा होता है तो बालकको ऐसा अप्रकट संतोष होता है कि विषयकी दुरूहता भी उसे नहीं खलती।

टिप्पणी और प्रश्न

संपादनके पश्चात् दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य्य है टिप्पणी, सूत्र, व्याख्या तथा अभ्यासार्थ प्रश्न देना। हिन्दीके विद्वान् संपादक जब मूल लेख, पाठांश या कविता लेते हैं तो प्रायः लेखक तथा कविका नाम और परिचय तो दे देते हैं किन्तु उस लेख अथवा कविताका यह ठिकाना नहीं देते कि अमुक कविता अमुक कविके किस ग्रन्थ या किस प्रसंगसे ली गई है। ऐसा न होनेसे पाठ्य-विषयका पूर्वापर सम्बन्ध नहीं स्पष्ट हो पाता। अध्यापकसे यह आशा नहीं करनी चाहिए कि वह सम्पूर्ण साहित्यसे अभिज्ञ होगा और पद्य पढ़ते ही समझ लेगा। कविताओंमें किसी नायिका, रस अथवा अलंकारकी व्यञ्जना होती है। उसका ठीक ठिकाना न पानेसे पद्यका अर्थ करना विद्वान् अध्यापकके लिये भी कठिन हो जाता है। पद्य अथवा लेखके बीचमें कुछ अपरिचित नाम तथा शब्द भी आ जाते हैं जो या तो विदेशी होते हैं या अप्रचलित। ऐसे सभी शब्दों तथा नामोंका पूरा विवरण पुस्तक या पाठके अन्तमें दे देना चाहिए। अभ्यासार्थ दिए हुए प्रश्न ऐसे हों कि उनके द्वारा पाठका सारांश निकलवाया जा सके, पढ़े हुए पाठकके ज्ञानका प्रयोग कराया जा सके तथा उसपर स्वतन्त्र विचार प्रकट करनेको उत्साह दिलाया जा सके। पदच्छेद, वाक्यच्छेद, समास-विग्रह इत्यादि व्याकरण-सम्बन्धी प्रश्नोंका समावेश उसमें नहीं होना चाहिए।

पुस्तकोंकी छपाई

स्वास्थ्य वैज्ञानिकोंने प्रयोग करके निश्चय किया है कि पाठ्य-पुस्तकोंका काग़ज़ पतला तथा चमकदार नहीं होना चाहिए और अक्षर भी पतले, छोटे तथा टेढ़े मुँहके नहीं होने चाहिएँ। जैसे—

कहना, समझना, *बोलना,*

पाठ्य-पुस्तकोंमें आलंकारिक अक्षरोंका प्रयोग भी नहीं चाहिए। जैसे—

कमल कमल

अक्षर काले तथा चौड़े मुँहके हों जो अधिक स्याही उठाते हों जैसे—

छाया

(७२ पौइंट, सिक्स लाइन पाइका)

कमल	कमल	कमल
४८ पौइंट, फ़ोर लाइन पाइका	३६ पौइंट, टू लाइन ग्रेट	२४ पौइंट, टू लाइन पाइका
कमल	कमल	कमल
२० पौइंट, वन्निक ग्रेट प्राइमर	१६ पौइंट, काला ग्रेट प्राइमर	१२ पाइंट, काला पाइका

ऐसे अक्षरोंसे न तो आँखपर भार पड़ता है न दृष्टिमंदताका दोष ही आ पाता है।

बालकोंकी अवस्थाके क्रमसे निम्नलिखित मुद्रण-विधान विज्ञान-सम्मत है—

अवस्था	अक्षरोंके नाम	टाइपके नाम
३ से ५ वर्षतक	वाद	सिक्स लाइन पाइका
७ से ८ वर्षतक	कमल	फ़ोर लाइन पाइका
९ से १० वर्षतक	मालती	टू लाइन ग्रेट
११ से १२ वर्षतक	जीवन जीवन	वन्निक ग्रेट प्राइमर नाटा वन्निक
१३ से १४ वर्षतक	सारिका	काला ग्रेट प्राइमर
१५ से ऊपर	प्रकाश	काला पाइका

अक्षर १२ पौइंट पाइकासे कदापि छोटे न हों। १२ पौइंट काले पाइकामें छपे हुए दो शब्दोंके बीचमें कमसे कम $\frac{1}{2}$ इञ्चका अन्तर हो, अर्थात् इस प्रकार छपे—

'बात करना'

इस प्रकार नहीं—

'बात करना'

इसी प्रकार १२ पौइंट पाइकाके अक्षरोंकी दो पंक्तियोंके बीचमें भी कमसे कम 1/2 इञ्चका अन्तर हो, अर्थात् यों न छपे—

सब कहते हैं हमारा देश सबसे सुन्दर है। इसमें संसारकी सभी वस्तुएँ प्राप्त होती है।

वरन् इस प्रकार छपे—

सब कहते हैं हमारा देश सबसे सुन्दर है। इसमें संसारकी सभी वस्तुएँ प्राप्त होती हैं।

शब्दों तथा पंक्तियोंके बीचमें अक्षरोंके आकारके अनुपातसे अंतर भी बढ़ता जायगा अर्थात् जितना बड़ा अक्षर होगा उसी अनुपातसे उस अक्षरमें छपे हुए शब्द तथा पंक्तियोंके बीचका अन्तर भी चौड़ा होता जायगा।

१४

शिक्षा-शास्त्रके सिद्धान्त

पाठन-प्रणालियाँ

पाठ्य-पुस्तकोंके द्वारा शिक्षा देनेके विषयपर विचार करनेसे पूर्व शिक्षा-शास्त्रके उन सर्वमान्य सिद्धान्तोंकी व्याख्या करना भी आवश्यक है जिनके आधारपर नवीन शिक्षा-प्रणालियाँ, पाठन-विधियाँ तथा शिक्षण-क्रमोंकी उत्पत्ति हुई है। इन सिद्धान्तोंकी व्याख्या करनेसे पूर्व उन सिद्धान्तोंकी सर्वमान्यता और उनके मनोवैज्ञानिक आधारकी व्याख्या कर देना अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि उन्हींके कारण डाल्टन-प्रणाली, प्रयोग-प्रणाली (प्रोजेक्ट मेथड), बालोद्यान-प्रणाली (किण्डेर-गार्टेन) आदि अनेक शिक्षा-योजनाओंका जन्म हुआ है।

कुल-परम्परा और वातावरण

बालक अपने माता-पिता तथा कुल-परम्पराके कुछ संस्कार लेकर उत्पन्न होता है। जिस प्रकारके वातावरण तथा जैसी संगतिमें उसका लालन-पालन होता है वैसे ही उसके आचरण बन जाते हैं। वह जैसे औरोंको चलते-फिरते, उठते-बैठते, बोलते-चालते, खाते-पीते, नहाते-धोते, सोते-लेटते, ओढ़ते-पहनते, हँसते-रोते, कूदते-फाँदते तथा पढ़ते-लिखते देखता है वैसे ही वह आचरण भी करने लगता है। यह अनुकरण वृत्ति हमारी शिक्षाका मूल आधार है। अतः छात्रोंके सम्मुख ऐसा स्वस्थ और संयत व्यवहार, संगति तथा वातावरण उपस्थित करना चाहिए कि बालक उनका अनुकरण करके अच्छे आचरणका

अभ्यास कर सके। बालकोंमें उत्साह छलका पड़ता है। उनके हाथ-पैर कुछ करनेको व्याकुल रहते हैं। वे कोई ऐसा काम करना चाहते हैं जिसमें मन लगे। अतः बाँधकर बैठानेके बदले उन्हें ऐसे काममें लगाइए कि उसे खुलकर कूदने-फाँदने तथा खेलते हुए उत्साहसे अपने अङ्गोंसे काम लेनेकी सुविधा मिले।

बालकोंको रंगोंसे, रँगीली वस्तुओंसे, खिलौनोंसे बड़ा प्रेम होता है। उन्हें सुन्दर चटकीली वस्तुएँ बहुत भाती हैं। अतः उन्हें रंगीन चित्र, प्रतिमूर्ति (मौडल) तथा खिलौनोंके द्वारा पढ़ानेकी योजना बनाइए।

संगीतसे उन्हें स्वाभाविक प्रेम होता है। उनकी शिक्षामें गाने-बजानेका भी प्रबन्ध कीजिए।

वे जादूगर, बाजीगर, नट आदिके अद्भुत करतब बड़े चावसे देखते हैं, अतः उनके कौतूहलको सदा सजग रखनेवाली आश्चर्यजनक वस्तु तथा खेल आदिके द्वारा शिक्षा दीजिए।

वे कहानियाँ बड़े चावसे सुनते हैं। अच्छी-अच्छी कहानियाँ सुनाकर उन्हें भाषा भी सिखाइए, ज्ञान भी दीजिए।

वे मेले-ठेले बड़ी रुचिसे देखते हैं क्योंकि वहाँ उन्हें खाने-पीनेकी वस्तुएँ, खेल-खिलौने, चर्खी-घुमनी, सभी रुचिकर वस्तुएँ एक साथ मिल जाती हैं। उन्हें मेलेमें घुमा लाइए पर भीड़-भड़क्केसे दूर बचकर, उनका अनुभव बढ़ेगा।

वे दबकर, परतन्त्रतामें नहीं रहना चाहते। उन्हें स्वतः कार्य करने, स्वयं शिक्षित होनेकी व्यवस्था कीजिए।

रटनेमें उनकी तनिक भी रुचि नहीं होती। अतः रटनेका काम उन्हें मत दीजिए।

इसी आधारपर शिक्षा-शास्त्रियोंने पुरानी डंडा-प्रणाली छोड़ी, बालकोंका मन परखा और शिक्षा-प्रणालीमें बालकोंके लिये रुचिकर वस्तुओं तथा क्रियाओंका समावेश करके उन्हें यथासम्भव स्वतन्त्र

रूपसे विकसित होनेकी सुविधा दे दी और तदनुसार शिक्षाकी नई-नई प्रणालियाँ निकल आईं।

मनोविज्ञानकी प्रक्रिया

मानसशास्त्रके पंडितोंने विस्तृत अन्वेषण और परीक्षण करके यह सिद्धान्त निकाला है कि मनुष्यकी बुद्धिमें ज्ञानकी स्थापना निम्नलिखित क्रमसे होती है—बुद्धि वही ज्ञान ग्रहण करती है जिसके लिये मन एकाग्र रहा हो। मन उसी विषयमें एकाग्र होता है जो रुचिकर हो। रुचिकर वे ही वस्तुएँ होती हैं जिनमें सुन्दरता, अद्भुतता तथा नवीनता हो। सुन्दर होनेके लिये रंग-रूप और ध्वनि-माधुर्य अपेक्षित है। असाधारण होनेके लिये साधारणसे बढ़कर कुछ विशेष गुण या आकर्षण हो। अद्भुत होनेके लिये ऐसी विलक्षणता हो जो पहले कभी देखी-सुनी न गई हो। नवीनके लिये नये स्थान, विषय, वस्तु और व्यक्तियोंका परिचय हो। इसलिये बालकोंको सुन्दर रंगीन चित्रों, प्रतिमूर्तियों (मौडल) तथा खिलौनोंके द्वारा महापुरुषोंके असाधारण चरित्र तथा काल्पनिक अद्भुत कहानियाँ सुनाई-पढ़ाई जायँ और कौतुकालय (म्यूज़ियम), जन्तुशाला (चिड़ियाघर), नये मन्दिर, ऐतिहासिक स्थल, वन, नदी, पर्वत, झील, बाँध, नगर आदि स्थलोंमें ले जाकर घुमाया जाय। इस प्रकार उन्हें जो ज्ञान प्राप्त होगा वह पक्का हो जायगा।

विश्लेषण-संश्लेषण प्रणाली (ऐनेलिटिक, सिन्थेटिक मेथड)

हम दो प्रकारसे शिक्षा दे सकते हैं—१. विश्लेषण (ऐनेलिटिक) तथा संश्लेषण (सिन्थेटिक) प्रणालीसे, या २. सिद्धान्त (इंडक्टिव) तथा परिणाम (इंडक्टिव) प्रणालीसे।

विश्लेषण-प्रणाली (ऐनेलिटिक मेथड)

विश्लेषण-प्रणालीमें किसी पूर्ण वस्तुको लेकर उसका अध्ययन प्रारम्भ करते हैं और फिर उसे विभिन्न तत्त्वों तथा भागोंमें बाँटकर उन

तत्त्वों या भागोंका अलग-अलग अध्ययन और विवेचन करते हैं। यदि इस प्रणालीसे भूगोल पढ़ाना हो तो पहले सम्पूर्ण पृथ्वीमंडलको समान जलवायुके खंडोंमें विभाजित कर देंगे। फिर इन खंडोंमेंसे प्रत्येक खंडके मानव, पशु तथा वनस्पति-जीवनका पूरा ब्यौरा दे देंगे और उन खंडोंके मानव, पशु तथा वनस्पति-जीवनके अनुसार उन खंडोंमें पड़नेवाले विभिन्न महाद्वीपों और देशोंका अध्ययन भी सरलतासे करा देंगे।

यदि हमें इस प्रणालीके अनुसार रामचरितमानस पढ़ाना हो तो पहले हम रामायणकी समूची कथा कहेंगे, उसके मुख्य चरित्रोंका अध्ययन करावेंगे, भाषाकी विशेषताएँ समझावेंगे और तब एक-एक पाठका अलग-अलग अध्ययन करेंगे। इस प्रणालीका प्रयोग वहाँ किया जाता है जहाँ ऐसा विषय पढ़ाना हो जिसके खंड किए जा सकें या जो भागोंमें विभाजित किया जा सके अर्थात् तत्त्वों या खंडोंसे निर्मित सभी भौतिक विषयोंके शिक्षणमें इस प्रणालीका प्रयोग किया जा सकता है जैसे भूगोल, ज्यामिति, चित्रकला आदि। यह प्रणाली 'पूर्णसे खंडकी ओर बढ़ो' सिद्धान्तपर अवलम्बित है।

सिद्धान्त-प्रणाली (डिडक्टिव मेथड)

सिद्धान्त-प्रणालीमें सिद्धान्त या नियम पहले बता देते हैं और फिर विद्यार्थी, अपने अनुभव तथा अन्य पाठ्य-सामग्रीके आधारपर उन नियमोंकी व्यापकताका परीक्षण और प्रयोग करता है। एक व्याकरणका नियम लीजिए—

'संज्ञा-विशेषण वह शब्द है जो किसी संज्ञा-शब्दकी विशेषता बताता हो।'

इस व्याकरणके नियमको विद्यार्थी रट लेता है और फिर **'भला बालक, सुन्दर सुमन, मनोहर वेष, भव्य भवन, आकर्षक रूप, पावन चरित्र'** इत्यादि उदाहरणोंके द्वारा वह उपर्युक्त नियमका प्रयोग समझ लेता है कि **'भला, सुन्दर, मनोहर, भव्य, आकर्षक, पावन'** शब्द संज्ञा-

विशेषण हैं क्योंकि ये क्रमशः **'बालक, सुमन, वेष, भवन, रूप, चरित्र'** संज्ञा-शब्दोंकी विशेषता बताते हैं। इस प्रणालीका प्रयोग उन विषयोंके अध्ययनमें किया जाता है जिनमें सिद्धान्तों या नियमोंसे काम पड़ता है, जैसे व्याकरण, तर्कशास्त्र, दर्शन, नीति, धर्म-शास्त्र आदिकी शिक्षामें।

संश्लेषण-प्रणाली (सिन्थेटिक मेथड)

संश्लेषण-प्रणालीको विश्लेषण-प्रणालीका ठीक उलटा समझना चाहिए। इस प्रणालीमें किसी पूर्ण विषय अथवा वस्तुके अध्ययनसे प्रारंभ करनेके बदले उसके तत्त्वों अथवा भागोंसे प्रारम्भ करके उसके पूर्ण रूपके अध्ययनकी ओर बढ़ते हैं; जैसे, अक्षर-रचनाकी शिक्षा देते समय पहले खड़ी, पड़ी, आड़ी तथा गोल रेखाएँ सिखाते हैं और फिर इनका अभ्यास कराकर इन्हें मिलाकर "अ" का स्वरूप समझाते हैं। इसी प्रणालीका प्रयोग उन सब विषयोंकी शिक्षाके लिये किया जाता है जिनके अंगोंका विभाजन किया जा सके जैसे भूगोल, ज्यामिति, चित्रकला आदि।

परिणाम-प्रणाली (इंडक्टिव मेथड)

परिणाम-प्रणालीमें पहले उदाहरण तथा अनुभूत प्रयोग देकर उनके आधारपर छात्रोंसे एक व्यापक नियम निकलवा लेते हैं। इस प्रणालीसे यदि हमें व्याकरणमें संज्ञा सिखानी हो तो सीधे नियम न बतलाकर बालकोंके सम्मुख यह उदाहरण रक्खेंगे—

'राम अयोध्यासे रथपर चढ़कर चले।'

इस वाक्यमें 'राम' एक व्यक्तिका नाम है, 'अयोध्या' एक स्थानका नाम है, 'रथ' एक वस्तुका नाम है। ये सब संज्ञाएँ हैं। इससे यह परिणाम निकला कि **'किसी व्यक्ति, स्थान या वस्तुके नामवाले शब्दको संज्ञा कहते हैं**।' इस परिणाम-प्रणालीका प्रयोग सार्वभौम सिद्धान्तों या

व्यापक नियमोंकी शिक्षाके लिये ही होता है। यह प्रणाली 'विशेषसे सामान्यकी ओर बढ़ो' सिद्धान्त-सूत्रपर अवलम्बित है।

विश्लेषण-संश्लेषण-प्रणाली (ऐनेलिटिको-सिन्थेटिक मेथड)

ऊपर हमने विश्लेषण तथा संश्लेषण-प्रणालीकी अलग-अलग व्याख्या करके उसका प्रयोग भी समझाया है किन्तु वास्तवमें ये दोनों परस्पर संबद्ध हैं क्योंकि चाहे हम पूर्णसे भागोंकी ओर चलें, चाहे भागों से पूर्णकी ओर, किन्तु हमें विश्लेषण और संश्लेषण अर्थात् तोड़ने और मिलानेकी दोनों क्रियाएँ करनी ही पड़ेंगी। संश्लेषणमें तो मिलानेकी क्रिया स्वाभाविक क्रमसे आ ही जाती है किन्तु विश्लेषण करते समय हम जब खण्डों या भागोंतक पहुँच जाते हैं तब हम उसे वहीं नहीं छोड़ देते, हमें उसके खण्डोंका संश्लेषण करके उसके पूर्ण रूपका विवेचन करना ही पड़ता है। इसीलिये कुछ आचार्योंका कथन है कि यद्यपि विश्लेषण-प्रणाली ग्राह्य और श्रेष्ठ है किन्तु उसकी पूर्णता संश्लेषण करनेपर ही सिद्ध होती है। अतः वास्तवमें विश्लेषण-संश्लेषण-प्रणाली (ऐनेलिटिको-सिन्थेटिक मेथड) ही ग्राह्य है।

विश्लेषण तथा परिणाम-प्रणाली ग्राह्य है

मनोवैज्ञानिक विवेचनकी दृष्टिसे विश्लेषण तथा परिणाम-प्रणालीका ग्रहण और संश्लेषण तथा सिद्धान्त-प्रणालीका त्याग करना उचित है क्योंकि पिछली दोनों प्रणालियोंमें छात्रकी कल्पना-शक्ति और विचार शक्तिको प्रोत्साहन नहीं मिलता। अध्यापकका कर्त्तव्य है कि वह अपने प्रभावके बदले ऐसी विधिसे विद्यार्थीका ज्ञान बढ़ावे कि रुचि, कुतूहल उत्साह तथा स्फूर्त्तिसे बालक उसे ग्रहण करनेकी आकांक्षा करे। अतः अध्यापकको पाठ-ज्ञान कराते समय निम्नलिखित क्रमसे चलना चाहिए—

१. बालकके प्रस्तुत ज्ञानको परखो।

२. पठन, प्रयोग तथा अनुभवके द्वारा इस ज्ञानको नवीन ज्ञान जोड़कर उसे उचित रूपसे फैलनेका अवकाश दो

३. इस अर्जित ज्ञानको क्रमशः नियमित और व्यवस्थित करो।

सिद्धान्त-सूत्र (मैक्सिम्स)

उपर्युक्त क्रमके आधारपर ही शिक्षा-शास्त्रियोंने ये सिद्धान्त-सूत्र बना लिए हैं—

१. व्यक्तिगत अनुभवसे व्यापक अनुभवकी ओर चलो (प्रोसीड फ्रौम इंडिविजुअल एक्सपीरिएन्स टु जनरल एक्सपीरिएन्स)।

२. प्रकटसे अप्रकटकी ओर चलो। (फ्रौम कौन्क्रीट टु ऐब्स्ट्रैक्ट)

३. विशेष (उदाहरण) से सामान्य (नियम) की ओर चलो। (फ्रौम पर्टिकुलर टु जनरल)

४. ज्ञातसे अज्ञातकी ओर चलो। (फ्रौम नोन टु अननोन)

५. साधारणसे असाधारणकी ओर चलो। (फ्रौम ऑर्डिनरी टु एक्स्ट्रा-ऑर्डिनरी)

६. अनिश्चितसे निश्चितकी ओर चलो। (फ्रौम अनसर्टेन टु सर्टेन)

७. अनुभूतिसे युक्तियुक्तकी ओर चलो। (फ्रौम औब्ज़र्वेशन टु रीज़नेबिल)

८. सरलसे जटिलकी ओर चलो। (फ्रौम सिम्पिल टु कौम्प्लैक्स)

९. पूर्णसे खंडकी ओर बढ़ो। (फ्रौम पार्ट टु होल)

व्यक्तिगत अनुभवसे व्यापक अनुभवकी ओर

हमारे व्यक्तिगत अनुभवका आधार हमारी इन्द्रियाँ हैं। बालक एक वस्तुको देखता है, स्पर्श करता है, काममें लाता है, चखता है, सूँघता है, उसकी ध्वनि सुनता है और इस प्रकार उस वस्तुके विषयमें अनेक प्रकारका अनुभव करके उसका परिचय प्राप्त कर लेता है। इस प्रकारकी शिक्षा-विधिको अनुभव-विधि कहते हैं। किण्डेरगार्टेन-प्रणालीमें इसीकी प्रधानता है। किन्तु यह विधि यहीं समाप्त न करके कुछ और आगे बढ़ाकर अन्य पाठ्य-विषयोंकी शिक्षामें भी प्रयुक्त करनी चाहिए। रबड़की गेंदको बालक दीवारपर मारता है। वह गद्दा खाकर उलटी लौट आती

है। वह गेंदको पृथ्वीपर पटकता है तब भी वह गद्दा खाकर ऊपर उछल आती है। किन्तु जब वह गेंदको पानीके कंडालमें फेंकता है तब वह ऊपर नहीं उछलती, धुनी हुई रूईपर पटकता है तब वह नहीं उछलती, घासके ढेरपर मारता है तब वह नहीं लौटती। इस व्यक्तिगत अनुभवसे उसे यह व्यापक परिणाम निकालनेकी प्रेरणा देनी चाहिए कि कड़ी और ठोस वस्तुओंपर ही पटकनेसे रबड़की गेंद गद्दा खाती है।

प्रकटसे अप्रकटकी ओर

यह सिद्धान्त भी उपर्युक्त सिद्धान्तका ही दूसरा रूप है। एक उदाहरण लीजिए—दो बाँस और तीन बाँस मिलकर पाँच बाँस होते हैं। दो कुत्ते और तीन कुत्ते मिलकर पाँच कुत्ते होते हैं। बालक यह देखता है कि प्रकट दो वस्तुएँ, प्रकट तीन वस्तुओंके साथ मिलकर पाँच वस्तुएँ हो जाती हैं। इन प्रकट उदाहरणोंसे वह यह अप्रकट नियम निकाल लेता है कि दो और तीन मिलकर पाँच होते हैं या दो और तीनका जोड़ पाँच होता है।

उदाहरणसे नियमकी ओर

कई उदाहरण प्रस्तुत करके विद्यार्थियोंसे ही व्यापक नियम निकलवाना चाहिए। उदाहरण लीजिए—

क. कुत्ता भौंकता है।

ख. चिड़िया चहचहाती है।

ग. गाय रँभाती है।

ऊपर दिए वाक्योंमें से एक-एकको लेकर प्रश्नों-द्वारा 'भौंकने, चहकने, रँभानेवाले' जीवोंका ज्ञान कराकर यह नियम निकलवाया जा सकता है कि 'कुत्ता, चिड़िया, गाय' तीनों शब्द कुछ कार्य्य करनेका संकेत देते हैं। अतः ऐसे शब्द 'कर्त्ता' कहलाते हैं।

ज्ञातसे ज्ञातकी ओर

बच्चोंका ज्ञान धुँधला, अधूरा तथा अक्रम होता है। अतः अध्यापकको

पहलेसे जान लेना चाहिए कि बालकोँको प्रस्तुत विषयका कितना ज्ञान है। इसके पश्चात् युक्ति तथा तर्क-द्वारा अज्ञात सत्यको ज्ञात कराया जा सकता है। बच्चोँने देखा है कि पतीलीका ढक्कन दाल पकते समय हिलता है और ऊपर-नीचे होता है। उसीके आधारपर यह अज्ञात सत्य बताया जा सकता है कि प्रबल भापके सहारे रेलगाड़ीका अंजन कैसे चलता है।

साधारणसे असाधारणकी ओर

बच्चोँके नित्यप्रतिके साधारण अनुभवके आधारपर उन्हेँ असाधारण तथ्यतक पहुँचाना चाहिए। बालक जानता है कि घड़ेको कुम्हारने बनाया है, कपड़ेको जुलाहेने बनाया है। इसीके आधारपर उसे यह असाधारण तथ्य बताया जा सकता है कि यह संसार भी किसीने बनाया है।

अनिश्चितसे निश्चितकी ओर

बच्चा अपने कुत्तेको एक खेलकी सामग्री मात्र समझता है। अनेक प्रकारके प्रयोग, कथा तथा उदाहरणोँके द्वारा अध्यापक उस कुत्तेके स्वभाव, उसकी शक्ति, उसकी स्वामि-भक्ति तथा आवश्यकता इत्यादिके विषयमेँ बालकके अनिश्चित ज्ञानको पक्का कर सकते हैँ।

अनुभूतसे युक्तियुक्तकी ओर

अनुभूत ज्ञान वह है जो हमारे अनुभवके फलस्वरूप हमेँ प्राप्त हुआ हो। युक्तियुक्त वह अनुभूत ज्ञात है जो युक्ति-संगत हो अर्थात् जो वैज्ञानिक विवेचन-द्वारा सिद्ध हो गया हो। बालक देखता है कि पत्ते गिरते हैँ, फल भी नीचे गिरते हैँ, प्रत्येक वस्तु नीचे ही गिरती है, किन्तु वह गिरनेका कारण नहीँ बता सकता। गुरुत्वाकर्षणका सिद्धान्त जान लेनेपर वह प्रत्येक वस्तुके नीचे गिरनेका कारण भी बता सकता है। अब उसका अनुभव युक्तियुक्त हो गया।

सरलसे जटिलकी ओर

बालक जानता है कि आँखसे सब देखते ही हैँ। किन्तु वह यह नहीँ

जानता कि हम सब उल्टा देखते हैं। चित्र खींचनेवाले कैमरेके द्वारा हम आँखकी जटिल क्रिया समझा सकते हैं कि यद्यपि हम देखते तो हैं सब कुछ उल्टा, किन्तु अभ्यासके कारण हमें सीधा दिखाई पड़ता है।

पूर्णसे खंडकी ओर

बच्चोंके सम्मुख एक पूर्ण वस्तु या विषय उपस्थित करना चाहिए और पूर्णका परिचय देकर फिर उसके विभिन्न अंग या खंड समझाने चाहिएँ, जैसे भूगोल पढ़ाते समय प्रारम्भमें पृथ्वीके पूरे गोलेका परिचय देकर उसके अलग-अलग प्रदेशोंका विवरण देना चाहिए।

सिद्धान्त-सूत्रोंका लक्ष्य

उपर्युक्त सिद्धान्त-सूत्रोंका मूल लक्ष्य यह है कि बालकके प्रस्तुत ज्ञान तथा उसके मानसिक विकासके अनुसार उसे नया ज्ञान दिया जाय, उसके अनुभवोंका पूर्ण उपयोग करके उसीको नवीन ज्ञान देनेकी आधार-भूमि बनाई जाय अर्थात् बालकके मनके अनूकूल अध्यापक चले, अपने मनके अनुकूल नहीं। इसीलिये पाठ्य-पुस्तक हाथमें आते ही पहले पाठसे ही नहीं पढ़ाने लगना चाहिए। पाठ्य-पुस्तकोंका संकलन करनेवाले विद्वानोंको अधिक मनोवैज्ञानिक विचार करनेका कम अवसर रहता है इसलिये उनके संकलित पाठोंमें कोई मनोवैज्ञातिक क्रम नहीं रहता। अतः, अध्यापकको सावधान होकर वर्षके प्रारम्भमें ही यह निश्चय कर लेना चाहिए कि मुझे पाठ्य-पुस्तकोंके विभिन्न पाठ किस क्रमसे पढ़ाने चाहिएँ। हम अपनी पाठ्य-पुस्तकका वर्षा-वर्णन पढ़ाते हैं गर्मीके दिनोंमें और शरद् का वर्णन पढ़ाते हैं वर्षा-ऋतुमें। जिन दिनों भूगोलके घण्टेमें चीन पढ़ाया जाता है, उन दिनों हम अपनी पाठ्य-पुस्तकोंमें अरब-वासियोंकी जीवन-चर्य्या पढ़ाते हैं। यह क्रम अत्यन्त असङ्गत है। हमें वर्षाके दिनोंमें वर्षाका, शरद् ऋतुमें शरद्का और जिन दिनों भूगोलके अध्यापक चीनका विवरण पढ़ा रहे हों उन दिनों

भाषाकी पुस्तकमें आया हुआ चीनका ही पाठ पढ़ाना चाहिए। अतः, पाठोंका क्रम निर्धारित करते समय हमें निम्नलिखित बातोंका अवश्य ध्यान रखना चाहिए—

क. पढ़ाए जानेवाले पाठोंका क्रम समय और अवसरके अनुकूल हो।

ख. अन्य पाठ्य-विषयोंसे उचित रूपसे सम्बद्ध हो।

ग. बालकोंकी मानसिक अवस्था तथा रुचिके अनुकूल हो।

घ. भाषाके क्रमिक विकासके अनुसार हो।

ङ. सरल तथा मनोरंजक पाठोंसे कठिन तथा नीरस पाठोंकी ओर प्रवृत्त हो।

१५

पाठ्य-पुस्तकों-द्वारा गद्य-शिक्षाका विधान

गद्य कैसे पढ़ाया जाय ?

आजकल हमारी सम्पूर्ण भाषा-शिक्षाकी आधार-भित्ति पाठ्य-पुस्तकें बन गई हैं। हम अपनी संपूर्ण शक्ति केवल पाठ्य-पुस्तकको 'भली प्रकार' पढ़ानेमें लगा रहे हैं, क्योंकि उसीमेंसे परीक्षा होती है और पाठोंके सारांश, चरित्र-चित्रण, व्याख्या, अर्थ तथा भावार्थ सब कुछ उसीमेंसे लिखनेको आते हैं। परीक्षक लोग छल, बल तथा कौशलसे यह जाँचना चाहते हैं कि विद्यार्थियोंने अपनी पाठ्य-पुस्तक नीचे ऊपर, दाएँ-बाएँ, भीतर-बाहरसे भली प्रकार घोटकर पी ली है या नहीं। सुन्दर अर्थ देखकर, पाठ्य-पुस्तकमें आए हुए कथाके नायकका विधिवत् चरित्र-चित्रण देखकर परीक्षककी बाछें खिल जाती हैं। उसकी समझमें विद्यार्थी बड़ा योग्य है। उसकी सफलताको अध्यापक अपनी सफलता समझते हैं। बेचारे अध्यापक अपनी रोटीकी रक्षाके लिये, अपने स्वामियों—प्रधानाध्यापकों, स्कूलके अधिकारियों, निरीक्षकों—को प्रसन्न करनेके लिये 'पूछे जाने-योग्य' (इम्पौर्टैण्ट) सभी प्रश्नोंका अनुमान करके विद्यार्थियोंको उनमें पक्का कर डालते हैं। किन्तु पाठ्य-पुस्तकपर आश्रित इस दूषित शिक्षाका दोष केवल शिक्षा-प्रणाली या परीक्षा-प्रणालीके सिर ही नहीं, हम और आपपर भी है। किन्तु जबतक यह दूषण है तबतक उसका उचित निर्वाह भी करते चलना चाहिए।

गद्य-पाठ

पाठ्य-पुस्तकोंमें गद्य, पद्य और नाटक तीनोंका समावेश होता है किन्तु इस प्रकरणमें हम पाठ्यपुस्तकोंके केवल गद्य-भागके स्वरूप, उसके पढ़ानेके उद्देय तथा पाठन-विधानोंपर ही विचार करेंगे।

गद्य-पाठ तीन श्रेणीके होते हैं—१- सूचनात्मक, २. वर्णनात्मक तथा ३. भावात्मक। इस दृष्टिसे पाठ्य-पुस्तकोंमें साधारणतः बारह प्रकारके गद्य-पाठ रहते हैं—

१. कथा, कहानियाँ, चुटकुले: ऐतिहासिक, पौराणिक, नैतिक, काल्पनिक तथा विनोदपूर्ण।
२. वर्णन, यात्रा, प्राकृतिक दृश्य।
३. प्राकृतिक विषय: जीव-जन्तु, पेड़-पौधे, नदी-पर्वत आदि।
४. पत्र।
५. जीवनचरित या आत्मचरित (वास्तविक अथवा काल्पनिक)।
६. मनुष्य: विभिन्न देशोंके मनुष्योंका रहन-सहन, आचार-व्यवहार, रीति-नीति आदि।
७. वैज्ञानिक आविष्कार तथा खोज।
८. संवाद।
९. व्यवहार-ज्ञान: सभा-समाज आदिमें व्यवहार करनेकी रीति।
१०. सामाजिक विषय: घर, कुटुम्ब, समाज, नगर, गाँव और राष्ट्रकी व्यवस्था, पारस्परिक सम्बन्ध, शासन-सूत्र आदिका ज्ञान।
११. विचारात्मक निबन्ध।
१२. आलोचना: ग्रन्थ, रचना, व्यक्ति, सिद्धान्त, समाज आदिकी।

गद्य पढ़ानेके सामान्य उद्देश्य

समष्टि रूपसे उपर्युक्त प्रकारके गद्य-पाठ पढ़ानेके निम्नलिखित उद्देश्य हैं—

१. छात्रोंके सूक्ति-भण्डार तथा शब्द-भाण्डारमें वृद्धि हो और वे उन सूक्तियों तथा शब्दोंका ठीक-ठीक अर्थ समझकर उनका उचित प्रयोग कर सकें।
२. वे लेखकके भावके अनुसार पढ़ सकें।
३. वे भली प्रकार पाठका भाव समझकर दूसरोंको समझा सकें।
४. वे प्रत्येक लेखककी भाषा तथा वर्णन-शैलीका परिचय करके उस प्रकारकी भाषा और शैलीमें लिख-बोल सकें।

५. वे समझे हुए भावको अपने ढंगसे अपने शब्दों में स्पष्ट रूपसे व्यक्त कर सकें।

६. वे विविध विषयोंका ज्ञान प्राप्त करें और बहुज्ञ बनें।

७. वे भाषा तथा भावोंकी सुन्दरताका आनन्द लेनेकी योग्यता प्राप्त कर सकें।

८. उनकी कल्पना-शक्ति बढ़े।

९. उनके चरित्र-निर्माणमें सहायता मिले तथा उन्हें व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त हो।

१०. उनकी रचनात्मिका वृत्ति सचेष्ट हो।

११. वे लेखक तथा भाषणमें अनुकरणीय भाषा-शैलियोंका [illegible] कर सकें।

मुख्य उद्देश्य

उपर्युक्त साधारण उद्देश्य तो सभी प्रकारके गद्य-पाठोंके शिक्षणमें होते हैं किन्तु पाठ्य-विषयके अनुसार उनके शिक्षणके मुख्य उद्देश्य विभिन्न हो जाते हैं। नीचे दी हुई तालिकामें हम पाठ्य-विषय और उनके विशेष उद्देश्योंका ब्यौरा देते हैं—

पाठ्य-विषय	उद्देश्य
१. कथा तथा संवाद	१. कथा या संवादका आनन्द लेनेकी वृत्ति उत्पन्न कराना। २. कथाको अपने शब्दोंमें लिख या कह सकने योग्य बनाना। ३. भाव समझनेकी समर्थता उत्पन्न कराना। ४. चरित्र-निर्माण। ५. कल्पना-शक्तिको उकसाना।

पाठ्य-विषय	उद्देश्य
२. जीवन-चरित	१. ज्ञान बढ़ाना । २. चरित्र-निर्माणमें योग देना । ३. गुण-ग्रहण करनेकी प्रेरणा देना ।
३. वैज्ञानिक आविष्कार तथा खोज	१. ज्ञान बढ़ाना । २. साहस बढ़ाना तथा नवीन खोजके लिये उत्साहित करना । ३. संसारकी वैज्ञानिक प्रगतिसे परिचय कराना । ४. कल्पना-शक्ति बढ़ाना । ५. वैज्ञानिक आविष्कारों से लाभ और हानिका विवेक उपजाना ।
४. वर्णन, यात्रा आदि	१. प्रकृति-प्रेम उत्पन्न कराना । २. वर्णन तथा भाषा-शैलियोंका ज्ञान कराना । ३. पर्यटनके लिये प्रेरणा देना । ४. कल्पना - शक्तिको जागरित करना।
५. विचारात्मक निबन्ध	१. तर्क तथा विवेचना-शक्तिका विकास करना । । २. विचारशक्ति बढ़ाना । ३. गंभीर भाव व्यक्त करनेकी विविध शैलियोंका ज्ञान कराना ।

पाठ्य-विषय	उद्देश्य
६. प्राकृतिक विषयोंका वर्णन	१. अपने चारों ओरके जीवोंसे प्रेम और सद्भाव उत्पन्न कराना। २. विश्व-बन्धुत्वकी भावना बढ़ाना। ३. परमेश्वरकी महत्ताका प्रत्यक्ष ज्ञान कराना। ४. मानव-जीवनका प्रकृतिसे अविच्छेद्य सम्बन्ध दिखलाना।
८. पत्र तथा व्यवहार-ज्ञान	१. सामाजिक जीवनमें कौशल, आचार तथा शील सिखाना। २. व्यवहार-कुशलता सिखाना।
८. मनुष्यके आचार-विचार, सामाजिक विषय	१. मानव-समाजका तुलनात्मक परिचय प्राप्त कराना। २. विश्व-बन्धुत्वकी भावना बढ़ाना। ३. दूसरोंके गुण लेकर अपने दोष हटानेकी वृत्ति उत्पन्न करना। ४. ज्ञान-संचय। ५. कल्पना-शक्ति उत्तेजित करना।
९. आलोचना	१. निर्णायिका शक्ति दृढ करना। २. समीक्षा-शक्ति बढ़ाना। ३. गुण-दोषका निष्पक्ष विवेचन करके गुणका प्रचार करने योग्य बनाना। ४. तर्क और विवेककी साधना कराना।

ऊपर दिए हुए व्यापक उद्देश्य तथा मुख्य उद्देश्य इतने स्पष्ट हैं कि उनकी व्याख्या करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

पाठन-विधि

पिछले प्रकरणमें हमने मनोवैज्ञानिक विचार करके शिक्षा-शास्त्रके कुछ व्यापक सिद्धान्तोंका लेखा देकर बताया था कि अध्यापकको किस क्रमसे पाठ चलाने चाहिएँ। उन्हीं सिद्धान्तोंके आधारपर आजकलके शिक्षा-शास्त्री, हरबार्टकी पंचपदी प्रणालीका पालन करनेका आदेश देते हैं।

हरबार्टके सिद्धान्त

हरबार्टके मतानुसार 'मनमें यह शक्ति होती है कि ज्यों-ज्यों उसे विभिन्न इन्द्रियानुभवोंका संयोग मिलता चलता है त्यों त्यों वह समृद्ध होता चलता है' अर्थात् उसके ज्ञानकी परिधि निरन्तर बढ़ती चली जाती है। बालक जिस समय (३ से ५ वर्षतक) अध्यापकके पास पहुँचता है तबतक वह बहुतसा अनुभव संचित कर चुकता है। अतः, हरबार्टके अनुसार 'अध्यापकका कर्त्तव्य है कि इन संचित अनुभवोंमें से 'ज्ञान' उत्पन्न करे और नवीन अनुभवोंका संयोग देकर उन संचित अनुभवोंके साथ 'सहयोग' (ऐसोसिएशन) उपजावे।' हरबार्टका मत है कि 'मनमें केवल एक ही शक्ति है और वह है बाह्य अनुभव ग्रहण करनेकी। इसके अतिरिक्त मनमें कोई दूसरी शक्ति नहीं है। इसलिये जो लोग कहते हैं कि बालकके मनको नियमित, शिक्षित तथा उन्नत करो, वह सब व्यर्थ है। हरबार्टके मतानुसार 'संचित अनुभवों' (एपर्सेप्टिव मास) को परिपक्व करना ही शिक्षाका उद्देश्य है।' हम उसके दार्शनिक पक्षसे सर्वथा सहमत नहीं हैं कि मनमें केवल एक ही शक्ति अर्थात् अनुभव संचित करने मात्रकी ही शक्ति होती है। मनमें विचार करने, निश्चय करने, तर्क करने, परिणाम निकालने या आवृत्ति करने (जनरलाइज़ेशन और रीकैपिचुलेशन) आदिकी अनेक शक्तियाँ हैं फिर भी हरबार्टके इन सिद्धान्तोंकी उपेक्षा नहीं की जा सकती कि—

१. केवल ज्ञानार्जनको लक्ष्य करके ही शिक्षा देनी चाहिए अर्थात् शिक्षा इस प्रकार दी जाय कि जो अनुभव होता चले उसे बालक अपनाता चले।

२. बालकके अर्जित ज्ञानका निरन्तर प्रयोग होता चलना चाहिए।

३. शिक्षाके समय पाठ्य-सामग्रीपर ध्यान देने, मनन करने, उसे पूर्व-संचित ज्ञानसे संबद्ध करने, सक्रिय होने तथा उसे दुहरानेके लिये बालकको प्रेरित करना चाहिए।

हरबार्टीय पञ्चपदी

इन सिद्धान्तोंके आधारपर ही निम्नलिखित 'हरबार्टीय पञ्चपदी' (हरबार्टियन फ़ाइव स्टेप्स) का विधान हुआ है—

१. प्रस्तावना, (इन्ट्रोडक्शन), २. विषय-प्रवेश (प्रेज़ेन्टेशन), ३. आत्मीकरण अथवा तुलना (ऐसिमिलेशन और कम्पैरिज़न), ४. सिद्धान्त-निरूपण (जनरलाइज़ेशन), ५. प्रयोग (ऐप्लिकेशन)।

प्रस्तावना (इन्ट्रोडक्शन)

प्रस्तावनामें ऐसे एक दो प्रश्न किए जाते हैं, चित्र अथवा पदार्थ दिखाए जाते हैं, या कथा कही जाती है अथवा कोई ऐसा साधन उपस्थित किया जाता है कि बालकोंका मन पिछले घण्टेमें पढ़े हुए पाठ्य विषय तथा अन्य बाह्य विचारोंसे हटकर प्रस्तुत पाठ्य विषयकी ओर एकाग्र हो। यह स्मरण रखना चाहिए कि इस अवस्थामें ऐसे प्रश्न न हों या ऐसी बातें न हों जो पाठ्य-विषयमें आए हुए ज्ञानका आभास दें। यदि हमें 'ताजमहल' का पाठ पढ़ाना हो तो हम निम्नलिखित साधनोंका प्रयोग करके प्रस्तावना कर सकते हैं—

क. ताजमहलका चित्र या उसकी प्रतिमूर्ति (मौडल) दिखलाकर।

ख. प्रश्नद्वारा—

'भारतका सबसे सुन्दर भवन कौन सा है? (यहाँ हम यह नहीं पूछ सकते कि 'ताजमहल किसने बनाया है, क्योंकि यह बात तो बालकोंको अपने पाठमें पढ़नी ही है)

ग. श्यामपट्टपर मानचित्र खींचकर ।

घ. इतिहाससे शाहजहाँका जीवनवृत्त पढ़कर या सुनाकर या बालकोँसे कहलवाकर ।

ङ. ताजमहलपर कोई भावात्मक कविता सुनाकर ।

विषय-प्रवेश (प्रेज़ेन्टेशन)

विषय-प्रवेशमेँ मुख्य पाठ्य-विषयको भावके अनुसार अन्वितियोँ (पाठ्य भागोँ) मेँ बाँट लेना चाहिए और एक-एक अन्विति (यूनिट) बालकोँके सामने निम्नलिखित क्रमसे प्रस्तुत करनी चाहिए—

क. सस्वर अथवा मौन वाचन ।

ख. अन्वितिपर भाव-परीक्षक प्रश्न ।

क. वाचन

हम पीछे बता आए हैँ कि वाचन दो प्रकारका होता है—

१. सस्वर वाचन (लाउड रीडिंग)

२. मौन वाचन (साइलेंट रीडिंग)

पीछे विस्तारसे समझाया जा चुका है कि सस्वर वाचनके समय छात्रको सीधे खड़े होकर, बाएँ हाथमेँ पुस्तक लेकर, अपनी आँखेँ इतनी साध लेनी चाहिएँ कि एक बार देखकर वह पर्याप्त सामग्री ग्रहण करके सिर ऊपर उठाकर, अन्य श्रोताओँकी ओर देखकर अथवा अध्यापक या कक्षाकी ओर मुँह करके आँखोँ-द्वारा ग्रहण की हुई सामग्रीका, स्वरके उचित आरोह-अवरोहके साथ, शुद्ध उच्चारण तथा लयका ध्यान रखते हुए, उचित स्थानोँपर विराम देते हुए, धारा-प्रवाह, प्रभावोत्पादक, स्वाभाविक तथा भावपूर्ण ढंगसे चारोँ ओर सिर घुमाकर अर्थात् दर्शकोँको सम्बोधन करते हुए वाचन कर सके। वाचनके समय छात्रका शरीर बहुत इधर-उधर न घूमे और पढ़ते समय वह दब्बू, दीन, उदास, और हताश न प्रतीत हो वरन् प्रसन्न, स्फूर्तिमय और तेजस्वी दिखाई पड़े। उसका शरीर, उसके वस्त्र, सब स्वच्छ और सुथर

हों। उसके दाँत स्वच्छ । और उसका वाचन सुनकर उसके प्रति स्वाभाविक आकर्षण हो। उसके मुखसे जो शब्द निकलें उनके एक-एक अक्षर अलग-अलग सुनाई पड़ें। तात्पर्य यह है कि वाचककी वेश-भूषा, उसकी मुद्रा, उसका मुख और उसका उच्चारण सबमें एक विचित्र आकर्षण, सुघरता, सुन्दरता तेजस्विता और स्वच्छता होनी चाहिए। वाचनका यह गुण केवल छात्रमें ही नहीं, अध्यापकमें भी होना चाहिए।

सस्वर वाचनके तीन रूप

पाठ्य-पुस्तकके साथ अध्यापनके समय सस्वर वाचन तीन प्रकारका होता है—

क. अध्यापक-द्वारा आदर्श वाचन। (मौडल रीडिंग)

ख. छात्र-द्वारा व्यक्तिगत सस्वर वाचन। (इंडिविजुअल लाउड रीडिंग)

ग. कक्षा या कुछ छात्रों-द्वारा समवेत वाचन। (साइमल्टेनिअस लाउड रीडिंग)

आदर्श वाचन (मौडल रीडिंग)

जिस समय अध्यापक आदर्श वाचन करता हो उस समय छात्रोंको यह आदेश देना चाहिए कि वे अपनी पाठ्य-पुस्तकसे दृष्टि हटाकर केवल अध्यापककी ओर देखते रहें, जिससे उन्हें केवल यही ज्ञान न हो कि वाचनीय विषय क्या है, वरन् यह भी ज्ञात होता चले कि वाचनीय पाठका वाचन करते समय अपनी शरीर-मुद्रा, आङ्गिक चेष्टा, स्वरका आरोह-अवरोह तथा अन्य भाव-भंगी किस प्रकार व्यवस्थित की जाय कि व्यक्तिगत रूपसे वाचन करते समय छात्र भी उसीके अनुसार वाचन कर सकें।

व्यक्तिगत सस्वर वाचन (इंडिविजुअल लाउड रीडिंग)

व्यक्तिगत रूपसे वाचन करते समय छात्रको ठीक उसी प्रकारकी

मुद्राओं, भावभंगियाँ तथा स्वरके आरोह-अवरोहोंके साथ वाचन करना चाहिए जिस प्रकार अध्यापकने आदर्श वाचनके समय किया है।

समवेत वाचन (साइमल्टेनियस रीडिंग)

समवेत वाचन केवल वहीं कराया जाता है जहाँ छात्रोंका उच्चारण समवेत रूपसे ठीक कराना अभीष्ट हो। प्रायः अत्यन्त प्रारम्भिक अवस्थामें अथवा पद्यों या कविताओंके वाचनके लिये ही समवेत वाचन-पद्धतिका प्रयोग कराया जाता है। समवेत वाचन दो प्रकारके होते हैं—

१. सब छात्र स्वयं एकत्र होकर वाचन करें।

२. अध्यापक थोड़ा-थोड़ा अंश बाँचता चले और छात्र मिलकर उसकी उद्धरणी करते चलें।

समवेत वाचन-पद्धतिमें दोनों प्रकारके वाचन होते हैं— १. केवल उच्चारण तथा स्वरके आरोह-अवरोहका ही ध्यान रखकर, २. साधारण वाचनके सम्पूर्ण नियमों, क्रियाओं, गतियों, चेष्टाओं और भाव-भंगियोंका भी ध्यान रखकर।

मौन वाचन (साइलेंट रीडिंग)

मौन वाचनका अर्थ है स्वयं मूक होकर अपनी पाठ्य-पुस्तकके अध्ययनीय विषयका मन ही मन वाचन कर जाना। इसका उद्देश्य केवल इतना ही होता है कि वाचनीय विषयका भावार्थ स्वयं पढ़कर समझ लिया जाय। प्रायः कथा-कहानी, सरल वर्णन, कथात्मक वर्णन तथा इस प्रकारके सरल बोधगम्य पाठोंके लिये ही मौन वाचनका प्रयोग किया जा सकता है। नागरी जैसी सरल भाषामें या मातृभाषाकी पुस्तकमें तो यह मौन वाचन प्रारम्भसे ही कराया जा सकता है क्योंकि नागरीमें तथा मातृभाषामें शब्दोंके दुरुच्चरित होनेका भय कम रहता है। फिर भी मौन वाचन वहीं कराना चाहिए जहाँ छात्रोंकी योग्यता इतनी बढ़ गई हो कि वे वेगसे बाँच सकें, बाँचकर समझ सकें और उनका

उच्चारण भी ठीक हो। प्रायः सत्वर पाठ (रैपिड रीडिंग) के लिये मौन वाचनका प्रयोग अधिक करना चाहिए किन्तु व्याख्यात्मक अध्ययनके लिये निर्धारित की हुई पुस्तकोंके लिये मौन वाचनका प्रयोग करना निषिद्ध है क्योंकि सत्वर पाठमें तो पाठ्यवस्तुका भाव-मात्र समझना ही अभीष्ट होता है, उसका व्याख्यात्मक विवरण देना नहीं। उसमें सामग्री भी इतनी अधिक होती है कि सस्वर वाचनके लिये समय कहाँ रहता है। इसलिये सत्वर पाठके शिक्षणार्थ मौन वाचनका प्रयोग अवश्य कराया जा सकता है। मौन वाचनका अधिक प्रयोग इसलिये भी अपेक्षित नहीं है कि उसमें छात्रोंका उच्चारण अशुद्ध होनेका सदा भय बना रहता है। इसलिये पाठ्य-पुस्तकके शिक्षणके समय केवल उन्हीं पाठोंमें मौन वाचनका प्रयोग करना चाहिए जिनमें कथा-कहानी और वर्णन जैसी सरल तथा सर्वबोध पाठ्य-सामग्री हो और जिनमें अधिक व्याख्याकी आवश्यकता न हो। कुछ देशोंमें छात्रोंकी भाव-ग्रहण-शक्ति अधिक तीव्र करानेके लिये यह भी अभ्यास कराया जाता है कि कक्षाके सब छात्रोंको समान पृष्ठोंकी एक-एक पुस्तक दे दी जाती है और उन्हें आदेश दे दिया जाता है कि निश्चित समय (एक या डेढ़ घंटे) के भीतर वे अपने-अपने पठित ग्रन्थका विषय-परिचय दे दें, क्योंकि ज्ञान प्राप्त करना भी पुस्तक-पठनका एक मुख्य उद्देश्य है ही।

कविता-शिक्षणमें मौन पाठ वर्जित

कविता-शिक्षणका यह निश्चित सर्वमान्य नियम है कि काव्य-पाठ निश्चित रूपसे सस्वर, सभाव और सलय होना चाहिए। इसपर आगे कविता-शिक्षणके प्रकरणमें विस्तारसे विचार किया जायगा।

वाचनाचार

खड़े होनेकी मुद्रा (पौश्चर), भावभंगी (जेश्चर), सुघर अंग-संचालन (ऐक्शन) तथा अन्य सभ्याचरणों (फ़ाइन मूवमेंट्स) के साथ सस्वर वाचन करते समय प्रत्येक अक्षरका उच्चारण (आर्टिकुलेशन) स्पष्ट हो

प्रत्येक अक्षर मुखके भीतर उचित स्थानसे उच्चरित (गुड इनन्सिएशन) हो, प्रत्येक शब्द उचित ध्वनि तथा भावके साथ व्यक्त (गुड प्रोनन्सिएशन) हो, उचित स्थानोँ-पर ठहराव (राइट पौज़) देकर तथा भावानुसार वाक्यके शब्दोँ पर उचित बल देकर वाक्यकी ध्वनिके अनुसार ठीक आरोहावरोहके साथ (गुड इन्टोनेशन) वाक्य बोला जाय।

सुवाचकोंको निमन्त्रण

सुन्दर वाचनका अभ्यास करानेके लिये बाहरसे भी अच्छे-अच्छे वाचकोँको निमंत्रित करते रहना चाहिए और उनसे वाचन कराकर अध्यापकोँ और छात्रोँके सम्मुख उचित वाचनके आदर्श उपस्थित करते रहना चाहिए। शुद्ध उच्चारण-सम्बन्धी पाठमेँ हम प्रायः उन सभी दुरुच्चरित वर्णोँका विवरण दे आए हैँ जिनका उच्चारण हमारे देशके विभिन्न भागोँमेँ अशुद्ध होता है और जिन्हेँ निरन्तर टोक-टोककर शुद्ध करते रहना चाहिए।

सारांश

सारांश यह है कि वाचन दो प्रकारका होता है—सस्वर और मौन। सस्वर वाचन भी वैयक्तिक और समवेत दो रूपोँमेँ होता है। वैयक्तिक वाचन भी या तो अध्यापक-द्वारा होता है या किसी सुस्वर छात्र-द्वारा। समवेत सस्वर वाचन छात्रोँ-द्वारा या तो स्वयं होता है या अध्यापकके वाचनके पीछे छात्रोँ-द्वारा होता है। मौन वाचनका प्रयोग सस्वर-पाठ, कथा-कहानी तथा सरल वर्णन आदिके लिये होता है जिसमेँ छात्र स्वयं चुपचाप पढ़कर भावार्थ समझनेका प्रयास करते हैँ। नीचे दिए हुए मानचित्र-द्वारा हम सरलता-पूर्वक वाचन-प्रकारके भेद समझा सकते हैँ—
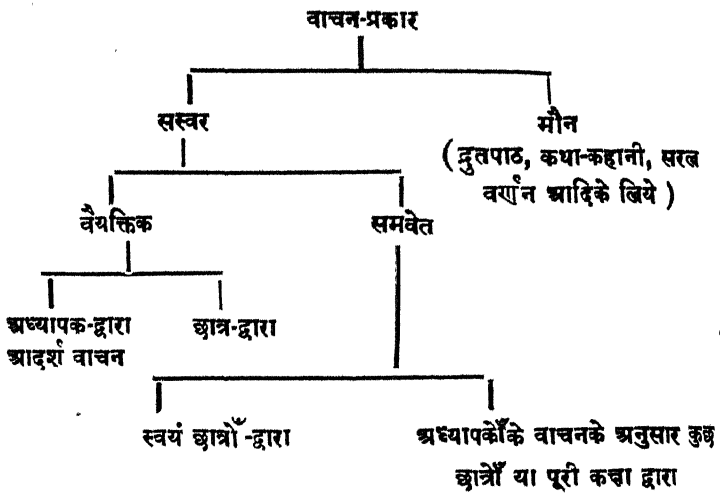
वाचन भी कला है

वाचन भी कला है। सुन्दर वाचनसे गद्य-पाठमें आधी और काव्य-पाठमें पूर्ण सफलता प्राप्त होती है, किन्तु तभी जब वाचन भी शुद्ध, कलात्मक, मधुर तथा प्रभावोत्पादक हो। शुद्धके अन्तर्गत उच्चारण-शुद्धताके सम्पूर्ण तत्त्व तथा एक भावके सार्थक शब्द-समूहका एक साथ संग्रह आ जाता है। कलात्मकके अन्तर्गत उचित भावभंगी, उचित गति और उचित स्थानोंपर ठहराव आता है। मधुरके अन्तर्गत स्वरका उचित लय तथा सुस्वरता आती है। प्रभावोत्पादकके भीतर स्वरका उचित आरोह-अवरोह, मुख-मुद्रा तथा सुन्दर और आवश्यक अंग-चेष्टा आती है। आगे दिए हुए मानचित्रसे वाचनके गुण भली प्रकार समझे जा सकते हैं—
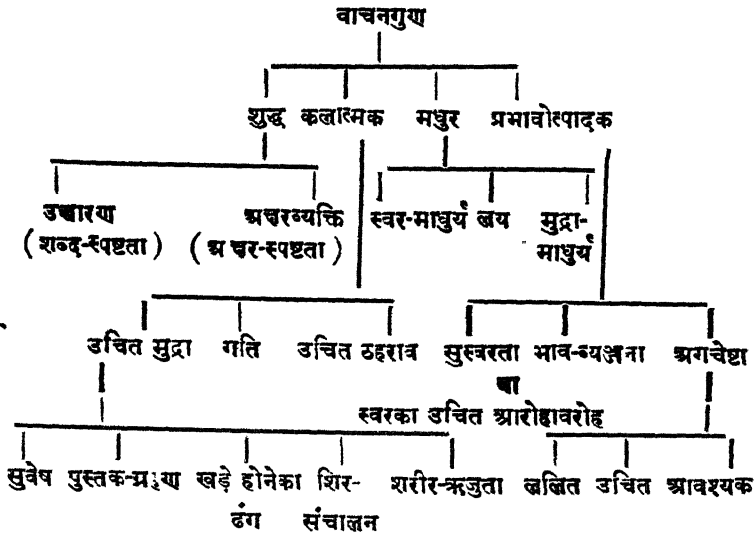
वाचन-क्रम

पहले अध्यापकको आदर्श वाचन कराना चाहिए तदनन्तर छात्रोंसे अलग-अलग पढ़वाना चाहिए। यह वाचन ऐसा भावपूर्ण हो कि पाठ्य-विषय, शब्द, अर्थ तथा भाव स्पष्ट हो जायँ। उचित (प्रौपर), आवश्यक (नेसेसरी) और ललित (ग्रेसफ़ुल) अंग-संचालन तथा स्वरके उतार-चढ़ावसे यह कार्य बड़ी सरलतासे किया जा सकता है। वाचनपर पाठकी बहुत कुछ सफलता अवलम्बित रहती है इसलिये प्रारम्भिक कक्षाओंसे लेकर माध्यमिक कक्षाओंतक सस्वर वाचनका ही प्रयोग करना चाहिए क्योंकि सस्वर वाचनसे ही प्रारम्भिक कक्षाओंमें छात्र भावपूर्वक बाँचना सीख सकते हैं।

विद्वानोंका कहना है कि कक्षामें जिस समय सस्वर वाचन होता है उस समय एक विद्यार्थी पढ़ता है, शेष विद्यार्थी अपनी पोथियोंमें दृष्टि गड़ाए रहते हैं, किन्तु वे ध्यानपूर्वक पढ़ते हैं या नहीं इसका निर्णय नहीं

हो पाता। इसके उत्तरमें कहा जाता है कि उनसे पठित अंशपर प्रश्न पूछकर यह बात जानी जा सकती है। इसका उत्तर है कि यदि ऐसा हो तब तो वे इसे स्वरुचिसे नहीं वरन् पूछे जानेके भय तथा शंकासे पढ़ते हैं। अतः, जब अध्यापक आदर्श वाचन कराता हो उस समय छात्र केवल अध्यापककी ओर देखें और जब छात्र वैयक्तिक सस्वर वाचन करता हो उस समय वे पुस्तकमें अपने वाचक साथीकी गतिके साथ मौन वाचन करते हुए देखते रहें कि वह कहीं अशुद्ध वाचन तो नहीं कर रहा है। इसके पश्चात् ज्यों ही छात्र एक अन्विति या एक अंश पढ़ चुके त्यों ही अध्यापक उससे प्रश्न पूछना आरम्भ कर दे।

बोध-परीक्षा

ख. पाठ समाप्त होनेके उपरान्त कुछ भाव-परीक्षा कर लेनी चाहिए अर्थात् एक या दो ऐसे प्रश्न करने चाहिएँ, जिनके उत्तरमें पठित अंशके भाव आ जायँ।

आत्मीकरण (ऐसिमिलेशन)

विद्यार्थीके अनुभूत अथवा संचित ज्ञानसे पाठ्य ज्ञानकी तुलना कराकर उसे अपनानेमें सहायता देनेके लिये जो पाठ्य विषयकी विस्तृत व्याख्या तथा उसका विचार-विश्लेषण किया जाता है उसे हरबार्टने आत्मीकरण कहा है। कुछ विद्वानोंका कथन है कि कठिन शब्दों तथा वाक्योंका अर्थ पहले श्यामपट्टपर छात्रोंकी सहायतासे लिख दिया जाय और उसके पश्चात् पठन-पाठन हो। किन्तु यह प्रणाली अत्यन्त निरर्थक और त्याज्य है क्योंकि मूल पाठको छोड़कर बेसिर-पैरके शब्द और वाक्य श्यामपट्टपर लिखनेका प्रयोजन क्या है? फिर हम यह कल्पना ही कैसे कर सकते हैं कि अमुक शब्द या वाक्य छात्र नहीं जानते होंगे। अतः वाचन हो चुकनेके पश्चात् अध्यापक ही पाठको पढ़ता चले, अर्थ और भाव निकलवाता चले और जैसे-जैसे बाधा या कठिनता उपस्थित हो वैसे-वैसे शिक्षण-विधियों (टीचिंग डिवाइसेज़) के सहारे उनका समाधान करता चले।

क. विस्तृत व्याख्या (डीटेल्ड एक्सपोज़िशन)

विस्तृत व्याख्यामेँ कठिन शब्दोँ, उक्तियोँ, वाक्योँ तथा भावोँका स्पष्टीकरण किया जाता है और यहीँपर शिक्षण-विधियोँके द्वारा विद्यार्थीके संचित ज्ञानके आधारपर नवीन ज्ञान देनेका इस प्रकार प्रयत्न किया जाता है कि छात्र नवीन ज्ञानको आत्मसात् करता चले। वे शिक्षण-विधियाँ निम्नलिखित हैँ—

१. वस्तु प्रस्तुत करके : जैसे कलम, आम, इत्यादि।

२. चित्र, मानचित्र, अथवा प्रतिमूर्ति प्रस्तुत करके : जैसे 'शिवाजी, भारत, बुद्ध' आदिकी।

३. श्यामपट्टपर रेखाचित्र बनाकर : जैसे त्रिकोण, वृत्त, वीणा कँगारू इत्यादिका।

४. प्रश्नोँ-द्वारा।

५. तुलना-द्वारा : जैसे 'गौ सौम्य जीव है, सिंह भयानक।'

६. उदाहरण-द्वारा : जैसे 'परोपकार' शब्दका अर्थ समझानेके लिये 'रानाडे या 'मालवीयजी'का उदाहरण देकर समझाना।

७. आधार-कथा द्वारा : जैसे 'बलि-बामनको ब्यौँत सुनि' पढ़ानेके लिये 'वामनावतार'की कथा सुनाना।

८. अर्थ-द्वारा : जैसे 'उन्मत्त=पागल या मतवाला'।

९. सन्धि-समास तोड़कर : जैसे 'रावणारि=रावण+अरि', अर्थात् 'रावणके शत्रु राम'।

१०. व्याख्या-द्वारा : जैसे 'आज गांडीव सो गया है' इसमेँ आजकी दशा और अर्जुनके गांडीवके समयकी दशाकी तुलना करके अर्थ समझाना कि 'हम शक्तिहीन हो गए हैँ।'

११. प्रयोग-द्वारा : जैसे केमरामेँ चित्र लेनेकी क्रिया दिखलाकर फोटोग्राफ़ीका पाठ पढ़ाना।

१२. कल्पना उद्‌बुद्ध करके : जैसे वायुयान-द्वारा प्रयागमेँ गंगा-यमुना-संगमके सैरका स्मरण दिलाकर पुष्पक-द्वारा रामके लौटनेके

वर्णनकी कल्पना कराकर समझाना।

१३. अभिनय अथवा अंग-सञ्चालन-द्वारा : जैसे 'नयन रिसौहैं', 'चकित होना' इत्यादिका अभिनय करके दिखाना।

१४. वाक्य-विच्छेद करके : गुम्फित वाक्य को कई भागोंमें बाँटकर स्पष्ट करके समझाना।

१५. कथा-द्वारा : जै 'भारतकी तपस्या पार्वती-तपस्या हो रही है।' इस वाक्यको स्पष्ट करनेके लिये पार्वती-तपस्याकी कठोरता बताना।

१६. व्युत्पत्ति-द्वारा : जैसे 'कौड़ी' शब्द संस्कृतके 'कपर्दिका' शब्दसे 'कवड्डिआ, कउड्डिया, कौड़िया' होकर बना है, यह बताना।

इसी प्रकार तत्सम रूप देकर, लाक्षणिक या व्यंग्य अर्थ समझाकर या समान भावके शब्द या पद देकर या अन्य ऐतिहासिक, भौगोलिक या वैज्ञानिक विवरण कहलाकर या बताकर अर्थ और भाव स्पष्ट किया जा सकता है।

सावधानी

यह स्मरण रखना चाहिए कि—

(क) कक्षामें जीवित जानवर (बन्दर, बिल्ली, साँप, चूहा आदि) प्राप्य होनेपर भी नहीं लाने चाहिएँ क्योंकि वे या तो विद्यार्थियोंको डरा देंगे या इतना विनोद उत्पन्न करेंगे कि छात्रोंका मन उन्हींमें रम जायगा, वे पढ़ न सकेंगे।

(ख) अङ्ग-सञ्चालन तथा अभिनय भी ललित (ग्रेसफुल), उचित (प्रौपर) तथा आवश्यक (नैसेसरी) होना चाहिए। असुन्दर, अनुचित तथा अनावश्यक अङ्ग-सञ्चालन तथा अभिनय नहीं करना चाहिए, जैसे खुजलाना, थिरकना, उँगली चमकाना, ठठाकर हँसना इत्यादि।

(ग) भयनाक पदार्थोंका प्रयोग तथा प्रदर्शन कक्षामें नहीं करना चाहिए, जैसे बन्दूक, विस्फोट-सामग्री, विष इत्यादि।

(घ) प्रश्न सरल, सुबोध, कल्पनाको उकसानेवाले, विचार-विवर्द्धक तथा स्पष्ट हों और मधुरताके साथ पूछे जायँ।

मौखिक प्रणालियाँ (ओरल मेथड्स)

कुछ लोग प्रारंभिक कक्षाओंमें विस्तृत व्याख्या करते समय मौखिक प्रणालीका प्रयोग करनेकी सम्मति देते हैं। मौखिक-प्रणाली द्वारा भाषा-शिक्षा देनेकी ये विधियाँ हैं—१. व्यवस्था-विधि, २. प्रश्नोत्तर-विधि, ३. संवाद-विधि, ४. तर्क-विधि तथा ५. व्याख्यान-विधि।

व्यवस्था-विधिमें अध्यापक समूचा ज्ञान अपने मुखसे बालकोंको बता जाता है और वे गूँगे बैठे रहते हैं। यह स्पष्टतः अवैज्ञानिक तथा त्याज्य विधि है। प्रश्नोत्तर-विधिमें सचेष्टता भी होती है, एकाग्रता भी रहती है और विद्यार्थियोंकी उत्सुकता भी बढ़ती चलती है। इसकी व्याख्या हम पीछे रचना-शिक्षामें कर आए हैं। यही सर्वश्रेष्ठ विधि है। संवाद-विधि भी लगभग प्रश्नोत्तर-विधिके समान ही है। अन्तर केवल यही है कि इसमें विद्यार्थी अपने अध्यापकसे प्रश्न पूछते हैं अथवा परस्पर संवाद-द्वारा विवादग्रस्त विषयका निर्णय करते हैं। तर्क-विधिमें तर्क, प्रमाण तथा युक्तियोंका सहारा लिया जाता है। यह विधि प्रायः ऐसे विषयोंके लिये प्रयुक्त होती है जिनके विषयमें दोनों ओरसे बहुत कुछ कहा जा सकता हो। इस विधिमें अध्यापकको केवल एक ही पक्षका समर्थन करनेके बदले दोनों पक्षोंका समान विवरण देना चाहिए। व्याख्यान-विधिमें अध्यापक एक तटस्थ व्यक्तिके समान प्रस्तुत विषयपर व्याख्यान देकर चला जाता है, चाहे उसे किसीने सुना-समझा हो या नहीं।

ख. विचार विश्लेषण (थौट ऐनैलिसिस)

विस्तृत व्याख्या हो चुकनेपर कुछ सरल, स्पष्ट और क्रमिक प्रश्नोंद्वारा छात्रोंसे पठित अंशका पूरा-पूरा ब्यौरा निकलवा लिया जाता है। इस क्रमको विचार-विश्लेषण कहते हैं।

सिद्धान्त-निरूपण, पुनरावृत्ति (जनरलइज़ेशन, रीकैपिचुलेशन)

सिद्धान्त-निरूपणमें दो अवस्थाएँ होती हैं—१. यदि नवीन ज्ञान देनेका उद्देश्य कोई सिद्धान्त या नियम सिखाना हो तो विस्तृत व्याख्या तथा विचार-विश्लेषण करनेके उपरान्त छात्रोंसे ही नियम या सिद्धान्त निकलवा लेना चाहिए । २. यदि पाठका उद्देश्य, सिद्धान्त या नियम सिखाना न हो तो पढ़े हुए पाठ्य-विषयकी आवृत्ति कराकर उसे पक्का करा देना चाहिए। भाषाकी शिक्षा देते समय तो पुनरावृत्ति ही करानी चाहिए किन्तु व्याकरण, रस, अलंकार, पिङ्गल आदिकी शिक्षामें सिद्धान्त-निरूपण कराना चाहिए। इस भेदके कारण इस अवस्थाको शुद्ध 'सिद्धान्त-निरूपण' न कहकर 'आवृत्ति' भी कहते हैं।

प्रयोग

नवीन ज्ञान दृढ हो जानेपर अभ्यासार्थ ऐसी समस्याएँ, ऐसे प्रश्न अथवा कार्य भी देने चाहिएँ कि बालक नवार्जित ज्ञानका प्रयोग कर सकें क्योंकि सीखी हुई बातोंके स्वतन्त्र प्रयोगका अवसर न मिलनेसे वे लुप्त हो जाती हैं। संभव हो तो यह प्रयोग कक्षामें ही समाप्त कर दिया जाय अन्यथा घरसे पूरा करके लानेके लिये दे दिया जाय। प्राचीन भारतीय प्रणालीमें तो पढ़ा हुआ पाठ दूसरोंको पढ़ा देनेको ही प्रयोग समझते थे और वास्तविक प्रयोग वही होता भी था। आजकल प्रयोगके नामपर जो कुछ कार्य दिया जाता है वह विडम्बना मात्र है।

पाठनक्रम

सारांश यह है कि गद्य-पाठके पाठ-सूत्र बनाते समय पाठन-क्रम इस प्रकार रखना चाहिए—

कक्षा : (कक्षाकी संख्या)

१. **विषय** अथवा **पाठ :** (पाठका शीर्षक)

२. **पाठ्य-सामग्री :** (कितना अंश पढ़ाया जायगा)

३. **सामान्य उद्देश्य :**

४. **मुख्य उद्देश्य :**

५. **पाठन-प्रणाली :**

६. **प्रस्तावना :** (प्रश्न दिए जायँ अथवा जिन साधनोँका प्रयोग किया जाय उनका स्पष्ट उल्लेख हो)

७. **विषय-प्रवेश :**

(क) **वाचन—**

अध्यापक-द्वारा आदर्श वाचन

छात्रोँ-द्वारा सस्वर अथवा मौन वाचन

(ख) **बोध-परीक्षा** (प्रश्नोँका उल्लेख हो)

८. **आत्मीकरण :**

(क) विस्तृत व्याख्या

(ख) विचार-विश्लेषण

९. **पुनरावृत्ति :**

१०. **प्रयोग :**

———

१६

कविता पढ़ानेके उद्देश्य और शिक्षण-विधियाँ

कविता क्या, क्यों और कैसे ?

पद्य और कवितामें भेद है। कोई भी छन्दोबद्ध रचना पद्य कहला सकती है परन्तु कविताकी परिभाषा भिन्न-भिन्न विद्वानोंने भिन्न-भिन्न प्रकारसे की है।

कविताकी परिभाषा

आचार्य मम्मटके कथनानुसार 'दोषरहित, गुणसहित, प्रायः अलंकृत किन्तु कभी-कभी अनलंकृत शब्द और अर्थको काव्य कहते हैं'—

तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि।—काव्यप्रकाश

इस परिभाषाको पूर्णतः ठीक माननेमें प्रधान बाधा यह है कि स्वरूप-लक्षणके भीतर किसी वस्तुके गुणयुक्त और दोषमुक्त होनेका विचार नहीं किया जा सकता। यदि हम घोड़ेका स्वरूप-लक्षण निर्दिष्ट करें तो हमारा यह कहना कदापि उचित न होगा कि दोषमुक्त तथा गुणयुक्त अमुक-अमुक लक्षणोंवाले चतुष्पदको घोड़ा कहते हैं। क्योंकि यद्यपि वेगसे चलना घोड़ेका गुण है तथापि यदि वेगसे न भी चले तो भी उसके घोड़ेपनमें कोई अन्तर न आवेगा, वह घोड़ा ही रहेगा। इसके अतिरिक्त गुण शब्दका अर्थ यदि ओज, माधुर्य्य, प्रसाद आदि लें तो उसका सम्बन्ध रीतिसे हो जायगा, जो उक्त लक्षण-स्वरूपके भीतर आता नहीं। वस्तुतः गुणका सम्बन्ध रससे ही होता है, शब्द या अर्थसे नहीं। फिर परमात्माके अतिरिक्त और कौन निर्दोष कहला ही सकता है।

वामनने कहा है कि 'रीति ही काव्यका आत्मा है'—

रीतिरात्मा काव्यस्य।

रीतिका अर्थ है गौड़ी, वैदर्भी और पाञ्चाली आदि रीतियाँ या शैलियाँ। अतः रीतिका सम्बन्ध हुआ वर्णोंकी व्यवस्थासे, जिसका सम्बन्ध कानोंपर पड़नेवाले प्रभावसे है। वामन तो काव्यमें सङ्गीत-तत्त्वके समर्थक हैं इसीलिये वे 'रीतिको ही कविताका आत्मा मानते हैं।' पर यदि हम रीतिको ही कविताका आत्मा मान लें तो काव्य और सङ्गीत तत्त्वके मिश्रणसे केवल कविताका माधुर्य्य ही बढ़ सकता है। अतः, काव्यके रूप-संवर्द्धनमें रीति तो केवल सहायक भर है। इसके अतिरिक्त उक्त लक्षणमें केवल वर्णोंका ही ध्यान रक्खा जाता है, शब्द या अर्थका नहीं। परन्तु केवल वर्णोंकी व्यवस्था ही काव्यकी अनुभूतिके लिये पर्य्याप्त नहीं है।

भामह, उद्भट तथा रुद्रटने काव्यमें अलङ्कार होना आवश्यक माना है। शोभा बढ़ानेवाले साधनको अलङ्कार कहते हैं। जो वस्तु पहलेसे सुन्दर रहती है, उसीकी शोभा बढ़ानेके लिये अलङ्कारका प्रयोग किया जाता है, असुन्दरको सुन्दर बनानेके लिये नहीं। इसलिये जब असुन्दर और अशोभन वस्तुको अलंकारसे लाद दिया जाता है तब उसकी शोभा बढ़ानेके बदले, उसे और भी कुरूप बना दिया जाता है।

दण्डी तथा वामनने गुणोंको ही काव्यका प्रधान तत्त्व माना है।

पंडितराज जगन्नाथ अपने रसगङ्गाधरमें कहते हैं—

रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।

'रमणीय अर्थका बोध करानेवाला शब्द ही काव्य है।' जिसमें क्षण-क्षणपर नवीनता दिखाई पड़े वही रमणीय कहलाता है—

क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः।

विश्वनाथ कविराजका कहना है—

वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।

'रसीला या रसभरा वाक्य ही काव्य है।'

आनन्दवर्धनाचार्य कहते हैं कि 'काव्यका आत्मा ध्वनि ही है'—

काव्यस्यात्मा ध्वनिः।

कुन्तक कहते हैं—

वक्रोक्तिर्काव्यजीवितम् ।

'वक्रोक्ति (घुमाकर बात कहना) ही काव्यका प्राण है' ।

क्षेमेन्द्रने औचित्यको ही काव्यका प्राण माना है—

औचित्यं स्थिरसिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम् ।

आचार्य्य पंडित रामचन्द्र शुक्लने कविताकी परिभाषा यह दी है—

'कविता वह साधन है जिसके द्वारा शेष सृष्टिके साथ हमारे रागात्मक सम्बन्धकी रक्षा और निर्वाह होता है ।'

कभी-कभी केवल असङ्ग होकर स्वतन्त्र रूपसे केवल कविताकी रचना करनेके लिये, या किसी दूसरेके कहनेसे, यहाँतक कि किसी दूसरेके नामसे भी रचना की जाती है । ऐसा रचनामें कविकी अपनी भाव-तन्मयता नहीं होती । वह केवल अपनी प्रतिभाके बलपर ऐसी सृष्टि कर देता है जिसके साथ उसकी तो कोई आत्मीयता नहीं होती किन्तु जो औरोंके लिये रसात्मक हो जाती है । अतः, ऐसी भी कविताएँ संभव हैं जिनमें हमारे रागात्मक सम्बन्धका प्रश्न ही नहीं उठता, फिर उसकी रक्षा और निर्वाहकी तो कथा ही क्या ।

अँगरेज़ कवि कीट्सने दूसरे अँगरेज़ कवि पोपके महाकाव्य 'रेप औफ़ दि लौक' (वेणी-व्यभिचार) पर टिप्पणी करते हुए काव्यकी परिभाषा दी थी—

"......................फौर्गेटिंग दि ग्रेट एंड्
औफ् पोएट्री, दैट् इट् शुड् बी ए फ्रेण्ड
टु सूद दि केअर्स ऐण्ड लिफ्ट दि थौट्स औफ् मेन ।"

[कविताका यह महान् उद्देश्य (पोप) भूल गए कि वह उस मित्रके समान होना चाहिए जो चिन्ताओंको शमन करे और मनुष्योंके विचारोंको समुन्नत करे ।] किन्तु चिन्ताओंको शमन करनेवाली कविताका स्वरूप क्या हो और मनुष्योंके विचार किस प्रकार उन्नत हों इसका परिचय कीट्सने नहीं दिया ।

गोस्वामी तुलसीदासजीने कविताकी दो बड़ी व्यावहारिक और सटीक परिभाषाएँ बताई हैं। अपने रामचरितमानसमें वे कहते हैं—

कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि-सम सबकर हित होई॥

सरल कवित, कीरति बिमल, सोइ आदरहिं सुजान।

सहज बैर बिसराय रिपु, जो सुनि करहिं बखान॥

इसमें स्पष्ट ध्वनि यह है कि कविता इतनी सरल हो कि वह सबकी समझमें आ सके, उसमें किसी विमल चरित्रवाले (महापुरुष) का वर्णन हो, उसकी वर्णनशैली ऐसी मधुर, सर्वग्राह्य, लोकसंग्रही तथा आक्षेप-रहित हो कि शत्रु भी उसकी प्रशंसा करे और वह समान रूपसे सबका हित करनेवाली हो।

इन सब परिभाषाओंके समन्वयसे हम अपनी नई परिभाषा बना सकते हैं—

'कविता वह सरल, सर्वबोध्य, रमणीय गद्य या पद्यबद्ध शब्द-रचना है जिसकी ओर सबका स्वाभाविक आकर्षण हो, उसे जो भी पढ़े या सुने वह उसमें तन्मय हो जाय और उसका हित हो।'

इस परिभाषामें सरलता, रसात्मकता, निर्दोषिता, अलंकार-विधान, लोकहित, अविक्षेप सबका समन्वय हो गया है।

छन्दोबद्ध रचनाके तीन रूप

छन्दोबद्ध रचनाओंके हमें तीन रूप मिलते हैं—१. कोरी लयदार तुकबन्दी या बाल-गीत, २. वर्णनात्मक पद्य और ३. विशुद्ध कविता। बालकोंके अध्ययनकी भी साधारणतः तीन अवस्थाएँ होती हैं—१. प्रारम्भिक, २. मध्य तथा ३. उच्च। अतः प्रारम्भिक अवस्थावाले विद्यार्थियोंको केवल लयदार तुकबन्दियाँ या बाल-गीत, मध्यावस्थावालोंको सरल पद्यमय रचनाएँ और उच्च कक्षावालोंको भावमयी कविताएँ सिखानी चाहिएँ। बच्चोंको ऐसे सरल पद्य कंठाग्र करा देने चाहिएँ जिनमें सरल शब्द हों, जो सरलताके साथ गाए जा

सकें और जिनमें लय-गतिके साथ नाट्य करनेका सुपास हो। मध्यम श्रेणीके विद्यार्थियोंके लिये ऐसी रचनाओंका संग्रह करना चाहिए जिनकी छाप उनके हृदयपर पड़े, जो देश-भक्ति-विषयक हों या दया, उत्साह आदि उदात्त भावोंको जगानेवाली हों। उच्च श्रेणीके विद्यार्थियोंके लिये प्रस्तुत संग्रहोंमें ऐसी कविताएँ देनी चाहिएँ जिन्हें वे चावसे पढ़कर कण्ठस्थ कर लें और जो उनकी कल्पनाका परिष्कार कर सकें।

गद्य और पद्यकी शिक्षामें अन्तर

गद्य और पद्यकी शिक्षामें बड़ा अन्तर है। गद्यकी नीरसता तथा संगीत-हीनताके कारण उसकी शिक्षामें एक नियमित यन्त्रबद्धता होती है। किन्तु पद्य या कविता छन्दोबद्ध तथा नियमित गतिमें होनेके कारण तालपर चलती है। तालपर सधी होनेसे वह रागमय हो जाती है और रागमय होनेके कारण वह हृदयको स्पन्दित करती है। इसीलिये शताब्दियोंसे हमारा संपूर्ण संचित ज्ञान पद्यमय तथा कवितामय बना रहा। कुछ उसके माधुर्य्यने तथा कुछ उसके लघु स्वरूपने सदा मानव-हृदय तथा मस्तिष्कको अपनी ओर आकृष्ट किया। हमारे शिक्षा-शास्त्रियोंने भी इसीलिये पद्य या कविताकी शिक्षण-पद्धतिका विधान गद्य-शिक्षण-पद्धतिसे अलग किया है।

कविता-शिक्षणके साधारण उद्देश्य

पद्य तथा कविता-शिक्षणके निम्नलिखित साधारण उद्देश्य ये हैं—

१. छात्रोंमें लय, ताल और भावके अनुसार कविता-पाठ करनेकी योग्यता उत्पन्न करना।
२. कवितामें उनकी रुचि बढ़ाना।
३. उनके उदात्त भावोंका संवर्धन और पोषण करना।
४. उनमें कविताका भाव समझने, उसका रस लेने और अपने शब्दोंमें उसकी व्याख्या करनेकी शक्ति उत्पन्न करना।
५. उनकी सौन्दर्यानुभूति बढ़ाना।

६. उन्हें काव्य-रचना करनेके लिये उत्साहित करना।
७. उन्हें काव्य-शैलियाँसे परिचित कराना।
८. उनकी कल्पना-शक्ति बढ़ाना।
९. उन्हें रस और भावका आनन्द लेने-योग्य बनाना।
१०. उन्हें काव्य-भाषाका (शब्द और अर्थका) सौन्दर्य परखने-योग्य बनाना।

मुख्य उद्देश्य

कविता-शिक्षणके मुख्य उद्देश्य ये हो सकते हैं—

१. छात्रोंमें किसी विशेष कविताका भाव समझनेकी शक्ति उपजाना।
२. किसी कविकी काव्य-गत विशेषताएँ समझनेकी उनमें योग्यता उत्पन्न करना।
३. किसी कविके काव्यकी विशिष्ट भाषा-शैलीका आनन्द लेनेका उनमें सामर्थ्य उत्पन्न करना।
४ काव्यगत विषयसे उन्हें परिचय प्राप्त कराना।
५. किसी कविके किसी विशेष भाव (वात्सल्य-वर्णन, शृंगार-वर्णन, प्रकृति-वर्णन आदि) का रस लेनेकी उनमें समर्थता उत्पन्न करना।

कविता-शिक्षण-प्रणालियाँ

१. गीत तथा अभिनय-प्रणाली।	(सौंग ऐंड ऐक्शन मेथड)
२. अर्थ-बोध-प्रणाली।	(मीनिंग मेथड)
३. व्याख्या-प्रणाली	(एक्सपोज़िशन मेथड)
४. खण्डान्वय-प्रणाली।	(ऐनेलिसिस मेथड)
५. व्यास-प्रणाली।	(डिस्कोर्स मेथड)
६. तुलना-प्रणाली।	(कम्पैरिज़न मेथड)
७. समीक्षा-प्रणाली।	(ऐप्रीसिएशन मेथड)

गीत तथा अभिनय-प्रणाली

गीत तथा अभिनय-प्रणाली उन बाल-गीतों (नर्सरी राइम्स) के लिये प्रयोगमें लानी चाहिए जो प्रारम्भिक कक्षाओंके बच्चोंको पढ़ाए जाते हैं। इन गीतोंमें अर्थका कोई महत्त्व नहीं होता, केवल बालकोंको सुस्वर करना, तालमें लाना और संगीतमें परिचित कराना ही इनका उद्देश्य होता है। ये बालगीत दो प्रकारके होते हैं—एकमें ध्वनिकी प्रधानता होती है। जैसे—

खन खन खन खन बजे रुपैया।
बन बन बोले घटा भैया॥
झन् झन् झन् झन् झींगुर बोले।
भन् भन् करता भौंरा डोले॥

दूसरेमें अभिनयकी प्रधानता होती है। जैसे—

आ मेरे सँग बैठ बिलैया।
ले, मुँह बा, खा दूध-मलैया॥
घुर घुर घुर घुर घुर घुर घुर घूँ।
दाँत निकाला तो मैं मारूँ॥
म्याऊँ म्याऊँ मैं न डरूँगी।
तेरा मुँह मैं बन्द करूँगी॥
चल, हट, जा, अब पास न आना।
आता है ले मोती नाना॥
भौं भौं भा भा, भौं भौं भा भा।
अब क्यों बैठी गोदीमें आ॥
जा जा मोती, अब मत आना।
तूमीने है कहना माना॥

गीत-प्रणाली

इन उपर्युक्त दोनों प्रकारके गीतोंमेंसे प्रथमको गीत-प्रणालीसे

पढ़ाना चाहिए। गीत-प्रणालीसे पढ़ानेकी विधि यह है कि कक्षाके बच्चोंको खड़ा करके हाथसे ताल दिलाकर किसी सरल रागमें पद्य गवाना चाहिए। यदि ऐसी रचनाओंमें कहीं विशेष ध्वनियाँ आती हों तो वे ही ध्वनियाँ प्रयत्न करके कहलानी चाहिएँ जैसे ऊपर लिखी हुई पहली रचनामें खन् खन्, घन् घन्, झन् झन् इत्यादि हैं।

अभिनय-प्रणाली

दूसरे प्रकारके गीतोंकी शिक्षा देते समय विद्यार्थियोंको पंक्तिमें खड़ा करके पहले तो सबसे शब्द, वाक्य या भावके अनुसार अभिनय कराना चाहिए और फिर उस पद्यमें आए हुए चरित्रोंके अनुसार पात्र निश्चय कर लेने चाहिएँ और उनके अनुकूल गीतका एक-एक भाग पृथक्-पृथक् गवाकर कहलाना चाहिए। अब यदि दूसरे गीतको पढ़ाना हो तो बच्चोंको तीन पंक्तियोंमें इस प्रकार खड़ा किया जाय—

१

○ ○ ○ ○ ○ ○ ○

○

३ ○

○

●

○ ○ ○ ○ ○ ○ ○

२

पहली पंक्तिवाले बच्चे कहेंगे—

आ	मेरे सँग	बैठ बिलैया
१	२	३
ले	मुँह बा	खा दूध-मलैया
४	५	६

इन दो पंक्तियोंको कहते समय बालक इस प्रकार अभिनय करेंगे—

१. आ : दाहिने हाथ तथा सिरसे बुलानेका भाव दिखलाकर।

२. मेरे सँग : दाहिना हाथ छातीसे लगाकर।

३. बैठ बिलैया : बाएँ हाथकी हथेलीसे पास बैठानेका अभिनय करके।

४. ले : दाहिने हाथका अँगूठा उँगलियोंके बीचमें रखकर कुछ देनेका भाव दिखाकर।

५. मुँह बा : दोनों हाथोंसे इस प्रकार अभिनय करके मानो बिल्लीका मुँह खोलते हों।

६. खा दूध-मलैया : दाहिने हाथको इस प्रकार आगे बढ़ाना मानो, बिल्लीके मुँहमें हाथ दे रहे हों।

इसके पश्चात् दूसरी पंक्तिवाले बच्चे पहली पंक्तिकी ओर दाँत निकालकर इस प्रकार अभिनय करते हुए ध्वनि करेंगे मानो बिल्ली घुरघुरा रही हो—

घुर घुर घुर घुर घुर घुर घुर घूँ।

फिर पहली पंक्तिवाले कहेंगे—

दाँत निकाला तो मैं मारूँ।

ऊपर 'दाँत निकाला' कहते समय दाँत निकालने तथा 'तो मैं मारूँ' कहते समय धीरेसे चपत लगानेका अभिनय कराना चाहिए।

इसके पश्चात् दूसरी पंक्तिवाले बिल्लीकी बोलीमें कहेंगे—

म्याऊँ म्याऊँ—

फिर पहली पंक्तिवाले सिरको झटका देकर कहेंगे—

......मैं न डरूँगी।

इसमें 'मैं' कहते हुए छातीपर हाथ लगाकर तथा 'न डरूँगी' कहते हुए हाथसे मना करनेका अभिनय कराना चाहिए। फिर निम्नलिखित भागको उचित अभिनयके साथ कहलाना चाहिए—

तेरा मुँह मैं बन्द करूँगी॥
चल, हट, जा, अब पास न आना।
आता है ले मोती नाना॥

इसके पश्चात् तीसरी पंक्तिवाले बच्चे, कुत्तेके समान भौंकते हुए एक-एक ध्वनिके साथ एक-एक पग आगे बढ़ेंगे और दूसरी पंक्तिवाले दौड़कर पहली पंक्तिमें दो-दोके बीचमें एक-एक जाकर खड़े हो जायँगे। तब पहली पंक्तिवाले बालक अपने पास आ खड़े होनेवाले बच्चोंकी ओर मुँह करके कहेंगे—

अब क्यों बैठी गोदीमें आ ?

फिर तीसरी पंक्तिवालोंको हाथसे संकेत करके कहेंगे—

जा, जा मोती ! अब मत आना ।
पूसीने है कहना माना ॥

जब सामूहिक अभिनय-द्वारा एक साथ ठीक अभिनय आ जाय तो फिर अलग-अलग अभिनय कराना सिखाना चाहिए।

इस प्रकार अभ्यास-द्वारा बालकोंको पद्योंमें रुचि होने लगती है, उनमें फुर्ती आती है, पद्य कंठस्थ हो जाता है, उचित अंग संचालनके द्वारा भाव व्यक्त करनेकी विधि आ जाती है, पाठ तनिक भी भारी नहीं लगता, सब ज्ञान खेल-खेलमें ही प्राप्त हो जाता है। ऐसे बाल-गीतोंका शब्दार्थ सिखानेकी आवश्यकता नहीं होती।

अर्थ-बोध-प्रणाली

अर्थ-बोध-प्रणालीकी अधिक व्याख्या करनेकी आवश्यकता नहीं है क्योंकि यह वही दूषित प्रणाली है जिसका प्रयोग हमारे अध्यापक मित्र बड़े धड़ल्लेके साथ करते हैं और कविताका गला घोंट-घोंटकर, साँसत दे-देकर उसकी हत्या करते हैं। इस प्रणालीमें अध्यापक एक छात्रसे कोई पद्य पढ़वाते हैं और स्वयं उसका अर्थ कह देते हैं या कभी-कभी छात्रसे ही अर्थ कहलवा लेते हैं। इस दूषित प्रणालीके इतने अधिक प्रचलित होनेका दोष अध्यापकोंके सिर उतना नहीं मढ़ा जा सकता जितना पाठ्य-पुस्तकोंके संकलयिताओंके सिर। यदि हम हाई स्कूलकी अँगरेजी तथा हिन्दी कविताकी पाठ्य-सामग्रीकी तुलना करें तो हमें यह जानकर अत्यन्त

आश्चर्य होगा कि अँगरेज़ीमें दो वर्षोंके लिये बारह या पन्द्रह कविताएँ निर्धारित हैं और हिन्दीमें कबीरसे आजतकके लगभग बाईस कवियोंकी पचपन शीर्षकोंमें एक सौ चालीस पृष्ठोंपर छपी हुई कविताओंका विराट् संग्रह है। कोई भी कुशल अध्यापक सम्पादित तथा शुद्ध हृदयसे इतनी कविताएँ निर्दिष्ट समयमें भला कैसे पढ़ा सकता है? अतः उसे झख मारकर अर्थ-बोध-प्रणालीका आश्रय लेकर निर्धारित समयमें पाठ समाप्त करने ही पड़ते हैं।

व्याख्या-प्रणाली

व्याख्या-प्रणालीमें अध्यापक एक-एक पद लेकर उसका अर्थ करता हुआ कविका दार्शनिक मत, उद्देश्य, प्रवृत्ति, उसकी रचना-शैली, परिस्थिति, कविताकी भाषा, अलंकार, भाव, रस आदिकी व्याख्या करके पदका अर्थ स्पष्ट करता चलता है। यदि पदका किसी ऐतिहासिक घटनासे सम्बन्ध होता है तो उस घटनाका भी ज्ञान कराता चलता है। एक गोस्वामीजीका पद लीजिए—

> जाके प्रिय न राम बैदेही।
>
> तजिए ताहि कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही॥
>
> पिता तज्यो प्रह्लाद, बिभीषन बन्धु, भरत महतारी।
>
> बलि गुरु तज्यौ, कन्त ब्रज-बनितनि, भे मुद मंगलकारी॥

अर्थ-बोध-प्रणालीसे पढ़ानेवाला अध्यापक उपर्युक्त पदका निम्नलिखित अर्थ बताकर आगे बढ़ जायगा—

'जिसको राम और सीता प्यारे नहीं हैं वह चाहे जितना भी प्यारा क्यों न हो, उसे करोड़ों बैरियोंके समान छोड़ देना चाहिए। प्रह्लादने पिताको, विभीषणने भाईको, भरतने माताको, बलिने गुरुको और ब्रजकी स्त्रियोंने अपने पतियोंको छोड़ा, फिर भी सब आनन्द-मंगलसे रहे।'

किन्तु व्याख्या-प्रणालीसे पढ़ानेवाला अध्यापक केवल इतने अर्थसे संतुष्ट नहीं होगा। वह प्रह्लाद और हिरण्यकशिपु, विभीषण और रावण,

भरत और कैकेयी, बलि और शुक्राचार्य तथा कृष्ण और ब्रज-वनिताओंका विवरण देगा, भगवानसे प्रेम करने तथा उनके विरोध करनेका परिणाम बतावेगा, गोस्वामीजीके सिद्धान्तका परिचय देगा, मीराबाईके लोकप्रसिद्ध पत्रका परिचय देगा, तब कहीं समझावेगा कि गोस्वामीजीने यह क्यों कहा कि—

तजिए ताहि कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही ॥

कविता पढ़ानेमें इसी प्रणालीका प्रयोग विशेष रूपसे करना चाहिए।

खण्डान्वय-प्रणाली

खण्डान्वय-प्रणाली वही है जिसे गद्य-शिक्षणमें हम ठेठ प्रश्नोत्तर-प्रणाली कह आए हैं। यह प्रणाली उन पद्योंको पढ़ानेमें काम आती है जिनमें विशेषणोंकी भरमार हो, भावोंकी भीड़ हो, घटनाओंकी घटा हो और एक-एक बात अलगाए बिना अर्थ स्पष्ट करनेमें बाधा आती हो। एक दोहा लीजिए—

अधर धरत हरिके परत, ओठ डीठि पट-जोति।
हरित बाँसकी बाँसुरी, इन्द्र-धनुष सम होति ॥

इस दोहेका खण्डान्वय-प्रणालीसे पढ़ानेके लिये निम्नलिखित प्रश्नोत्तर करने होंगे—

प्रश्न : हरि अपने अधरपर क्या धरते हैं ?

उत्तर : बाँसुरी।

प्रश्न : बाँसुरी किस वस्तुकी बनी हुई है ?

उत्तर : बाँसकी।

प्रश्न : कैसे बाँसकी ?

उत्तर : हरे।

प्रश्न : अधरपर हरी बाँसुरी रखनेसे क्या हो रहा है ?

उत्तर : ज्योति पड़ रही है।

प्रश्न : किस वस्तुकी ?

उत्तर : ओठकी।

प्रश्न : और ?

उत्तर : डाँठकी (दृष्टिकी) ।

प्रश्न : और ?

उत्तर : पटकी ।

प्रश्न : इससे क्या हो रहा है ?

उत्तर : बाँसुरी इन्द्र-धनुषके समान दिखाई दे रही है ?

प्रश्न : क्यों ?

उत्तर : क्योंकि विभिन्न वस्तुओंकी ज्योति अलग-अलग पड़ रही है।

प्रश्न : ओठकी कैसी कान्ति पड़ रही है ?

उत्तर : लाल।

प्रश्न : दृष्टिकी कैसी पड़ रही है ?

उत्तर : नीली ।

प्रश्न : पटकी कैसी पड़ रही है ?

उत्तर : पीली ।

प्रश्न : केवल तीन ही रंगोंसे इन्द्र-धनुषकी सृष्टि कैसे हुई ?

उत्तर : नीला, पीला और लाल ये ही तीन प्रधान रंग हैं। इन्हींके मेलसे सातों रंग बनते हैं।

उत्तर : जब श्रीकृष्णजी हरे बाँसकी बाँसुरी अपने ओठों पर रखते हैं तब उनके ओठ, नेत्र तथा पीताम्बरका प्रकाश पड़नेसे वह बाँसुरी इन्द्र-धनुषके समान मनोहर लगने लगती है।

यह प्रणाली सब स्थानोंपर तथा सब प्रकारके पद्यों या कविताओंकी शिक्षामें काम नहीं आ सकती। प्रायः वर्णनात्मक तथा ऐतिहासिक पद्य ही इस प्रणालीसे पढ़ाए जा सकते हैं।

व्यास-प्रणाली

व्यास-प्रणाली मुख्यतः उच्च श्रेणीकी भाव-प्रधान कविताएँ पढ़ानेके लिये प्रयोगमें लाई जाती है। जिन लोगोंने व्यासोंके मुखसे कथाएँ सुनी होंगी वे इस प्रणालीका महत्त्व तथा इसकी उपादेयता समझ सकेंगे। इस प्रणालीमें एक पद लेकर उसे दो दृष्टियोंसे परखा जाता है—भाषाकी दृष्टिसे, भावकी दृष्टिसे। भाषाकी दृष्टिसे विचार करते समय अध्यापक एक-एक शब्दका महत्त्व, उसकी उपादेयता, उसके स्थानपर दूसरा शब्द प्रयोग करनेसे अर्थदोष, श्रुति-मधुरता, शब्दका बल, वाक्य-विन्यासके विशेष प्रभाव आदिकी व्याख्या करता है। भावकी दृष्टिसे विचार करते समय अध्यापक अन्य कवियोंके समान भाववाले पदोंसे निर्दिष्ट पदकी तुलना करता है। उसकी व्याख्या करते समय बाहरसे उदाहरणों, दृष्टान्तों, सूक्तियों तथा कथाओं-द्वारा उसके भावको भली-भाँति स्पष्ट कर देता है। इस प्रणालीसे पढ़ानेवाले अध्यापकको हिन्दी, उर्दू, संस्कृत आदि भाषाओंके साहित्य तथा इतिहास आदिका विस्तृत ज्ञान होना चाहिए तभी वह इस प्रणालीसे पढ़ानेमें सफलता पा सकता है। साथ ही उसे कुशल अभिनेता भी होना चाहिए। भावोंकी व्याख्या करके उन्हीं भावोंमें वह कभी तो अपनेको डुबाता-उतारता चले, कभी करुणाके प्रसंगमें अश्रुधारा बरसा दे, कभी हास्यके समय श्रोताओंको हँसा दे, कभी वीर-रसके प्रसंगमें गंभीर वाणी, फड़कते नासापुट, चढ़ी हुई भौंह तथा हाथोंके संचालनसे ऐसी

परिस्थिति उत्पन्न कर दे कि श्रोताओंमें उत्साह भर जाय और उनकी भी भुजाएँ फड़कने लगें।

गोस्वामीजीकी विनयपत्रिकाके एक पदका अंश लीजिए—

> कबहुँक अम्ब अवसर पाइ।
> मेरिऔ सुधि द्याइबी कछु करुन कथा चलाइ॥

[illegible]जीने संक्षेपमें इनकी व्याख्या यों की थी—

गोस्वामीजीको कलिकालने सता रक्खा है। रामके अतिरिक्त उनकी मुक्तिका और कौन अवलम्ब हो ही सकता है। उन्होंने कवितावली में स्पष्ट कह दिया है—

> राम हैं मातु-पिता-गुरु-बन्धु, औ संगी-सखा-सुत-स्वामि-सनेही।
> रामकी सौंह भरोसो है रामको, राम-रँग्यो रुचि राच्यौ न केही॥
> जीयत राम, मरे पुनि राम, सदा गति रामहिकी इक जेही।
> सोइ जियै जगमें तुलसी, नतु डोलत और मुए धरि देही॥

कलिकालकी अपस्तुति राजा रामचन्द्रजीके अतिरिक्त और किससे की जाय! उन्होंने झट आवेदन-पत्रिका—'विनयपत्रिका'—लिखी। पर राजाके पासतक पहुँचानेका ठिकाना भी तो होना चाहिए। वहाँ न जाने कितने लोग आते-जाते हैं, दिन-रात भीड़ लगी रहती है, फिर पहुँच कैसे हो? वे गणेशजी, शिवजी, सूर्य आदि देवताओंसे प्रार्थना करते हैं, क्योंकि ये लोग उस सभामें आते-जाते हैं। ये भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न आदिसे कहते हैं क्योंकि ये सब राजाके भाई हैं, इनकी वे अवश्य सुनेंगे। हनुमानजीका बड़ा भरोसा है। रामचन्द्रजी इन्हें बहुत मानते हैं। इन सबको साध लेनेपर गोस्वामीजीने ब्रह्मास्त्र निकाला। सीताजीसे ही क्यों न कहलाया जाय? उनकी बात रामचन्द्रजी कभी नहीं टाल सकते। गोस्वामीजी बड़ी चतुरतासे उनसे कहते हैं—'अम्ब! कबहुँक अवसर पाइ, कछु करुन कथा चलाइ, मेरिऔ सुधि द्याइबी।' 'हे माता! कभी अवसर देखकर, कुछ करुण कथा चलाकर, मेरी भी सुधि दिला देना।' क्योंकि मुझे तो केवल रामका ही भरोसा है—

एक भरोसो एक बल, एक आस बिस्वास।
एक राम घनस्याम-हित, चातक तुलसीदास॥

अम्ब क्यों कहा? महारानी क्यों नहीं कहा? अम्बका अर्थ है माता। माता अपने पुत्रके लिये क्या नहीं करती? महारानीजी तो इच्छापर हैं, मौजपर हैं, करें-करें, न करें न करें। पर माँ तो अपने पुत्रको आँखोंमें आँसू नहीं देख सकती। माँसे ऊँचा महिलाओंके लिये कोई दूसरा पद और सम्बोधन ही नहीं हो सकता। और फिर सीताजी तो जगज्जननी हैं, पूज्य हैं, आराध्य हैं और भगवान्‌को अत्यन्त प्रिय हैं—

जनकसुता जगजननि जानकी।
अतिसय प्रिय करुनानिधानकी॥

किन्तु अम्ब कहकर चञ्चल बालकके समान गोस्वामीजी उनसे तत्काल अपना पक्षवाद (वकालत) करनेके लिये नहीं कहते। वे कहते हैं—माँ! कबहुँक, कभी, अभी नहीं; अवसर पाइ, अवसर पाकर; मेरिऔ, मेरी भी; सीधे, बिना समझाए नहीं, वरन् कुछ करुना कथा चलाइ, कुछ करुणापूर्ण कथाके साथ; सुधि द्याइबी, भगवान्‌को सुधि दिला दीजिएगा।

ऐसा न हो कि रामचन्द्रजी थके-माँदे बाहरसे आवें और आप मेरा पचड़ा सामने खड़ा कर दें। वे सुनी-अनसुनी कर दें। इसलिये कभी अवसर पाकर, जब वे प्रसन्न हों, आनन्दसे बैठे हों, निश्चिन्त हों उस समय केवल स्मरण दिलाइएगा। गोस्वामीजी जानते हैं कि सीताजी स्वयं दयालु हैं। ऐसे ही समय मेरे जैसे और भी बहुतसे दुखियोंकी व्यथा सुनाती होगी। गोसाईंजी दूसरोंका भी कल्याण चाहते हैं। स्वार्थी नहीं हैं। इसलिये मेरिऐ—'मेरी ही' नहीं कहते। वे कहते हैं कि जहाँ आप औरोंकी व्यथा सुनावें वहाँ 'मेरिऔ'—'मेरी भी' सुधि दिला दीजिएगा। पर ऐसा न हो कि आप केवल सुधि दिलाकर ही बस कर दें कि एक तुलसीदास है, उसका भी उद्धार कर दीजिएगा। सुधि दिलाते समय कुछ मेरी दुर्दशाका चित्र भी खींचिएगा, कुछ पुराने पापियोंके तरनेकी चर्चा भी कर दीजिएगा। कलिकालने मुझे जो पीड़ा दी है उसकी भी सुधि दिला दीजिएगा। इस प्रकार आप

करुण कथा चलाकर बात कहिएगा तो बड़ा प्रभाव पड़ेगा। रामचन्द्रजी बड़े दयालु हैं। यह सब सुनेंगे तो द्रवित हो उठेंगे, मेरी बिगड़ी बन जायगी—

सुनत दीनदयालुके मेरी बिगरिऔ बनि जाय।''

इस प्रणालीमें सब काम अध्यापक ही करता है। विद्यार्थी चुपचाप सुनते हैं और उनके हृदयपर जो प्रभाव पड़ता है, वह उनकी भाव-भंगी, आँखोंके उल्लास आदिसे व्यक्त होता रहता है। भावात्मक कविताओंकी शिक्षामें इसी प्रणालीका प्रयोग किया जाना चाहिए। प्रश्नोत्तर-विधिका प्रयोग इसमे तनिक भी नहीं होना चाहिए क्योंकि प्रश्नोत्तर-विधिसे ऐसा रसमय-पाठ नीरस हो जाता है और उसका भाव नष्ट हो जाता है।

तुलना-प्रणाली

तुलना-प्रणाली और तुलना-विधिमें अन्तर है। तुलना-विधि तो किसी एक शब्द या वाक्यका समानार्थी शब्द या वाक्य देकर उसका अर्थ स्पष्ट करनेमें प्रयोग की जाती है किन्तु तुलना-प्रणाली तो पद्य या कविता पढ़ानेकी एक भिन्न प्रणाली है।

प्रायः एक ही कवि अपने बनाए हुए विभिन्न काव्योंमें एक ही बात कई उद्देश्यों, प्रकारों, शैलियों या भावोंसे कहता है। इसी प्रकार अनेक कवि एक ही भावको कई प्रकारसे कहते हैं। ऐसे भावों या वर्णनोंको तुलनात्मक प्रणालीसे पढ़ाना चाहिए। इसमें एक पन्थ दो काज होता है। विद्यार्थीकी विवेचना-बुद्धि बढ़ती है, उसके ज्ञानका विस्तार होता है और कविके उद्देश्यों, कविताके विभिन्न स्वरूपों तथा एक भावको कई प्रकारसे व्यक्ति करनेकी शैलियोंका परिज्ञान होता है।

गोस्वामी तुलसीदासजीने अपने बरवै-रामायण, कवितावली-रामायण, तथा रामचरितमानसमें गंगाजीके तटपर राम और निषादके मिलनका तीन प्रकारसे वर्णन किया है—

सजल कठौता कर गहि कहत निषाद।
चढ़हु नाव पग धोई करहु जनिबाद॥ [बरवै-रामायण]

एहि घाट तें थोरिक दूर अहै कटिलौं जल-थाह दिखाइहौं जू।
परसे पगधूरि तरै तरनी घरनी घर क्यों समुझाइहौं जू॥
तुलसी अवलंब न और कछू लरिका केहि भाँति जियाइहौं जू।
बरु मारिए मोहिं बिना पग धोए हौं नाथ न नाव चढ़ाइहौं जू॥

[कवितावली]

माँगी नाव न केवट आना। कहेउ तुम्हार मरम मैं जाना।
चरन-कमल-रज कहुँ सब कहई। मानुष करनि मूरि कछु अहई॥
छुअत सिला भइ नारि सुहाई। पाहनते न काठ कठिनाई।
तरनिउ मुनि घरनी होइ जाई। बाट परइ मोरि नाव उड़ाई।
एहि प्रतिपालउँ सब परिवारू। नहिँ जानउँ कछु अउर कबारू।
जौ प्रभु पार अवसि गा चहहू। मोहि पद-पदुम पखारन कहहू।
पद-कमल धोइ चढ़ाइ नाव न नाथ उतराई चहौं।
मोहिं राम राउरि आन दसरथ-सपथ सब साँची कहौं।
बरु तीर मारहिँ लखन पै जब लगि न पाय पखारिहौं।
तब लगि न तुलसीदास नाथ कृपालु पार उतारिहौं॥

[रामचरित-मानस]

इनमेँ से पहलेमेँ वर्णनके लिये कविके पास अधिक स्थान नहीँ है। बरवै-रामायणका गँवार, उजड्ड केवट श्रीरामसे उसी प्रकार व्यवहार करता है जैसे आजकलके कोई-कोई केवट कहते हैँ कि 'चार पैसे देने होँ तो दीजिए, नहीँ तो आगे बढ़िए।' वह हाथमेँ जलसे भरा हुआ कठौता लेकर कहता है—

'पैर धोकर नावपर चढ़ जाओ, झगड़ा (बाद) मत करो।'

कैसा टेढ़ा आदमी है?

कवितावली रामायणका केवट सीधा-सादा मल्लाह है जो लक्ष्मणसे डरता है, रामको याजकर (जादूगर) समझता है, सीधे-सीधे 'नहीँ' नहीँ कर पा रहा है और तत्परता, आशंका, विवशता तथा भयके साथ अपनी बातको घुमा-फिराकर अपना बचाव करता हुआ कहता है—

"आइए, इस घाटसे आगे कमरतक पानी है। मैं आगे-आगे थाह दिखाता चलूँगा। सुना है आपके पैरकी धूलमें बड़ा जादू है। कहीं आपके पैरसे छू जानेपर मेरी नाव उड़ गई तो लेनेके देने पड़ जायँगे। मेरी घरवाली बड़ी टर्री है। जीना भारी कर देगी। जो कहीं यह नाव बदलकर स्त्री हो गई तो और साँसत समझिए। देखते ही आग-बबूला हो उठेगी—'यह कहाँसे ले आया रे!' घरमें नित्य काँव-काँव हुआ करेगी, टंटा मचा रहेगा। दोनों मिलकर रह न सकेंगी। मेरे खोपड़ीपर बाल न छोड़ेंगी। आप तो जानते ही हैं कि नाव ही बच्चोंका पेट पालनेका एक सहारा है। वह न रही तो घर कैसे चलेगा? पर आपको नावपर ही चलना हो तो बिना पैर धोए नावपर नहीं चढ़ने दूँगा चाहे मुझे मार ही क्यों न डालिए।"

इस कथनमें शील, भय, आशंका, घबराहट सबका अद्भुत सम्मिश्रण है। केवटका यह अत्यन्त ठेठ सटीक मनोवैज्ञानिक निरूपण है।

रामचरित-मानसमें मर्यादाका पालन किया गया है। मानसका केवट चतुर है, रामकी भी मर्यादा जानता है और अपनी भी। चक्रवर्ती महाराज दशरथके पुत्रसे कैसे व्यवहार करना चाहिए, इसका उसे ज्ञान है। वह यह भी सुन चुका है कि रामचन्द्रजी साक्षात् भगवान् हैं। उनका चरणामृत ग्रहण करना आवश्यक है। इसीलिये नाव माँगनेपर भी वह लाता नहीं है और कहता है—

"मैं आपका सब भेद जानता हूँ कि आप वास्तवमें कौन हैं। इसका अर्थ यह है कि आप साक्षात् भगवान् हैं। आपके चरण-कमलकी धूलिका यह प्रभाव है कि वह पत्थरको—प्राणहीन, हृदयहीन, जड़ व्यक्तिको—मनुष्य बना देती है, उसमें चेतनता भर देती है। अतः मैं ऐसा अवसर क्यों छोड़ूँ? मैं आपकी वह कथा जानता हूँ कि आपने पत्थरको कैसे तारा। यह कैसे हो सकता है कि आपके चरणोंकी धूलि पाकर यह नाव तो तर जाय और आपको सामने पाकर भी मैं मूर्ख बिना तरे रह जाऊँ। इससे मेरी दुहरी हानि होगी। नाव न रहनेसे इस लोकमें भी दरिद्र बना रह जाऊँगा और चरणरज न पानेसे उस लोकमें भी दरिद्र बना रह जाऊँगा। मैं इस नावसे

ही अपने कुटुम्बका जो पालन करता हूँ और दूसरा व्यापार नहीं कर रहा हूँ उसका भी कारण है और वह यही है कि आजके दिनके लिये ही यह काम कर रहा हूँ। आप तो सब जानते ही हैं। इसलिये मुझे विश्वास है कि आप कोई ऐसा काम नहीं करेंगे जिससे मेरे आश्रितोंको कष्ट हो। जो आप पार जाना ही चाहते हों तो पैर धोनेकी आज्ञा दीजिए जिससे आप भी पार चले जायँ और मुझे भी भवसागरसे पार होनेकी कुंजी मिल जाय।"

रामचरित-मानसकी यह व्यञ्जना समझाए बिना रामचरित-मानसके आध्यात्मिक पक्षका ज्ञान कराया ही नहीं जा सकता। ऐसे ग्रन्थों तथा भक्ति और नीतिकी रचनाओंके शिक्षणमें तुलना-प्रणाली अवश्य प्रयोगमें लानी चाहिए।

तुलनाकी अन्य प्रणालियाँ

तुलना-प्रणालीसे कविता-शिक्षण और भी कई विधियोंसे किया जाता है—

क. समभाषा-कवि-तुलना-प्रणाली

ख. भिन्न-भाषा-कवि-तुलना-प्रणाली

ग. भावतुलना-प्रणाली

तुलनामें साम्य और असाम्य दोनोंका विवेचन किया जाता है।

समभाषा-कवि-तुलना-प्रणाली

समभाषा-कवि-तुलना-प्रणालीमें अपनी भाषाके अन्य कवियोंके उसी भावके पद प्रस्तुत करके यह दिखलाना चाहिए कि किस-किस कविने एक ही भावको कितने प्रकारसे व्यक्त किया है और उनमेंसे किसकी अभिव्यञ्जना-पद्धति अधिक प्रभावोत्पादक है। कबीरका एक दोहा लीजिए—

चातक सुतहि पढ़ावई, आन नीर मत लेय।
मम कुल इहै सुभाव है, स्वाति बूँद चित देय॥

इस दोहेकी तुलना गोस्वामीजीके चातक-वर्णन-वाले निम्नलिखित दोहेसे की जा सकती है—

बध्यौ बधिक, पर्‍यो पुन्नजल, उलटि उठाई चोँच।
तुलसी चातक प्रेमपट, अन्तहुँ लगी न खोँच॥

उपर्युक्त दोनोँ दोहोँकी तुलना करके यह समझाया जा सकता है कि तुलसीदासजीका चातक अधिक प्रभावोत्पादक है क्योँकि वह कोरी शिक्षा नहीँ देता, वह कार्य रूपमेँ अपनी भक्ति प्रकट करता है।

भिन्न-भाषा-कवि-तुलना-प्रणाली

विभिन्न भाषाके कवियोँकी समभावात्मक रचनाओँकी तुलना भी की जा सकती है। एक 'कुंडलिया' लीजिए—

साईँ या संसारमेँ, मतलबका व्यौहार।
जब लगि पैसा गाँठमेँ तब लगि ताकौ यार॥
तब लगि ताकौ यार, यार सँग ही सँग डोलै।
पैसा रहा न पास, यार मुखसे नहिँ बोलै॥
कह गिरिधर कविराय जगतकौ याही लेखा।
करत बेगर जी प्रीति यार हम बिरला देखा॥

इसीका समभावात्मक फ़ारसीका निम्नलिखित शैर लीजिए—

बवक़्ते तंगदस्ती आशना बेगाना मीगरदद।
सुराही चूँ शवद ख़ाली जुदा पैमाना मीगरदद।

[दरिद्रताके दिनोँमेँ अपने मित्र भी पराए हो जाते हैँ। देखो! सुराही रीत जानेपर उसपर ढका हुआ प्याला भी अलग हो जाता है।]

इन दोनोँकी तुलना करके यह समझाया जा सकता है कि विभिन्न भाषाओँके विभिन्न कवियोँने एक ही बातको भिन्न शैलियोँमेँ कहकर क्या चमत्कार और प्रभाव उत्पन्न किया है और किस प्रकार फ़ारसीके कविने सुराही और प्यालेकी उपमा देकर उस प्रभावको अधिक तीव्र कर दिया है।

भाव-तुलना-प्रणाली

भाव तुलना-प्रणालीमें विभिन्न देशोंकी संस्कृति तथा भावनाके अनुसार एक ही विषयपर विभिन्न देशोंके कवियों द्वाराकी हुई रचनाओंकी तुलना की जाती है। निम्नलिखित उदाहरण लीजिए—

साईं इतना दीजिए, जामें कुटुम समाय।
मैं भी भूखा ना रहूँ, साधु न भूखा जाय॥ [कबीर]

ओ गौड ! ग्रैण्ट मी माई डेली ब्रेड्।
[हे ईश्वर ! मुझे नित्यका भोजन प्रदान कीजिए।] [बाइबिल]

ऐ मालिके हर बलन्दोबस्ती ! शश्चीज़ अताबेकुन् ज़े हस्ती।
इलमो अमलो फ़राख़दस्ती ईमानो आमानो तन्दुरुस्ती॥
[फ़ारसी उक्ति]

[हे ईश्वर ! मुझे छह वस्तुएँ प्रदान कीजिए—विद्या, स्फूर्त्ति, उदारता, सत्यता, शान्ति और स्वास्थ्य।]

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नाऽपुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्त्तिनाशनम्॥ [संस्कृतकी उक्ति]

[न मैं राज्य चाहता हूँ, न स्वर्ग चाहता हूँ, न मुक्ति चाहता हूँ। मैं चाहता हूँ कि दुखियोंका दुःख दूर करता हूँ।]

इन चारो उक्तियोंके भावोंकी तुलना करके यह समझाना चाहिए कि संस्कृतकी उक्तिमें जो त्यागकी महत्ता है वही वास्तवमें मानवताकी सच्ची कसौटी है। इस प्रकारके तुलनात्मक काव्य-शिक्षणसे छात्रोंकी रुचि काव्यमें बढ़ती है, तुलना-शक्ति तथा विवेचन-शक्तिका संवर्द्धन होता है और उनका काव्य-ज्ञान भी समृद्ध तथा परिपक्व होता है।

समीक्षा-प्रणाली

समीक्षा-प्रणालीमें काव्यकी आलोचनाके सिद्धान्त बतला दिए जाते हैं, सहायक पुस्तकोंके नाम दे दिए जाते हैं और उनके अनुसार विद्यार्थी समष्टि रूपसे एक कविकी रचनाओं अथवा उसकी किसी एक कविताकी समीक्षा करते हैं अर्थात् उसकी भाषा-शैली और भाव-व्यञ्जना-शैलीकी

विशेषताओंका अध्ययन करके उसका आनन्द लेते हैं। इसमें प्रश्नोत्तर-विधि तथा तुलना-विधिका आश्रय लेकर अध्यापक भी कक्षामें समीक्षा करा सकता है। यह प्रणाली ऊँची कक्षाओंमें ही उस समय प्रयोगमें लानी चाहिए जब विद्यार्थियोंको समीक्षाके सिद्धान्तोंका पर्याप्त परिचय प्राप्त हो चुका हो।

समीक्षात्मक अध्ययन-प्रणाली

समीक्षा-प्रणालीको ही समीक्षात्मक अध्ययन प्रणाली (क्रिटिकल स्टडी मेथड) भी कहते हैं। इस प्रणालीमें काव्यकी तीन प्रकारसे परीक्षा की जाती है—१. भाषाकी परीक्षा : जिसके अन्तर्गत व्याकरणकी शुद्धि, शैलीकी विशेषता और अलङ्करणका औचित्य परखा जाता है। २. काव्यगत भावकी परीक्षा : जिसमें कविकी कल्पना-शक्ति, व्युत्पत्ति, विभिन्न विषयोंका ज्ञान, अपने भावोंको उचित प्रभावके साथ व्यक्त करनेकी शक्ति, मार्मिक स्थलोंके परीक्षण और मानव स्वभावके उचित चित्रणका सामर्थ्य, अपने काव्य-गत वर्णनोंमें कविकी स्वाभाविकता, युक्तियुक्तता, सटीकताका, काव्यमें वर्णित विषयों तथा घटनाओंके अनुपातका परीक्षण और विवेचन किया जाता है। ३. उन सब प्रभावोंका अध्ययन, जिनसे कविको रचना करनेमें प्रेरणा या सहायता मिली हो। इसके अन्तर्गत कविके समयकी राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक या धार्मिक समस्याएँ, कविका दार्शनिक या धार्मिक विश्वास, राजाश्रय, घरेलू परिस्थिति, किसी अन्य व्यक्तिकी प्रेरणा, मानसिक परिस्थिति, तथा ऐतिहासिक आधार आदिका विचार किया जाता है। इन तीन प्रकारके परीक्षणोंके अनन्तर अन्य कवियोंके साथ उस कविकी तुलना करते हुए उसका वर्गीकरण करके यह निर्णय किया जाता है कि उस कविने अपने काव्यके द्वारा मानव-समाजका साधारणतः क्या उपकार किया है, क्या नया सन्देश दिया है तथा विश्व-साहित्यमें उसने कितने नये शब्द, सूक्तियाँ, प्रयोग, विचार, आदर्श तथा नये काव्यरूप दिए हैं।

पाठन-क्रम

कविताका पाठन-क्रम इस प्रकार होना चाहिए—

१. **प्रस्तावना**—यदि केवल पद्य हो तो उसके विषयका परिचय उसी प्रकार दिया जाय जिस प्रकार गद्यके किसी पाठका परिचय दिया जाता है। यदि प्रबन्ध-काव्य अथवा मुक्तक कविता हो तो कविताका सामान्य परिचय, उसकी शैली, उसके धार्मिक, दार्शनिक या अन्य सिद्धान्त, कविताका प्रसंग, उद्देश्य तथा उसकी विशेषताओंका संक्षिप्त परिचय दे देना चाहिए।

२. **विषय-प्रवेश :** परिचयके पश्चात् अध्यापकको लयसहित (राग-सहित नहीं) तथा भावयुक्त वाचन करते हुए एक दिनके पढ़ाने-योग्य पूरी कविता एक साथ पढ़नी चाहिए। वाणीके उतार-चढ़ाव तथा भाव-प्रदर्शन-द्वारा कविता-वाचन ऐसा सजीव हो कि पढ़ते समय ही उसका अर्थ स्पष्ट हो जाय। अध्यापक-द्वारा कविता-वाचनके समय विद्यार्थी अपने अध्यापककी ओर देखें, पुस्तककी ओर नहीं। जब अध्यापक बाँच चुके तब एक या दो सुरीले स्वरवाले विद्यार्थियोंसे कविता अलग-अलग बँचवा लेनी चाहिए और छोटी कक्षाओंमें यथासंभव एक-एक पंक्ति स्वयं पढ़कर पूरी कक्षासे उसकी सस्वर आवृत्ति करा लेनी चाहिए।

पद्य-वाचनके प्रकार

पद्य-वाचनके तीन प्रकार होते हैं—१. केवल छन्दकी गति और यतिका ध्यान रखकर पढ़ना। २. भावानुसार रागका ध्यान रखकर (संगीत-प्रणालीसे) पढ़ना और ३. वाचनके साथ कविताके विभिन्न भाव व्यक्त करते हुए (भावानुसारी) वाचन करके। इनका विवेचन वाचनकी शिक्षाके प्रसंगमें पीछे विस्तारपूर्वक हो चुका है। **कविता-शिक्षणके समय सस्वर वाचन ही कराना चाहिए, मौन वाचन नहीं।** कभी-कभी अत्यन्त सरल कथात्मक पद्योंके लिये मौन वाचनका प्रयोग भी विकल्पसे कराया जाता है किन्तु

संसार भरके सभी शिक्षा-शास्त्रियोंके मतसे नियमतः कविता-शिक्षणमें केवल सस्वर तथा सभाव वाचन ही आवश्यक है।

३. आत्मीकरण : सस्वर वाचन समाप्त होनेके पश्चात् गद्य-शिक्षणके प्रसङ्गमें बताई हुई शिक्षण-विधियोंद्वारा विस्तृत व्याख्या की जाय और समीक्षात्मक प्रश्न करके कविताका भाव छात्रोंसे कहला लिया जाय।

४. समीक्षा : विद्यार्थियोंसे अलग-अलग कविताका भावार्थ कहलाकर सस्वर पाठ कराया जाय और अन्य समभावात्मक पद्योंसे तुलना कराई जाय।

५. प्रयोग : कविताके पाठ-कालमें प्रयुक्त की हुई तथा उदाहरण-स्वरूप दी हुई सूक्तियाँ तथा कविताएँ कंठाग्र करनेके लिये छात्रोंको आदेश दिया जाय, उसी प्रकारकी रचना करनेको कहा जाय, अथवा अन्य कवियोंकी उसी भाव या अर्थकी कविताएँ संग्रह करने तथा उनका तुलनात्मक अध्ययन करनेको कहा जाय।

निम्नाङ्कित मानचित्रोंमें हम कविता-शिक्षणका पूरा विवरण दे रहे हैं जिससे तत्सम्बन्धी सब बातें एक बार देखनेसे ही समझमें आ सकें—

(१)
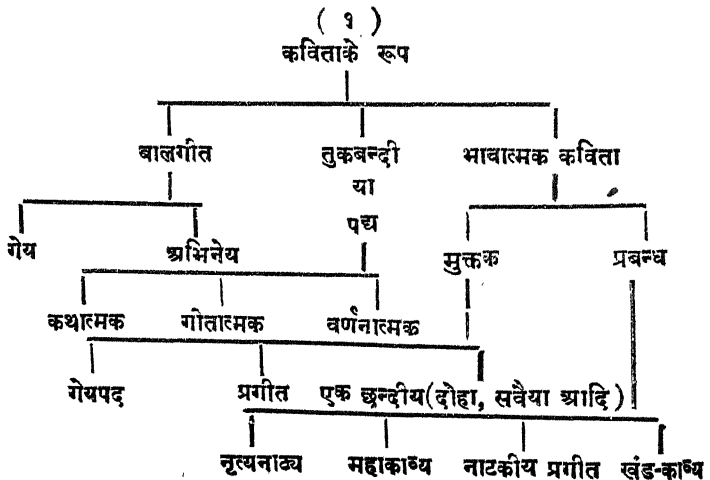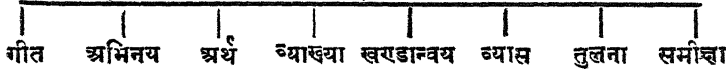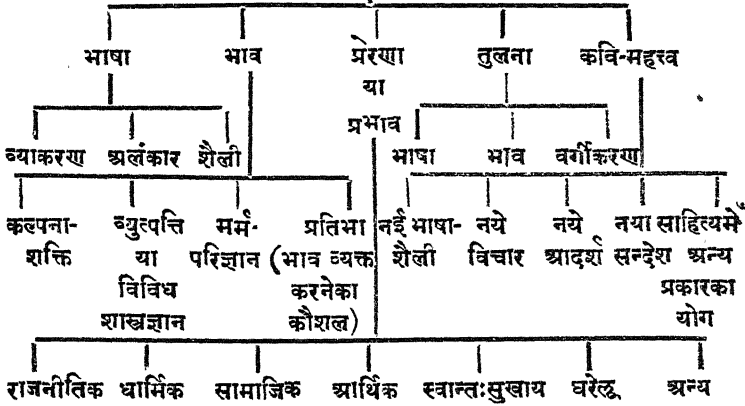
विशेष ज्ञातव्य

पद्य तथा कविताके अध्यापकको निम्नलिखित बातें स्मरण रखनी चाहिएँ—

१. बेसुरे बालकोंसे कविता नहीं पढ़वानी चाहिए और यदि अध्यापक स्वयं बेसुरा हो तो उसे आदर्श पाठ स्वयं न करके सुस्वर बालकोंसे वाचन कराना चाहिए।

२. कविता-शिक्षणके समय श्यामपट्टका प्रयोग यथासम्भव कम करना चाहिए।

३. प्रश्नोत्तर-विधिका यथासम्भव कम प्रयोग हो और जो हो भी वह

काव्यगत भाषा-सौन्दर्य तथा भाव-सौन्दर्यका परिचय कराने अथवा रसमग्न करनेमें सहायक हो।

४. काव्यपाठमें चित्र आदि न दिखाकर कल्पनाको उत्तेजित करना चाहिए।

५. व्याकरणकी झंझट कविता-पाठमें नहीं लानी चाहिए।

६. अन्य सब शिक्षा-विधियोंका प्रयोग उसी प्रकार करना चाहिए जैसे गद्यमें किया जाता है और जिसकी व्याख्या पीछे की जा चुकी है। किन्तु भूलकर भी विषयसे सम्बद्ध चित्र, मानचित्र, प्रतिमूर्त्ति आदिका प्रदर्शन कविता-पाठमें नहीं करना चाहिए अन्यथा कविताका मुख्य उद्देश्य (कल्पना-शक्तिको उद्दीप्त करना) नष्ट हो जाता है।

अन्वय, अर्थ, व्याख्या आदि

प्रायः परीक्षाओंमें कोई कविता या पद्यांश देकर कहा जाता है— 'निम्नांकित पद्य (अवतरण) का प्रसंग-सहित या संदर्भपूर्वक अर्थ लिखो, व्याख्या करो, समीक्षा करो, अन्वय करो, साहित्यिक विवेचन करो, टीका करो' आदि। किन्तु छात्र उसका एक ही भाव जानते हैं— अर्थ लिख देना। किन्तु इन सबका रूप भिन्न है। नीचे तुलसीका एक प्रसिद्ध दोहा दिया जाता है और उपर्युक्त विभिन्न प्रकारोंसे उसका परिचय दिया जाता है—

लता-भवनतें प्रगट भे, तेहि अवसर दोउ भाइ।
निकसे जनु जुग बिमल बिधु, जलद-पटल बिलगाइ॥

अन्वय : तेहि अवसर दोउ भाइ लता भवनतें (इहि भाँति) प्रगट भे जनु जलद पटल बिलगाइ जुग बिमल बिधु निकसे (हों)।

अन्वयार्थ : उस अवसरपर (जब गौरीकी पूजाके लिये सीताजी आईं), वे दोनों भाई (राम और लक्ष्मण) हरी बेलोंसे छाए हुए मंडपसे इस प्रकार प्रकट हुए मानो दो निष्कलङ्क चन्द्रमा बादलका पर्दा हटाकर प्रकट हो गए हों।

अर्थ : जिस समय सीताजी गौरीकी पूजा करने उपवनमें आईं उसी समय दोनों भाई राम और लक्ष्मण लताकुंजमें लटकती हुई लताओंको हटाकर इस प्रकार प्रकट हुए मानो दो निष्कलङ्क चन्द्रमा बादलोंका पर्दा हटाकर एक साथ निकल पड़े हों।

प्रसंग-सहित अर्थ : जिस समय मुनि विश्वामित्रजीकी आज्ञासे राम और लक्ष्मण अपने गुरुजीके लिये फूल संग्रह करनेको जनकजीकी फुलवारीमें पहुँचकर लताकुंजकी ओटमें फूल चुन रहे थे उसी समय पार्वतीजीकी पूजा करनेके लिये जानकीजी भी उसी उपवनके मन्दिरमें आईं। उस समय राम और लक्ष्मण दोनों लताकुंजकी लटकती हुई लताओंको हटाकर उसमेंसे जानकीजीके सामने इस प्रकार प्रकट हुए मानो सुन्दर, स्वच्छ, बिना कलंकवाले दो चन्द्रमा सहसा बादलका पर्दा हटाकर निकल आए हों।

भावार्थ : जिस समय सीताजी अपने उपवनमें अपनी सखियोंके साथ पार्वतीजीके पूजनके लिये पहुँची उसी समय राम और लक्ष्मण भी लताकुंजकी ओटसे लटकती हुई लताओंको हटाकर इस प्रकार सहसा प्रकट होकर सुन्दर लगने लगे जैसे बादलको फाड़कर एकके बदले दो निष्कलंक चन्द्रमा निकलकर खिल उठे हों।

व्याख्या : जिस समय राजा जनकका निमन्त्रण पाकर, राम-लक्ष्मणको साथ लेकर विश्वामित्रजी जनकपुर पहुँचे, तो वहाँ एक दिन प्रातःकाल विश्वामित्रजीकी आज्ञासे राम और लक्ष्मण दोनों उनके पूजनके लिये फूल लेने जनकजीकी फुलवारीमें चले गए। उसी समय संयोगसे सीताजी भी उस उपवनमें मन्दिरमें गिरिजाका पूजन करनेके लिये आई हुई थीं। किन्तु राम और सीताजीके बीचमें एक लता-मंडप पड़ता था जिसपर छाई हुई लताएँ नीचे-तक लटककर ऐसी परदेके समान बन गई थीं कि जबतक उन लताओंको हटाकर ही कोई दूसरी ओर न जाय तबतक उसके आर-पार कुछ नहीं दिखाई पड़ता था। उस उपवनमें जानेका मार्ग भी वही लता-मंडप था इसलिये एक ओरसे जब सीताजी अपनी

सखियोंके साथ चली आ रही थीं उसी समय दूसरी ओरसे लता-मंडपपर छाई हुई लताओंको हटाकर रामचन्द्रजी और लक्ष्मण दूसरी ओर निकल आए। रामचन्द्रजीने दाहिने हाथसे और लक्ष्मणने बाएँ हाथसे जब लताएँ हटाईं और वे लतामंडपसे निकल आए तो ऐसा जान पड़ा मानो दो चन्द्रमाओंने अपने आगे छाए हुए बादलको हाथसे हटा दिया हो और बाहर निकलकर इस प्रकार चमकने लगे हों मानो बादलोंके आगे दो चन्द्रमा निकल आए हों। इस दोहेमें कविने उत्प्रेक्षा अलंकारसे बड़ा चमत्कार उत्पन्न कर दिया है। चमत्कार यह है कि चन्द्रमा तबतक नहीं निकलता जबतक बादल उसके आगेसे हट न जाय और पीछे खुला आकाश न दिखाई पड़ने लगे। किन्तु यहाँ कई विलक्षण बातें हैं। यहाँ एकके बदले दो-दो चन्द्रमा निकल आए हैं। पृथ्वीपर केवल एक ही चन्द्रमा है और वह भी सकलंक है। यद्यपि अन्य ग्रहोंमें से मंगलपर २, बृहस्पतिपर ६, शनिपर ६ और यूरेनसपर ४ चन्द्रमा हैं किन्तु पृथ्वीपर तो एक ही चन्द्रमा है। यदि मंगलपर दो चन्द्रमा निकलनेकी बात कही गई हो तो उसमें कोई चमत्कार न होता। किन्तु चमत्कार यह है कि पृथ्वीपर एक साथ एकके बदले दो-दो चन्द्रमा निकल आए हैं। वे चन्द्रमा भी ऐसे निराले कि उनपर कलंक नहीं और ऐसे प्रतापी कि बादलको हटाकर निकले और निकलकर बादलोंसे आगे बढ़ आए। चित्र-विज्ञानके अनुसार श्वेत या उजलेके पीछे जितनी अधिक कालिमा होगी उतना ही अधिक श्वेत या उजला रंग चमकेगा। अतः लतामंडपकी लताओंको हटाकर ज्यों ही राम और लक्ष्मणने छोड़ा कि वे उनके पीछे गहरे नीले बादलके समान गहरे नीले रंगकी चादर बनकर ऐसी लटक गईं कि आगे राम और लक्ष्मणका सुन्दर रूप और भी सुन्दर बनकर निखर आया। गोस्वामीजीके कहनेका यही तात्पर्य है कि लताभवनसे निकलकर ज्यों ही राम और लक्ष्मण आगे खड़े हुए त्यों ही वे लतामंडपकी लताओंकी नीलिमा और गहन हरीतिमाके आगे और भी अधिक सुन्दर लगने लगे।

टीका

टीकामें शब्दार्थ, भावार्थ, विशेषार्थ या व्याख्या, विशेष चमत्कार, अलंकार, तुलना सब कुछ आ जाता है।

शब्दार्थ : लता = बेल। लताभवन = लतामंडप, बाँसकी खपाचियोंसे घरके समान बनाया हुआ वह ढाँचा जिसपर लताएँ चढ़ा दी जाती हैं और जिसमें राजा या धनी लोग गर्मीमें दोपहर बिताते हैं। इसे लतामंडप भी कहते हैं। प्रगट = प्रकट, दिखाई पड़ना। भे = अवधीमें 'हुए'का पर्याय। तेहि अवसर = उस अवसरपर, उस समय जब सीताजी गिरिजापूजनके लिये वहाँ आई थीं। दोउ = दोनों। भाई = भ्राता। दोउ भाई = राम और लक्ष्मण। निकसे = निकले। जनु = मानो। जुग = युग, दो। बिधु = विधु, चन्द्रमा। जलद = जल + द = जल देनेवाला, बादल। पटल = चादर, परदा, आड़। बिलगाय = अलग करके, हटाकर।

अर्थ : जैसा ऊपर दिया गया है।

भावार्थ : जैसा ऊपर दिया है।

विशेषार्थ : जैसा व्याख्यामें है।

अलंकार : इस दोहेमें उत्प्रेक्षा अलंकार है। कविने एकके बदले दो-दो निष्कलंक चन्द्रमाओंकी कल्पना की है।

विशेष चमत्कार : इस दोहेमें राम और लक्ष्मणको दो चन्द्रमा माना है। रामका रंग नीलांबुजश्याम (नीले कमलके समान साँवला) या दूर्वादलश्याम (दूबके पत्तेके रंगके समान साँवला) और लक्ष्मणका रंग गोरा कहा गया है। जिस समय सीताजी अपने उपवनमें गिरिजाका पूजन करने गईं उस समय उनकी एक सखी उधर निकल गई जिधर राम-लक्ष्मण अपने गुरुजीके लिये सुमन-संग्रह कर रहे थे। उन्हें देखकर इन दोनों भाइयोंकी शोभाका वर्णन करते हुए उस सखीने कहा—

स्याम-गौर किमि कहउँ बखानी। गिरा अनयन नयन बिनु बानी॥

ऐसी स्थितिमेँ केवल लक्ष्मण ही सुन्दर दिखाई देने चाहिएँ थे क्योँकि रामका साँवला रंग तो लताके रंगमेँ मिलकर छिप जाना चाहिए था । किन्तु गोस्वामीजीने यही चमत्कार दिखाया है कि दूर्वादल, नीलकमल और नवघनके समान श्यामल होनेपर भी उनके सांवले रंगमेँ इतना तेज था कि लताभवनकी लताओँके आगे खड़े होकर भी वे उससे भिन्न प्रकाशमान, दीप्तिमान प्रतीत हो रहे थे। प्रश्न यह है कि यदि वे इतने तेजस्वी थे तो तुलसीदासजीने उनकी उपमा सूर्यसे क्योँ नहीँ दी ? इसलिये कि सूर्यसे आँखेँ चौँधिया जाती हैँ, वह देखनेमेँ सुखद नहीँ होता। इसलिये रहीमने कहा है—

रहिमन राज सराहिए, ससि-सम सुखद जु होय ।
कहा बापुरो भानु है, तप्यौ तरैयनु खोय ।।

स्वयं गोस्वामीजीने भी कहा है—

सन्त-उदय सन्तत सुखकारी ।
बिस्व सुखद जिमि इन्दु तमारी ।।

राम तो, उस तमारि चन्द्रमाके समान उदित हुए जो आँखोँको भी अच्छे लगेँ और अन्धकार भी दूर कर देँ। इस साँवले रंगका विचित्र चमत्कार है कि वह साँवला होता हुआ भी चन्द्रमाके समान सुखद और अन्धकार दूर करनेवाला है। यदि न विश्वास हो तो बिहारीका दोहा देखिए—

या अनुरागी चित्तकी, गति समुझै नहिँ कोय ।
ज्योँ ज्योँ बूड़ै स्यामरंग, त्यौँ त्यौँ उज्वल होय ।।

जिस श्याम रंगमेँ डूबनेवाला उज्वल हो जाता है वह रंग स्वयं कितना उज्ज्वल होगा। उस साँवलेपनमेँ भी कुछ विचित्रगोरापन और उजलापन है। किन्तु उसे देख वही पाता है जो उसे हृदयकी आँखोँसे देखे। फिर तो साँवलापन लुप्त हो जाता है और अखंड प्रकाश ही

प्रकाश रह जाता है, जिसका साक्षात् दर्शन सीताजीने और उस सखीने किया था जो उनका साथ छोड़कर फुलवारी देखने चली गई थी—

एक सखी सिय संग बिहाई।
गई रही देखन फुलवाई॥

और जब वहाँसे लौटी तो सब सुध-बुध भूलकर, क्योंकि उसे साक्षात् परम ज्योतिके दर्शन हो गए थे। इसीलिये गोस्वामीजीने उन्हें चन्द्र कहा है।

हमें जो चन्द्रमा दिखाई पड़ता है वह गोल है, उसमें कलंक है। उसके हाथ-पैर नहीं हैं। किन्तु गोस्वामीने जो दो चन्द्रमा लताभवनसे प्रकट कराए हैं उनकी यह भी विशेषता है कि बादल उनपर तभीतक छाए रह सकते हैं जबतक वे चाहें, और जब उनकी इच्छा प्रकट होनेकी हो तब वे झट अपने हाथसे बादल अलग करके प्रकट हो जायँ और बादल भी लताओंके समान दोनों ओर हट-बढ़कर पीछे पड़ जायँ।

आध्यात्मिक व्याख्या : राम साक्षात् परात्पर ब्रह्म हैं। उन्हींकी मायासे यह सृष्टि उत्पन्न होती है, उसका पोषण होता है और लय होता है। यह माया जबतक जीवपर व्याप्त रहती है तबतक ब्रह्मका दर्शन नहीं होता। उस ब्रह्मका साक्षात्कार तभी हो सकता है जब जीव स्वयं ज्ञान प्राप्त कर ले या तब हो सकता है जब स्वयं भगवान् अपने इष्ट-पर कृपा कर दें और स्वयं अज्ञानका, मोहका, मायाका आवरण हटाकर स्वयं प्रकट हो जायँ। सीताजी रामकी पराशक्ति हैं। माया-स्वरूपिणी हैं। उस रामका रूप उन्हें सखियोंने लताकी ओटसे दिखा दिया। देखते ही वे योगस्थ और तन्मय हो गईं—

लोचन-मग रामहिँ उर आनी।
दीन्हे पलक कपाट सयानी॥

इसी एकात्मताके समय मायाका पट दूर हो गया। स्वयं ब्रह्म राम अपने भक्तके पास उन्हें स्वीकार करनेके लिये मायापट हटाकर प्रकट हो गए। जीव और ब्रह्मका मिलन हो गया।

बिन्दुमें सिन्धु समान, यह अचरज कासों कहौं।
हेरनिहार हेरान, रहिमन आपुहि आपुमैं।

[बूँदमें समुद्र समा गया। ढूँढ़नेवाला स्वयं अपनेमें खो गया।]
तभी तो स्वयं पार्वतीजीने उनका समर्थन किया—

मन जाहि राँच्यो मिलहि सो बर सहज सुन्दर साँवरो।

और इसीलिये गोस्वामी तुलसीदासजीने लताभवनसे इन दो चन्द्रमाओंको उदय कराकर एक भव्य आध्यात्मिक सौन्दर्यका विलक्षण दृश्य उपस्थित कर दिया।

यह उपर्युक्त विशेष चमत्कार तथा व्याख्या मिलकर साहित्यिक समीक्षा या साहित्यिक व्याख्या कहलाती है।

१७

अलंकार, पिङ्गल तथा रस

कविताकी शोभा

शब्दमें अपरिमित और निःसीम शक्ति होती है। हमारे आचार्योंने इस शक्तिके धर्मपर ध्यान देकर इसके दो विभाग किए हैं— १. अभिधा, २. लक्षणा। एक ईश्वर-प्रदत्त अथवा स्वाभाविक है तो दूसरी मनुष्य-द्वारा औपचारिक रूपसे उद्भावित। एकसे हमारी कुछ कह लेने, कुछ सुन लेनेकी आकांक्षाकी पूर्ति होती है तो दूसरीसे हमारी सौन्दर्य-वृत्तिकी तृप्ति। हम कह लेने और सुन लेने मात्रसे सन्तुष्ट नहीं होते। हम किसी विशेष ढंगसे कहना भी चाहते हैं और सुनना भी। उद्देश्य वही हृदयकी सौन्दर्योन्मुखी वृत्तियोंका संतोष है। पर इन दोनों शब्द-शक्तियोंके साथ-साथ एक और सुकुमार वृत्ति चलती रहती है जो हमारे उद्देश्यको कुछ और सूक्ष्मतासे प्रकट करती है। इसे व्यञ्जना शक्ति कहते हैं। व्यञ्जनाका सूक्ष्म, सुकुमार संकेत कभी अभिधासे प्राप्त हो जाता है और कभी लक्षणासे। कभी सीधी-सादी बातें हृदयपर मार्मिक प्रभाव डालनेमें समर्थ होती हैं और कभी वक्रतापूर्ण उक्तियाँ। इसीका सहारा लेकर मनुष्य-हृदयने अनेक उक्तियाँ निकालीं, निकालता रहता है और निकालता रहेगा।

अलंकार

इन्हीं में से कुछको रीतिकारोंने अलङ्कार कह लिया है पर इन गिने-गिनाए अलङ्कारोंके बाहर भी चमत्कार सम्भव है और सहृदय कवियोंके

वाणीमें वह हमें स्थान-स्थानपर प्राप्त होता ही रहता है। इस आलंकारिक चमत्कारका आधार है वही लक्षणा या व्यञ्जना। रीति-ग्रन्थोंमें वर्णित सभी अलंकारोंकी भित्ति ये शब्द-शक्तियाँ ही हैं। विदग्धतासे अपनी बात कहनेके लिये तथा अपने भावोंको चामत्कारिक रीतिसे व्यक्त करनेके लिये मनुष्य जिन सुकुमार साधनोंका आश्रय ग्रहण करता है उन्हींको अलंकार कहते हैं। विदग्धतासे कही गई कोई भी बात अलंकार कहला सकती है। 'अलंकार' का शाब्दिक अर्थ है 'भूषण'। 'अलंक्रियतेऽनेन', जिस वस्तुसे शोभा बढ़ाई जाय उसीको अलंकार कहते हैं। अलंकार गद्यमें भी हो सकता है और पद्यमें भी।

अलंकार कैसे पढ़ाए जायँ ?

अलंकार पढ़ानेवाले अध्यापकका धर्म है कि वह विद्यार्थियोंको अलंकारोंके नाम, उनके भेदोपभेद और उनका परिभाषा कभी न रटावे। ऐसा करनेसे उसमें विद्यार्थीकी अरुचि हो जाती है। विद्यामन्दिरमें अरुचिका प्रवेश निषिद्ध है। कविता पढ़ाते समय जहाँ प्रधान अलंकार आवें वहीं उनका परिचय कराकर बता दिया जाय कि इस अलंकारके प्रयोगसे भावके उद्दीपन या स्पष्टीकरणमें कविने क्या सफलता पाई है। अलंकारका इतना ही ज्ञान विद्यार्थियोंके लिये पर्याप्त है। हाँ, ऊँची कक्षाओंमें अलङ्कारोंका विस्तृत ज्ञान अवश्य अपेक्षित है क्योंकि अलङ्कारका पूर्ण ज्ञान प्राप्त किए बिना काव्योंका बहुत-सा अंश समझा नहीं जा सकता।

पिङ्गल

जिस प्रकार कविताका प्राण भाव है और अलङ्कार उसकी शोभा बढ़ानेवाली भूषा है, उसी प्रकार छन्द उसका शरीर है। जिस प्रकार शरीर और प्राण अन्योन्याश्रित हैं, उसी प्रकार छन्द और भाव भी। जिस प्रकार शरीर नष्ट हो जानेपर प्राण निकल जाता है और प्राण निकल जानेपर शरीर नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार उपयुक्त छन्दमें ढले

बिना, भाव भी वाञ्छित प्रभाव उत्पन्न करनेमें असमर्थ हो जाते हैं तथा सुन्दर भावके अभावमें छन्द शिथिल पड़ जाता है। तात्पर्य यह है कि काव्य-कलामें छन्दका भी प्रमुख स्थान है और कविता पढ़ाते समय उसकी शिक्षा भी अवश्य देनी चाहिए। परन्तु हमारे यहाँ इन दिनों जैसे अन्य विषयोंकी शिक्षामें शीघ्रता और असावधानीसे काम चलता कर दिया जाता है वैसे ही छन्दकी शिक्षामें भी।

पिङ्गलकी शिक्षाका उद्देश्य

हमारे अध्यापक छन्दका नाम और उसका लक्षण बताकर ही अपने पिङ्गल-शिक्षणके कर्त्तव्यकी इतिश्री और अपनी विद्वत्ताकी पराकाष्ठा मानने लगते हैं। पर विद्यार्थीको छन्दका नाम और उसके लक्षण जानकर ही न तो सन्तोष होता और न छन्दोंकी ओर उसकी रुचि ही बढ़ती। वह उसे केवल रटनेकी वस्तु समझकर उससे भड़कने लगता है, छन्दोंका अध्ययन उसे भार-स्वरूप ज्ञात होने लगता है। पर यदि विद्यार्थीको सहृदयतापूर्वक छन्दोंकी विशेषताएँ बतलाई जायँ तो वह स्वतः छन्दःशास्त्रका अधिकाधिक ज्ञान प्राप्त करनेका प्रयत्न करके उन छन्दोंमें रचना भी करने लगेगा। छन्दःशास्त्र पढ़ानेका उद्देश्य ही यह है कि छात्र केवल छन्दकी पहचान मात्र ही न कर सकें वरन् स्वयं उस छन्दमें रचना भी कर सकें। इसलिये जब अध्यापक एक छन्दके रूपका परिचय दे तो छात्रोंसे उस छन्दमें रचना भी करावे और यह भी बतलावे कि किस छन्दका प्रयोग किस भावकी अभिव्यक्तिके लिये उपयुक्त है, क्योंकि छन्दोंका स्वरूप तथा उनके लक्षण बतलानेके साथ-साथ पिङ्गल हमें यह भी बतलाता है कि किस प्रकारके भावकी अभिव्यक्ति किस छन्दमें अधिक प्रभावोत्पादिनी होती है।

गणोंका स्वरूप और प्रभाव

पिङ्गलमें जहाँ गणोंकी गिनती गिनाई गई है वहींपर प्रत्येक गणका स्वरूप और उसका प्रभाव भी स्पष्ट कर दिया गया है। जैसे—

मो भूमिः श्रियमातनोति यजलं वृद्धिं रचाग्निर्मृतिं ।
सो वायुः परदेश-दूरगमनं तव्योम शून्यं फलम् ॥
जः सूर्य्यो रुजमाददाति विपुलं भेन्दुर्यशो निर्मलम् ।
नो नाकश्च सुखप्रदः फलमिदं प्राहुर्गणानां बुधाः ॥

[मगणका देवता भूमि और फल लक्ष्मी-लाभ, यगणका देवता जल और फल कुल-वृद्धि तथा प्रारब्धोदय, रगणका देवता अग्नि और फल मृत्यु, सगणका देवता वायु और फल विदेशगमन, तगणका देवता आकाश और फल निष्फलता, जगणका देवता सूर्य्य और फल अत्यन्त रोग, भगणका देवता चन्द्र और फल कीर्त्ति-लाभ तथा नगणका देवता स्वर्ग और फल सुख है।]

इस फलको सम्भवतः कुछ लोग अन्ध-विश्वास समझते हैं। किन्तु गणके देवताकी कल्पनासे ही छन्दका स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। 'मगण' को ही लीजिए। मगणके तीनों वर्ण गुरु होते हैं। उनका स्वरूप 'मातारा' (SSS) स्थिरताका द्योतक है। 'मातारा मातारा' का उच्चारण करनेसे ही एक प्रकारकी गम्भीरता और स्थिरताका अनुभव होता है। अतः इससे यही प्रभाव भी उत्पन्न होता है। पृथ्वीका प्रधान गुण क्षमा है। अतः पिङ्गल मुनिने इस मगणके देवताका नाम पृथ्वी रक्खा क्योंकि इससे गुरुत्व और क्षमाका भाव प्रकट होता है। पृथ्वी वसुन्धरा है इसलिये इसका फल भी लक्ष्मी-लाभ या धन-प्राप्ति ही है। यगण (ISS) का देवता जल कहा गया है क्योंकि इस गणका उच्चारण करनेसे ऐसा प्रतीत होता है जैसे तरंगें उठ-उठकर गिर रही हों। 'यमाता यमाता' दो-चार बार कहनेसे ही इसका अनुभव हो सकता है। यदि विद्यार्थियोंको इन विशेषताओंका परिचय प्राप्त हो जाय तो उनकी वृत्ति अपने आप छन्दःशास्त्रके अध्ययनकी ओर उन्मुख हो जाय।

भावके अनुकूल छन्द

भाव-विशेषके अनुकूल छन्दोंका परिचय कराते हुए विद्यार्थियोंको यह

बतलाना चाहिए कि कवित्त और घनाक्षरी छन्दोंमें वीर रसकी कविता खिलती है, शृंगार और करुण रसकी कविताके लिये सवैया उपयुक्त छन्द है, रौद्र, भयानक और अद्भुत रसके लिये छप्पय सबसे अधिक उपयुक्त है। हमारे पुराने कवि इस बातका बहुत ध्यान रखते थे। संस्कृतका वैतालीय छन्द करुण रसकी अभिव्यक्तिके लिये परम उपयुक्त माना गया है। इसीलिये महाकवि कालिदासने विलापके प्रसंगोंमें सदा इसीका प्रयोग किया है। रघुवंशमें इन्दुमतीकी मृत्युपर अजका तथा कुमारसम्भवमें कामदेवके भस्म होनेपर रतिका विलाप इसी छन्दमें है। काव्यमें रस-सिद्धिके लिये केवल शब्द-योजना ही पर्याप्त नहीं है, उसके लिये छन्दोयोजना भी उतनी ही अपेक्षित है। महाकवि क्षेमेन्द्रने अपने सुवृत्त-तिलकमें कहा है कि—'काव्यमें रस तथा वर्णनीय वस्तुके अनुसार छन्दोयोजना ठीक समझकर छन्दोंका विनियोग करना चाहिए।' उस ग्रन्थमें छन्दो-योजनाके नियम लिखते हुए वे कहते हैं—

"सर्गका आरम्भ करने, कथाके विस्तारका वर्णन करने, उपदेश देने और कोई समाचार या वृत्तान्त कहनेके लिये अनुष्टुप्‌का प्रयोग ठीक होता है। शृंगार, शृंगारके आलम्बन और श्रेष्ठ नायिकाके रूप-वर्णन, वसन्त आदि शृंगारके उद्दीपन तथा उससे सम्बद्ध भावों और अनुभावोंके वर्णनके लिये उपजाति छन्दका प्रयोग उचित होता है। विभाव (आलम्बन और उद्दीपन), चन्द्रोदय आदि सुन्दर दृश्य, राजनीति तथा धर्म नीतिका वर्णन वंशस्थ छन्दमें करना चाहिए। वीर और रौद्रका जहाँ मेल हो वहाँ वसन्ततिलका छन्द अच्छा लगता है। गतिशील चालवाली मालिनीमें सर्गका अन्त करना चाहिए। विशेष विवेचन तथा विभाजन आदिके प्रसगमें शिखरिणीका तथा उदारता, सुन्दरता तथा औचित्य आदिके विचारमें हरिणी छन्दका प्रयोग सुशोभन होता है। आक्षेप, क्रोध, धिक्कार, वर्षा, विदेश-गमन तथा दुर्घटना आदिके वर्णनमें मन्दाक्रान्ता छन्द शोभा देता है। वीरता तथा राजाओंकी स्तुतिके वर्णनमें शार्दूल-विक्रीडितका और वेगसे बहनेवाले

पवन या नदियोँके वर्णनमेँ स्रग्धराका प्रयोग ही समीचीन होता है। मुक्तक सूक्तियोँके लिये दोधक, तोटक, और नर्कुट छन्दोँका प्रयोग किया जाना चाहिए। शेष रसोँमें तथा अन्य नीरस विषयोँमें छन्दके प्रयोगका कोई नियम नहीँ है।"

महाकवि कालिदासने अपने काव्योँमेँ रसोँ, भावोँ तथा वर्णनोँके लिये निम्नलिखित छन्दोँका प्रयोग किया है—

छन्द	विषय, भाव या रस
१. उपजाति	: वंशवर्णन, तपस्या तथा नायक-नायिकाका सौन्दर्य।
२. अनुष्टुप्	: लम्बी कथाको संक्षिप्त करने तथा उपदेश देनेमेँ।
३. वंशस्थ	: वीरताके प्रकरणमेँ; चाहे युद्ध हो या युद्धकी तैयारी हो रही हो।
४. वैतालीय	: करुण रसमेँ।
५. द्रुतविलंबित	: समृद्धिके वर्णनमेँ।
६. रथोद्धता	: जिस कर्मका परिणाम खेदके रूपमेँ हो, चाहे वह खेद रति-जनित हो, दुष्कर्म-जनित हो या पश्चात्ताप-जनित हो। अतएव कामक्रीडा, आखेट आदिका वर्णन इसी छन्दमेँ है।
७. मन्दाक्रान्ता	: प्रवास, विपत्ति तथा वर्षाके वर्णनमेँ।
८. मालिनी	: सफलताके साथ पूर्ण होनेवाले सर्गके अन्तमेँ।
९. प्रहर्षिणी	: हर्षके साथ पूर्ण होनेवाले सर्गके अन्तमेँ। यदि मध्यमेँ भी कहीँ इसका प्रयोग है तो वहाँ भी दुःखकी धारामेँ हर्ष या हर्षकी धारामेँ हर्षातिरेक ही वर्णित है।
१०. हरिणी	: नायकके अभ्युत्थान या सौभाग्यका वर्णन हो।
११. वसंततिलका	: कार्यकी सफलतापर, जहाँ ऋतु-वर्णनमेँ पुरुषोँकी सफलता तभी सिद्ध हो सकी है जब उसका उपभोक्ता उन वस्तुओँका उपभोग कर रहा हो।

इसी प्रकार सफलता, प्रस्थान या प्राप्तिके वर्णनमें अन्वर्थनाम पुष्पिताग्रा, निराशाके साथ निवृत्तिमें त्रोटक, कृतकृत्यतामें शालिनी, वृथा वीरता-प्रदर्शनमें औपच्छन्दसिक, क्रीडा (काम-क्रीडा या अन्य क्रीडा) के वर्णनमें रथोद्धता, संयोगसे स्वयंप्राप्त विपत्ति या सम्पत्तिमें स्वागता, घबराहटमें मत्तमयूर, प्रपञ्चोंका परित्याग करनेमें नाराच तथा वीरता आदिके वर्णनमें शार्दूल-विक्रीडितका प्रयोग किया गया है।

हिन्दीके वर्त्तमान कवियोंमें पंडित अयोध्यासिंहजी उपाध्याय 'हरिऔध'ने ही इस ओर विशेष ध्यान दिया और अपने 'प्रियप्रवास'की रचनामें उन्होंने भावानुकूल छन्दोंकी योजना की। उन्होंने 'दिवसका अवसान' दिखाते हुए द्रुत-विलम्बित छन्दका प्रयोग किया जिसकी प्रत्येक पंक्तिकी गति मात्रसे प्रतीत होता है मानो दिन धीरे-धीरे डूब रहा है। देखिए—

> दिवसका अवसान समीप था।
> गगन था कुछ लोहित हो चला।
> तरुशिखापर थी अब राजती।
> कमलिनी-कुल-वल्लभकी प्रभा।

शब्दोंकी ध्वनिसे रसानुभूति करानेका उद्योग वीरगाथाओंमें तो बराबर होता रहा परन्तु छन्दकी गतिसे भाव या रसका परिचय देनेका प्रयास बहुत कम हुआ है क्योंकि बहुतसे कवियोंकी संभवतः यही धारणा है कि किसी भी छन्दमें किसी प्रकारकी रचना करनेसे कविता बन जायगी। अतः अध्यापकको कविता पढ़ानेके साथ ही छन्दकी गतिका परिचय देकर बतलाते चलना चाहिए कि अमुक छन्द अमुक स्थानपर काव्य-रसकी अनुभूतिमें बाधक है या साधक। केवल मात्रिक या वर्णिक बताकर अथवा छन्दका लक्षणमात्र बताकर ही कर्त्तव्यकी इतिश्री नहीं समझ लेनी चाहिए।

रसकी शिक्षा

प्रायः विद्यार्थियोंसे यह असंगत प्रश्न पूछा जाता है कि 'अमुक

पद्यमें कौनसा रस है ?' पद्यमें कभी कोई रस नहीं होता। रस तो होता है दर्शक या श्रोता पुरुष तथा स्त्रीके हृदयमें। पद्यमें तो किसी विशेष रसकी उत्पत्तिकी कथा या उसकी परिस्थितिका वर्णन मात्र होता है। अतः ऐसे प्रश्न नहीं पूछे जाने चाहिएँ जो स्वतः भ्रमात्मक हों।

भारतीय काव्यशास्त्रके आचार्योंने काव्यानन्दको परमानन्दका सहोदर माना है और उस आनन्दका आधार है रस। नाटकके दर्शक या पाठकके हृदयमें यह रस कैसे तथा कब उत्पन्न होता है इसका अत्यन्त सूक्ष्म विवेचन करते हुए आचार्योंने नायक तथा नायिकाओंके भेदोंका अत्यन्त विशद विश्लेषण किया है। परिणाम यह हुआ कि हिन्दीके रीतिकालके कवियोंने अधिकतर रचनाएँ किसी विशेष नायक या नायिकाकी किसी विशेष अवस्थाको लक्ष्य करके की हैं। हाइ स्कूलके विद्यार्थीसे ऐसी कविताएँ दूर रखनी चाहिएँ। वीरताका भाव जगानेवाली, आश्चर्यमें डालनेवाली तथा हँसी उत्पन्न करनेवाली कविताओंमें कविने किस रसकी अवतारणा करनेकी सामग्री प्रस्तुत की है इसका स्पष्ट परिचय देना चाहिए अर्थात् उसके स्थायी भाव, विभाव (आलम्बन-उद्दीपन), अनुभाव तथा संचारी भावका ज्ञान करा देना चाहिए। किन्तु आलम्बन क्या होता है ? अनुभावके क्या लक्षण हैं ? यह सब बतानेकी कोई आवश्यकता नहीं है। ऊँची कक्षाओंमें जहाँ रसका सांगोपांग अध्ययन अभीष्ट हो वहाँ विस्तारके साथ विशिष्ट रसका परिचय देनेवाली कविताकी व्याख्या कराई जा सकती है।

१८

काव्यमें रुचि उत्पन्न करनेके अन्य साधन

कविता-पाठके उत्सव

कविताकी परिभाषा बतलाते हुए यह कहा जा चुका है कि ललित कला होनेके कारण कविता हमारा मनोरञ्जन करनेके साथ-साथ हमारे मनोभावोंका परिष्कार भी करती है। वास्तविक शिक्षाका उद्देश्य भी सचमुच यही है। केवल लिखना-पढ़ना सिखा देनेसे ही शिक्षाका महान् उद्देश्य पूरा नहीं होता। उस शिक्षासे क्या लाभ जो हमारी उदात्त वृत्तियोंको उत्तेजन और प्रोत्साहन न दे सके, जिससे मानवकी मानवता सजग न हो, आदमीमें आदमीयत न आवे। परिश्रम करनेपर तो कुत्ते और तोते भी पढ़ना सीख लेते हैं पर--

> **आदमीयत और शै है, इल्म है कुछ और चीज़।**
> **लाख तोतेको पढ़ाया फिर भी हैवाँ ही रहा॥**

संस्कृतके भी एक कविने कहा है—

> **शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खाः।**
> **यस्तु क्रियावान् पुरुषः स विद्वान्॥**

[शास्त्र पढ़कर भी लोग मूर्ख रह जाते हैं। वास्तविक विद्वान् वही है जो शास्त्रका व्यवहार भी कर सके।]

शिक्षाका महान् उद्देश्य मनुष्यको मनुष्य बनाना भी है। यही कविताका भी उद्देश्य है।

काव्यका प्रभाव

सुन्दर कविताका पारायण मनको प्रसन्न कर देता है। अवसरके अनुकूल कविताका उद्धरण जादूका काम करता पाया गया है। काव्य-रसमें ही यह शक्ति होती है कि बड़े-बड़े पाषाण-हृदयोंको भी वह क्षण भरमें गला दे। दुर्धर्ष ईरानी दस्यु नादिरशाह जिस समय दिल्लीमें रक्तकी होली खेल रहा था उस समय कविता ही उसे उस भयंकर कुकृत्यसे विरत कर सकी थी। मुहम्मदशाह रँगीलेके वज़ीरने उस पत्थरको एक शैर सुनाकर पानी कर दिया—

कसे न माँद कि दीगर बतेग़े नाज़ कुशी।
मगर कि ज़िन्दा कुनी ख़लकरा व बाज़ कुशी॥

[तेरी चितवनकी तलवारसे कोई अब जीता नहीं बच रह गया है इसलिये अब तू इन मृतकोंको फिरसे जिला-जिलाकर मारने लग।]

वृन्द और रहीमकी पद्यात्मक सूक्तियोंमें जीवनके गम्भीर तत्त्व, मार्मिक अनुभूतियाँ आकंठ भरी पड़ी हैं। उनका अवसरोचित प्रयोग लोगोंकी दृष्टिमें प्रयोक्ताको कुछ ऊँचा उठा देता है। दृष्टान्त रूपसे उद्धृत होकर निरर्थकसे निरर्थक वक्तव्यको भी उपयुक्त पद्य सशक्त कर देते हैं। शिक्षित और अशिक्षित दोनोंपर उनका समान प्रभाव पड़ता है। कविताका आश्रय लिए बिना सभाचातुर्य्य आ ही नहीं सकता। व्यावहारिक जीवनमें भी प्रत्युपन्न-मतित्वका स्थान बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। कविताका अध्ययन और अभ्यास इस क्षेत्रमें विशेष सहायता करता है। अशिक्षित लोग भी कविता, पद्य, सूक्ति, दृष्टान्त आदि रटकर समाजमें अच्छा सम्मानपूर्ण स्थान बना लेते हैं। उनके द्वारा लोगोंका मनोरञ्जन होता है और लोगों-द्वारा उनका अनुरंजन। इसलिये विद्यार्थियोंको कविता पर्याप्त मात्रामें कण्ठस्थ करा देनी चाहिए।

कवितामें रुचि उत्पन्न करनेके साधन

कवितामें रुचि उत्पन्न करने और अभ्यास करानेके अनेक साधन

हैं जिनमेंसे निम्नलिखितका विवेचन यहाँ किया जा रहा है—

कवितापाठ, अन्त्याक्षरी - प्रतियोगिता, सुभाषित - प्रतियोगिता, समस्यापूर्त्ति, कवि-सम्मेलन, कवि-समादर, कवि-दरबार, काव्य-गोष्ठी, कवि-जयन्ती तथा काव्य-गान।

कविता-पाठ

काव्यमें रुचि उत्पन्न करनेका सर्वश्रेष्ठ सुन्दर साधन सस्वर कविता-पाठ है। इससे पढ़ने और सुननेवाले दोनोंका मन प्रफुल्लित होता है, उतने समयके लिये किसी प्रकारकी चिन्ता पास नहीं फटकती। प्राचीन समयसे लेकर कुछ दिन पहले-तक कवि-समाजमें पढ़ंत और गढ़ंत दो प्रकारके कविता-पाठकी प्रथाएँ प्रचलित थीं। पढ़ंतमें कविगण प्राचीन कवियोंकी कविताओंका भावपूर्ण पाठ किया करते और गढ़ंतमें स्वरचित कविताओंका। पढ़ंत काव्य-पाठमें जब किसी रस-विशेषकी कविता चलने लगती थी तब उसकी धारा शीघ्र नहीं टूटती थी। सहृदय समाज उसमें डुबकियाँ लगाता और तृप्त होता चलता था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्रके समकालीन गोपालमन्दिरके अध्यक्ष गोस्वामी जीवनलालजी महाराज महीनेमें प्रायः दो बार ऐसे समाजोंका आयोजन किया करते थे, जिनमें भरतपुर-नरेश-जैसे सम्भ्रान्त पुरुष और लछिराम तथा बेनी-जैसे प्रौढ कवि भी सम्मिलित हुआ करते थे। परन्तु आधुनिक कविसम्मेलनोंने कई अच्छी बातोंके साथ-साथ पढ़ंत प्रथाका भी बहिष्कार कर दिया है। उसका दुष्परिणाम यह हुआ है कि बाबा तुलसीदासके अनुसार—

निज कबित्त केही लाग न नीका। सरस होय अथवा अति फीका॥

सभी तुक्कड़ रोकर, गाकर, नाचकर चटक-मटककर अपनी ही तुक-बन्दियोंकी पताका उड़ानेमें व्यस्त रहते हैं यहाँतक कि कुछ कवि तो अपने साथ एक मंडली लेकर चलते हैं जो उनकी कविताके प्रत्येक पदपर वाहवाहका कोलाहल करके आकाश सिरपर उठा लेता है।

अतः स्वरचित कविता पढ़नेवालोंके साथ-साथ पुराने तथा नये सत्कवियोंके कविता-पाठका भी आयोजन कराया जाय तो कवि-सम्मेलनोंका भी महत्त्व बढ़े और प्राचीन साहित्यका उद्धार होनेके साथ-साथ लोकरुचि भी परिमार्जित हो।

अन्त्याक्षरी

पढ़ंत-प्रथा उठ जानेपर भी वह प्रणाली पाठशालाओंमें अन्त्याक्षरीके रूपमें चलाई जा रही है। बालकोंमें स्पर्द्धाकी मात्रा बहुत होती है। उनकी इस वृत्तिसे लाभ उठाकर अन्त्याक्षरी-विधान-द्वारा उन्हें कविताएँ कंठस्थ करानेका सदुद्योग हो रहा है। इसमें बालकोंके दो दल बना लिए जाते हैं। एक दलका सदस्य किसी कविताका पाठ करता है। पाठ समाप्त होनेपर दूसरे दलका कोई सदस्य ऐसी कविता पढ़ता है जिसका प्रथम अक्षर पूर्वपठित कविताका अन्तिम अक्षर होता है। यदि एक दलके छात्रने यह दोहा पढ़ा—

करत करत अभ्यासके, जड़मति होत सुजान।
रसरी आवत जाततें, सिलपर होत निसान।

तो दूसरा दल '**न**' से प्रारंभ करके पढ़ेगा—

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं बिकास इहि काल।
अली कली ही तैं बिंध्यौ, आगे कौन हवाल॥

इस प्रकार उभय दलके लोग बराबर कविता पढ़ते चलते हैं। जब एक दल उस विशिष्ट अक्षरसे प्रारम्भ होनेवाली कविता सुननेमें असमर्थ हो जाता है तब दूसरे दलवाले उसी अक्षरसे प्रारम्भ होनेवाली कविता सुनाकर विजयश्री लूट ले जाते हैं। कभी-कभी कहीं लोग चुन-चुनकर एक ही अक्षरपर सब कविताएँ लाकर समाप्त करते हैं। यह कपट रोकनेके लिये अन्त्याक्षरी-प्रतियोगिताके कुछ विशेष नियम भी बन गए हैं। ढ, ण आदि अक्षरोंके लिये छूट दे दी जाती है क्योंकि इनसे प्रारम्भ होनेवाले छन्द बहुत कम हैं। इसी प्रकार बालकोंके चरित्र-निर्माणकी

दृष्टिसे अधिक शृङ्गार-रसात्मक कविताओं का भी निषेध कर दिया जाता है। साथ ही दोहे, सोरठे जैसे छोटे छन्दों के पाठकी भी आज्ञा नहीं दी जाती क्यों कि कभी-कभी प्रतिभा-संपन्न बालक तुरन्त भी दोहा या सोरठा बनाकर खड़ा कर लेते हैं। यदि किसी छन्द विशेषपर रुकावट न डालकर केवल कोरे नीरस पद्यों पर रुकावट डाली जाय तो विद्यार्थियों का अधिक लाभ हो सकता है। फिर भी अन्त्याक्षरी-प्रतियोगिताके कारण एक दूसरेपर विजय पानेकी कामनासे विद्यार्थी अनायास ही कविताएँ कण्ठाग्र करनेमें उत्साह प्रकट करते हैं। यदि विद्यार्थियोंको कविताके चुनावमें अध्यापक आदेश और सहायता तो विद्यार्थियों का अवश्य ही निःसीम उपकार हो।

सुभाषित-प्रतियोगिता

अन्त्याक्षरी-प्रतियोगिताके उपर्युक्त दोषोंसे ऊबकर अब लोग सुभाषित-प्रतियोगिता कराने लगे हैं। यह प्रथा अत्यन्त प्रशंसनीय है। इसमें विभिन्न विद्यालयों या कक्षाओंके दो-दो या चार-चारके दल आते हैं और सब बारी-बारीसे किसी कविकी सुन्दर रचना अत्यन्त सुस्वरताके साथ भावपूर्ण लयमें सुनाते चलते हैं। निर्धारित समयके भीतर जिस दलकी कविताएँ सर्वमधुर तथा सर्वश्रेष्ठ समझी जाती हैं वही विजयी घोषित किया जाता है। इस पद्धतिमें भी यह दोष बढ़ता चला जा रहा है कि छात्रगण भाव-लययुक्त काव्य-पाठ करनेके बदले राग-तालयुक्त काव्य-गान करने लगते हैं। इस परिपाटीको प्रोत्साहन नहीं देना चाहिए क्योंकि इसमें समय भी अधिक लगता है और संगीतके प्रभावसे काव्यका सौन्दर्य परखनेमें भी कठिनाई उपस्थित हो जाती है। निर्णायक लोग सुपाठकके बदले सुगायक छात्रोंको पुरस्कार दे डालते हैं।

समस्यापूर्त्ति

प्राचीन कालमें समस्यापूर्त्ति ही कवि-प्रतिभाकी कसौटी मानी जाती

रही है। काव्याङ्गोंका सम्यक् अध्ययन कर लेनेके पश्चात् जब कविगण राज-सभाओं और धनी-मानियोंके द्वार खटखटाते थे तब उनके स्वागतके लिये कुछ अनगढ़ समस्याएँ पहलेसे तैयार रख ली जाती थीं। यदि कविने उसकी सद्यः सुन्दर पूर्त्ति कर दी तब तो पूछना ही क्या है! कविजीके पौ बारह हो जाते थे। जबतक आश्रय-दाता जीवित रहा और कविजीसे उसकी पटरी बैठती रही तबतक उसे किसी प्रकारकी आर्थिक चिन्ता नहीं करनी पड़ती थी। किन्तु यदि कविजी समस्यापूर्तिमें असफल रहें तो उन्हें तुरन्त नारियल-सुपारी थमाकर चलता बता दिया जाता था। संस्कृत कालकी यह प्रथा हिन्दीमें भी बहुत दिनोंतक चलती रही। अब भी कहीं-कहीं कविसम्मेलनोंमें ऐसी समस्याएँ दी जाती हैं। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रके कुछ समय पीछेतक हिन्दी-साहित्य-जगत्में समस्यापूर्त्तियोंकी बड़ी धूम थी। कविवर लछिरामकी तो यहाँतक घोषणा थी कि—

कहैं कवि लछिराम दीजिए समस्या मोहिं, कलम रुकै तौ कर कलम कराइए॥

परन्तु मानी कवियोंने एक स्वरसे मुक्त प्रतिभाके लिये समस्यापूर्तिको बन्धन-स्वरूप घोषित करके उसका सर्वथा बहिष्कार किया। उस बहिष्कारके औचित्यको कुछ अंशतक मानते हुए हम लाटानुप्रासमें कहना चाहते हैं कि 'यदि प्रतिभा है तो समस्यापूर्ति क्या, यदि प्रतिभा नहीं तो समस्यापूर्त्ति क्या।' अर्थात् वास्तविक प्रतिभाके लिये कहीं कोई बन्धन नहीं है। प्रतिभाशाली कवि सुन्दरसे-सुन्दर रचनाके साथ सरस समस्यापूर्त्ति भी कर सकता है। किन्तु समस्यापूर्त्ति कवियोंके लिये नहीं साधारणतया काव्याभ्यासियोंके लिये ही है और इस दृष्टिसे यदि विद्यार्थियोंको पहेली न बुझवाकर समस्यापूर्तिका थोड़ा-बहुत अभ्यास कराया जाय तो कविताके प्रति उनका प्रेम भी बढ़ेगा और उनमें से दो-चार किसी दिन वास्तविक कवि भी हो सकेंगे।

इस समस्यापूर्तिके लिये प्राचीनकालमें वास्तवमें समस्या ही दी

जाती थी, जिसमें कविको कुछ बुद्धि लड़ानी पड़ती थी। राजा भोजने एक दिन अपनी सभाके पंडितोंको यह समस्या दी—

'हुताशनश्चन्दनपङ्कशीतलः।'

[अग्नि भी चन्दनके चोवेके समान ठंढी हो गई।] यह बात असम्भव है कि क्योंकि यह अग्निके गुण, धर्म और स्वभावसे विपरीत है कि वह चन्दनके समान शीतल हो जाय। अतः इसे सिद्ध करना वास्तवमें समस्या थी। महाकवि कालिदासने इस समस्याकी पूर्त्ति करते हुए कहा—

सुतं पतन्तं प्रसमीक्ष्य पावके
न बाधयामास सुतं पतिव्रता।
पतिव्रता-शाप-भयेन पीडितो
हुताशनश्चन्दन - पङ्क - शीतलः॥

[कोई पतिव्रता अपने पतिकी सेवामें लगी हुई थी कि इतनेमें उसका पुत्र आगमें गिर पड़ा। यह देखकर भी उसने पुत्रको रोका नहीं, क्योंकि पतिव्रताके शापके भयसे अग्नि स्वयं चन्दनके समान शीतल हो गई।]

आजकल लोग कहनेको तो समस्या देते हैं पर वह होता है पदान्त या तुकान्त मात्र जैसे—**जावैगो, लहराता है, सो रहा है**। कभी-कभी अन्तिम पद भी दे देते हैं—

फागुनमें लालपै गुलाल बरसतु है।
या
स्वागत है आज ऋतुराज सुखदायीका॥

किन्तु समस्यापूर्त्तिके लिये इस प्रकारकी समस्या देनी चाहिए—

पावस-सिँगारमें अँगार बरसतु हैं।
या
सुमनोंका अन्तकर वसन्त सज आया है।

ऐसी समस्याओंसे कल्पना-शक्ति, अभिव्यञ्जना-शक्ति और उक्ति-कौशलके चमत्कारका अभ्यास बढ़ता है।

कवि-सम्मेलन

हमारे यहाँ आजकल कवि-सम्मेलनोंका प्रचलित रूप उर्दू मुशायरोंके अनुकरणपर चला। मध्यकालमें दो कवियोंको भिड़ाकर उनका चमत्कार देखनेकी प्रथा बहुत प्रचलित थी। जिस प्रकार आजकल पंडितोंमें शास्त्रार्थ होता है उसी प्रकार राज-सभाओंमें कविगण कविता-पाठके साथ-साथ कविता, रस, अलंकार आदिके सिद्धान्तोंपर वाद-विवाद या खंडन-मंडन भी किया करते थे। पर कवि-सम्मेलनोंका वर्त्तमान रूप उस समय कदापि न था। वर्त्तमान कवि-सम्मेलनोंमें—

खटियाका टूटा बाध है।
मेरा क्या अपराध है?

—जैसी तुकबन्दियोंसे लेकर वास्तविक कविताओं तक अन्धेर-नगरीवाले भावसे सुननेको मिलती हैं। तीन-चार घण्टे समय रहता है और तीस-चालीस पढ़नेवाले। परिणाम यह होता है कि सफलता काव्यकालसे हटकर गलेबाज़ीमें आ बैठती है। प्रत्येक कविके पक्षपाती व्यर्थ ही आकाश सिरपर उठाने लगते हैं और ऐसा कोलाहल होता है कि कविता-सुन्दरी सभा छोड़कर भाग खड़ी होती है। इनमेंसे अधिकांश कविताओंका तो भाव भी अत्यन्त अस्पष्ट होता है और जब कविगण एक-एक पंक्तिपर रहस्यवादी भाषामें ब्रह्म उतारने लगते हैं तब उसका वास्तविक अर्थ स्वयं उन्हींकी समझमें नहीं आता। श्रोता बेचारे कविता तो पत्थर समझते हैं, हाँ, गलेबाज़ीपर मुग्ध होकर बीच-बीचमें वाह-वाह अवश्य कर दिया करते हैं। कुछ कविताएँ इतनी विचित्र होती हैं कि श्रोता यही विचार करने लगता है कि यह गद्य है या पद्य। वर्त्तमान कवि-सम्मेलनोंमें कभी-कभी ऐसी निर्वसन कविताएँ भी सुननेमें आती हैं जिन्हें सुनकर स्त्रियोंके कर्णमूल और विचारशील पुरुषोंकी आँखें लाल हो जाती हैं, पर यह साहस किसीका नहीं होता कि कविजीके गाल लाल कर दें। हिन्दीके ये वाममार्गी कवि नायिका-भेदवाले कवियोंके भी कान काटने लगते हैं। इन्हीं कवियोंकी श्रेणीमें वे भी आते हैं जो किसी

राजनीतिक दलके भाट बनकर प्रगतिशील, प्रयोगवादी आदि विचित्र नाम धारण करके अपनी डफली अपनी राग अलापकर अपने दलका प्रचार करते हैं। बहुतसे कवि भाषा-दोष, छन्द-दोष, अलङ्कार-दोष और रस-दोषसे भरी हुई नीरस तथा लम्बी-लम्बी रचनाएँ ला-लाकर कवि-सम्मेलनोंमें सुनाने लगते हैं और जब श्रोतागण उनकी मूर्खतापर ताली पीटते हैं तो वे समझते हैं कि हमारी प्रशंसा हो रही है। इन सबको विद्यालयके कवि-सम्मेलनसे सदा दूर ही रखना चाहिए।

विद्यालयके कवि-सम्मेलनमें केवल उत्कृष्ट कवियोंको ही निमंत्रित करके उनके कविता-पाठका आयोजन कराना चाहिए। विद्यार्थी-कवियोंको भी उनके समक्ष अपनी रचना सुनानेकी अवसर अवश्य देना चाहिए जिससे कवितामें उनका प्रेम बढ़े और उनके काव्यका उचित संस्कार हो सके। किन्तु उनकी रचना शुद्ध करके केवल उन्हीं छात्र कवियोंको कवि-सम्मेलनमें पढ़ने भेजा जाय जो सुस्वरताके साथ कविता पढ़ सकें।

कवि-समादर

कवि-सम्मेलनकी अपेक्षा किसी विशिष्ट कविको निमन्त्रित करके जी भरकर घंटे-डेढ़-घंटे उसीकी श्रेष्ठ रचनाओंका श्रवण और आस्वादन करना कहीं अधिक श्रेयस्कर है।

सुकवि-आवाहन (कवि-दरबार)

काव्यमें रुचि उत्पन्न करनेके लिये कवि-आवाहन अर्थात् चुने हुए कवियोंके चुने हुए पद एकत्र करके उन-उन कवियोंकी वेष-भूषासे अलंकृत सुकण्ठ बालकोंसे वे रचनाएँ पढ़वाना भी अच्छा साधन है। नाट्य-समन्वित होनेके कारण उसका अच्छा और स्थायी प्रभाव पड़ता है। ऐसे कवि-दरबारके अवसरपर कविको मंचपर प्रवेश करानेसे पूर्व नेपथ्यसे उसका और उसके काव्यका भी सरस परिचय दे देना चाहिए। इससे काव्यानन्द प्राप्त करनेमें भी सुविधा होती है और कविका भी परिचय प्राप्त हो जाता है।

काव्य-गोष्ठी

कभी-कभी ऐसी गोष्ठियोँका भी आयोजन करना चाहिए जिसमेँ किसी एक या अनेक कवियोँके गुणोँपर विचार-विमर्श हो और कई छात्र अपने अपनें प्रिय कवियोँकी रचनाओँका पाठ और सौन्दर्य वर्णन करेँ। किन्तु इस काव्य-गोष्ठीमें यह ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि कोई भी छात्र किसी दूसरे कविकी न निन्दा करे, न तुलना करे क्योँकि इस तुलना और निन्दासे लाभकी अपेक्षा हानि अधिक हो जाती है।

कवि-जयन्ती

काव्य-रुचिको शुद्ध सात्त्विक रूपसे उद्दीप्त करनेको लिये कवियोँकी जन्म-तिथियोँपर उनकी जयन्तियाँ मनाई जायँ और उस अवसरपर ऐसा एक व्याख्याता बुलाया जाय जो कविके काव्योँका पाठ करते हुए कविके काव्य-सौन्दर्यकी भी व्याख्या करता चले। ऐसे अवसरोँपर बहुतसे व्याख्यान नहीँ कराने चाहिएँ।

काव्य-गान

जिस प्रकार काव्य-पाठके लिये काव्य-गोष्ठियोँका आयोजन किया जाता है उसी प्रकार बाहरसे अच्छे गायकोँको बुलाकर श्रेष्ठ कवियोँकी सुन्दर कविताओँ या भजनोँका गान कराया जाय या रामायण-मंडलियोँको बुलाकर रामायणका पाठ कराया जाय सुकंठ संगीतज्ञ छात्रोँको ही एकत्र करके काव्य-गानकी व्यवस्था की जाय। इस प्रकारके काव्य-गानसे छात्रोँ में काव्यके प्रति प्रेम बढ़ता है, काव्यका राग भी उनके मस्तिष्कमें भर जाता है और वे उसे गुनगुना-गुनागुनाकर उसका संस्कार बनाए रख सकते हैं। चलचित्रके कुसंस्कारी गीतोँका प्रभाव दूर करनेके लिये इस प्रकारके आयोजनोँकी अत्यन्त आवश्यकता है।

इसके अतिरिक्त संगीत-रामलीला, रासलीला, काव्य-स्मरण-परीक्षा आदि और भी अनेक साधनोँका प्रयोग किया जा सकता है।

१९

नाटक पढ़ानेके उद्देश्य तथा शिक्षण-विधि

अवस्थानुकृतिर्नाट्यम् ।

नाट्याचार्य भरतके मतानुसार 'किसी भी अवस्थाके अनुकरणको नाटक कहते हैं।' अवस्थासे तात्पर्य है मानव-जीवनकी वे सम्पूर्ण परिस्थतियाँ, जिनमें से होकर मनुष्यने अपनी जीवन-नौका खेई है। मनुष्य ही राजा, रंक, वीर, कायर सब कुछ होता है। वही स्वामी और सेवक दोनों होता है। मनुष्य ही न्यायाधीशके आसनपर बैठता है और उसीके आज्ञानुसार मनुष्य ही जेलकी चक्की पीसता है, दंड भोगता है और फाँसी पड़ता है। मानव-जीवनकी इन्हीं घटनाओंके व्यवस्थित तथा नियमित अनुकरणको नाटक कहते हैं। हम जो नहीं हैं वही बनकर जब हम अपनी वेष-भूषा, वाणी और आचरणसे दूसरोंको अपनी आरोपित अवस्थामें सत्यका विश्वास दिला देते हैं और वे जब उस अनुकरणको सत्य समझने लगते हैं, तभी हमारा अभिनय सफल माना जाता है। दर्शकको केवल धोखेमें डालने भरसे नाट्यकलाके उद्देश्यकी पूर्त्ति नहीं होती। नाट्य-कलाकी चरम सफलता तब है जब दर्शकका भय ही विश्वास बन जाय।

नाटककी परिभाषा

योँ तो भरतने 'अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्' कहकर नाटककी परिभाषा बता ही दी है किन्तु अभिनव-भरतने अपने अभिनव-नाट्यशास्त्रमें उसकी ठीक परिभाषा बताते हुए कहा है—

"किसी प्रसिद्ध या कल्पित कथाके आधारपर, नाट्यकार-द्वारा रचित रचनाके अनुसार, नाट्यप्रयोक्ता-द्वारा सिखाए हुए नट, जब रंग-मंचपर अभिनय तथा संगीतादिके द्वारा रस उत्पन्न करके प्रेक्षकोँका विनोद करते हुए उन्हेँ उपदेश और मनःशान्ति प्रदान करते हैँ तब उस प्रयोगको नाटक या रूपक कहते हैँ।"

नाट्यकलाका विकास

हमारे पूर्वजोँको नाट्यकलाकी उपयोगिताका पूरा-पूरा ज्ञान था और उन्होँने अपने अध्यवसायसे इस कलाको अत्यन्त उन्नत भी किया किन्तु भारतमेँ हिन्दू-शासनके साथ-साथ इस कलाका भी विनाश हो गया। अँगरेज़ी शासन-कालमेँ भी इस कलाका पुनर्विकाश भली घड़ी नहीँ हुआ। अभिज्ञान-शाकुन्तल लिखनेवाली जाति इन्दरसभा और गुल-बकावलीसे संतुष्ट होने लगी। परिणाम यह हुआ कि हम नाट्यकलाका उद्देश्य, उसका उपयोग तथा उसका शिक्षात्मक प्रयोग भूल गए। किन्तु अब नाटक केवल खेलकी वस्तु न रहकर हमारी शिक्षाका प्रमुख साधन बन गया है। प्रसिद्ध नाटककार, विद्वान् तथा शिक्षाशास्त्री अभिनव-भरत आचार्य सीताराम चतुर्वेदीके उद्योगसे हिन्दू-विश्वविद्यालयके टीचर्स ट्रेनिंग कौलेजमेँ काशीके प्रसिद्ध विद्वानोँ, लेखकोँ, अध्यापकोँ, सम्पादकोँ तथा विदुषियोँके सहयोगसे हिन्दीकी सर्वप्रथम शुद्ध भारतीय ढंगकी रङ्गशालाकी स्थापना अनन्त चतुर्दशी संवत् १९९९ को हुई जिसका नाम रक्खा गया अभिनव रङ्गशाला। यही एक मात्र ऐसी रङ्गशाला है जिसमेँ हिन्दी साहित्यके विचक्षण विद्वान् और विदुषी, कवि और कवयित्री, लेखक और लेखिका नाटकोँमेँ भूमिकाएँ ग्रहण कर चुकी हैँ। इस रङ्गशालापर ट्रेनिंग कौलेजके परीक्षार्थियोँने नाट्य-प्रणालीसे (रङ्गमंचपर नाटक कराकर) अपनी वार्षिक परीक्षाका पाठ पढ़ाकर उसमेँ सफलता पाई।

नाटकके उद्देश्य

भरत मुनिने अपने नाट्यशास्त्रके प्रारम्भमें ही नाटकका उद्देश्य समझाते हुए कहा है—

हितोपदेशजननं नाट्यमेतद्भविष्यति ।
विनोदकरणं लोके नाट्यमेतद्भविष्यति ।

[नाटक दो काम करेगा—१. वह हितकर उपदेश देगा और २. मनोविनोद करेगा । महाकवि कालिदासने अपने मालविकाग्निमित्र नाटकके प्रारम्भमें नाटकके व्यापक प्रभावके सम्बन्धमें कहा है—

नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम् ।

[भिन्न रुचिके लोगोंको समान रूपसे सन्तुष्ट करनेवाला यदि कोई एक मात्र साधन है तो वह नाटक ही है ।] नाटककी व्यापक लोकप्रियताका कारण बतलाते हुए उन्होंने कहा है कि 'कोई ऐसा शास्त्र, शिल्प, विद्या, कला, ज्ञान और योग नहीं है जो नाटकमें न दिखाया जा सके ।' अभिनव-भरतने अपने नाट्यशास्त्रके प्रारम्भमें ही इसका कारण बतलाते हुए कहा है कि 'गीत, वाद्य, नृत्य, अभिनय, दृश्य-सौन्दर्य, चित्र-कला, प्रकाश-कौशल, यान्त्रिक कौशल, नायक-नायिकाओंके रूप और विचित्र वेष-विन्यास आदि अनेक आकर्षक कलाओंसे संयुक्त होनेके कारण ही नाटक सर्वप्रिय विनोद है ।'

नाटक-शिक्षणके उद्देश्य

नाटकके चाहे जो उद्देश्य हों किन्तु विद्यालयोंमें नाटक पढ़ानेके चार उद्देश्य हैं—

१. अवसरके अनुकूल वार्त्तालाप और आचरण सिखना ।

२. मानव-स्वभाव और मानव-चरित्रका अध्ययन कराना ।

३. जीवनकी विभिन्न परिस्थितियों, दशाओं और मानसिक अवस्थाओंसे परिचित कराते हुए यह शिक्षा देना कि उन अवस्थाओंमें कैसा व्यवहार करना आवश्यक और निरापद होता है ।

४. सम्यक् रीतिसे उच्चारण करने, बोलने, अभिनय करने तथा भाव व्यक्त करनेकी कलाका ज्ञान कराना।

छात्रोंको लाभ

इन उद्देश्योंकी पूर्त्तिसे विद्यार्थियोंको पाँच लाभ होते हैं—

१. उनका भाषा-ज्ञान बढ़ता है। उन्हें अवसरके उपयुक्त भाषा प्रयोग करनेका ढङ्ग आता है। किस परिस्थितिमें किस प्रकार बातें करनेसे कैसा भाव उत्पन्न किया जा सकता है, इस बातका ज्ञान हो जाता है। नाटकमें जीवनकी सभी परिस्थितियोंका अनुकरण होता है। अतः, विद्यार्थी यह ज्ञान प्राप्त कर सकता है कि अमुक प्रकारका संभाषण विपत्तिमें डाल सकता है या कार्य्य सिद्ध कर सकता है। उन्हें पद तथा मर्य्यादाके अनुसार सम्बोधित करनेका ज्ञान भी नाट्यकलाकी शिक्षा-द्वारा आ जाता है। माँ-बाप, भाई-बहन तथा परिवारके लोगोंको सम्बोधन करनेवाले शब्द हम जिस अनुकरणवाली रीतिसे सीखते हैं वही रीति हमें, राजा, महाराजा उच्च पदाधिकारी तथा अन्य लोगोंको निर्देश किए जानेवाले शब्दों और ढंगोंकी भी शिक्षा देती है। विकासोन्मुख भाषा होनेके कारण नागरीमें अभी इस प्रकारके सब सम्बोधन निश्चित नहीं हो पाए हैं पर संस्कृत जैसी पूर्णता-प्राप्त भाषाओंमें, निर्देशक, निर्दिष्ट और निर्देश-वचन सुनिश्चित हैं जैसे मुनि, सखी, दासी, चेटी आदिके लिये क्रमशः भगवन्, हला, हंजे, हंडे आदि।

२. नाटकके द्वारा उन्हें लौकिक और घरेलू आचार-व्यवहार आदिकी सम्यक् शिक्षा मिलती है। राजसभाके दृश्यका अभिनय उन्हें यह सिखाता है कि ऐसे स्थलोंपर किस प्रकार शील-व्यवहार बरतना चाहिए। नाटकोंमें हम इस प्रकारके विशेष दृश्योंकी अवतारणा करके सभा-समिति-विषयक अनुशासनकी शिक्षा भी भली-भाँति दे सकते हैं। हमारे यहाँ उत्तर भारतमें प्रतिवर्ष रामलीलाके नामसे नाट्य रचा जाता है। प्रतिवर्ष करोड़ों स्त्री-पुरुष, बालक-वृद्ध और वयस्क

रामलीला देखते हैं और निःसन्देह अनेक व्यक्ति मनोविनोदके साथ-साथ घरेलू आचरण-व्यवहारकी शिक्षा भी पाते हैं जिसके संस्कारसे अभीतक हिन्दू घरोंमें राम, सीता, लक्ष्मण और भरतकी कमी नहीं है।

३. नाटकों-द्वारा वे यह भी सीखते हैं कि किसी गम्भीर परिस्थितिको किस प्रकार सरल करनेके साधन जुटाने चाहिएँ अर्थात् नाटकसे व्यवहार-कुशलता भी आ जाती है। जीवनमें ऐसे अनेक अवसर आते हैं जब कि गम्भीरसे गम्भीर विपत्ति, अनायास ही चतुरतासे उड़ाई जा सकती है।

४. विभिन्न प्रकारके मनुष्योंकी गतिविधियोंको नाटकमें देखकर तथा उनका मनोवैज्ञानिक अध्ययन करके, विद्यार्थी अपने समाजके मनुष्योंको पहचानके योग्य हो जाते हैं। कुटिल व्यक्तियोंसे किस प्रकार अपनी तथा समाजकी रक्षा करनी चाहिए तथा शिष्ट पुरुषोंसे किस प्रकार सम्पर्क बढ़ाना चाहिए, इसका उन्हें ज्ञान हो जाता है।

५. नाटककी शिक्षा विद्यार्थियोंको कुशल सार्वजनिक वक्ता तथा सार्वजनिक जीवनमें सफल बना सकती है, उन्हें इतनी शक्ति दे सकती है कि वे जब चाहें जनसमूहको हँसा दें, जब चाहें रुला दें।

नाटककी पाठन-प्रणाली

नाटक पढ़ानेकी चार रीतियाँ हैं—

१. **प्रयोग-प्रणाली :** नियमित रूपसे रंगमंचपर अभिनय-प्रयोग-द्वारा नाटकका दृश्य ज्ञान कराना।

२. **आदर्श नाट्य-पाठ-प्रणाली :** नाटकके सभी चरित्रोंका वाचिक अभिनय अध्यापक स्वयं ही करे। वह नाटकको इस प्रकार कक्षामें पढ़े कि प्रत्येक पात्रकी वाणी तथा उसके भाव आदिका आभास उसके वाचनकी अनेक-रूपतासे मिलता जाय। वह शब्दोंका अर्थ न करे वरन् उचित वाचिक तथा आङ्गिक अभिनयके द्वारा नाटक-गत संवादोंके क्रोध, प्रेम, घृणा आदि भावोंका नाट्य करे।

३. कक्षाभिनय-प्रणाली : कक्षाके विद्यार्थियोंको नाटकमें आए हुए चरित्रोंकी भूमिका देकर उन-उन चरित्रके संवादोंको भावपूर्वक पढ़वाना तथा तदनुकूल वाचिक अभिनय कराना।

४. व्याख्या-प्रणाली : कथा-वस्तुका निर्माण, चरित्र-चित्रण, विचारोंकी सुन्दरता, पात्रोंके चरित्र-विश्लेषण तथा भाषाके प्रयोग आदिपर प्रश्न करके नाटककी विशेषताएँ बताना। इन्हीं विषयोंपर दृश्यकी आवृत्ति करते समय प्रश्न भी किए जाने चाहिएँ।

नाटकका पाठन-क्रम

पाठ्य-ग्रन्थमें निर्धारित संवाद तथा नाटकको कक्षामें पढ़ानेके लिये चाहिए कि एक घंटेमें पढ़ानेके लिये ऐसा अङ्क, एक दृश्य या एक पूरा संवाद ले लिया जाय जो उतने समयमें पढ़ाया जा सके। उसे इस क्रमसे पढ़ाना चाहिए—

१. परिचय : सर्वप्रथम नाटककारका परिचय तो दिया जाय किन्तु गद्य-पाठके विषयके परिचयके समान नाटक या संवादके विषयका परिचय न दिया जाय अन्यथा कथाका कुतूहल नष्ट हो जायगा और उसके साथ ही नाटक भी अधमरा हो जायगा।

२. विषय-प्रवेश : अध्यापक उस दिनके निर्दिष्ट पाठ्य अंश या दृश्यको इस प्रकार पढ़े मानो वह रङ्गमञ्चपर खड़ा हुआ सब पात्रोंका पाठ कह रहा हो। पढ़ते समय केवल वाचिक तथा सात्त्विक अभिनय तो हो अर्थात् वाणीके उतार-चढ़ावसे विभिन्न भाव तो प्रकट होते चलें किन्तु आङ्गिक अभिनय न हो, हाथ-पैर बहुत न चलें।

३. अनुकरण : यह दो प्रकारसे हो सकता है—१. कक्षाभिनय-प्रणालीसे अर्थात् नाटकके पात्रोंकी संख्याके अनुसार छात्र छाँटकर उन्हें भिन्न-भिन्न पात्रोंकी भूमिका देकर, उनसे उन-उन पात्रोंके संवाद कहलवाए जायँ; २. भाव-प्रकाशन-प्रणाली-द्वारा अर्थात् अध्यापक स्वयं पुस्तक लेकर या स्मृतिसे पूरे दृश्यका आङ्गिक, सात्त्विक

तथा वाचिक अभिनय करे या एक विद्यार्थी पढ़ता जाय और अध्यापक उसके आङ्गिक तथा सात्त्विक भावोंका नाट्य करता जाय। किन्तु यह प्रणाली अधिक स्तुत्य नहीं है।

४. आवृत्ति : दृश्यका अभिनय हो चुकनेके पश्चात् अध्यापकको चाहिए कि इस प्रकारके प्रश्न करे—

(अ) इस नाटकमें कौनसा चरित्र तुम्हें अच्छा या बुरा लगा? क्यों? उसके गुण-अवगुण नाटककारने किस प्रकार, कहाँ-कहाँ प्रकट किए हैं?

(आ) किस पात्रकी बातें तुम्हें ठीक जँची हैं? क्यों?

(इ) किस पात्रकी बातें रुचिकर प्रतीत हुईं? क्यों?

(ई) इस दृश्यमें आई हुई घटनाओंका अमुक पात्र या पात्रों तथा कथापर क्या प्रभाव पड़ा?

ये प्रश्न ऐसे हों जिनसे पात्रोंके चरित्रकी मीमांसा हो, कथाके प्रसारका ज्ञान हो, कल्पना-शक्ति तथा विवेचना-शक्तिकी वृद्धि हो। इसी अवस्थामें छात्रोंसे यह भी पूछा जा सकता है कि छोटों, बड़ों, राजाओं आदिसे किस प्रकार बातें करनी चाहिएँ अथवा जिस परिस्थितिमें अमुक पात्रने अमुक प्रकारका व्यवहार किया उसमें तुम होते तो क्या करते? इत्यादि। अर्थात् उस दृश्यसे जो व्यवहारिक शिक्षा दी जा सके उसका स्पष्ट विधान करना चाहिएँ।

५. ज्ञातव्य : यदि नाटक या संवादके विषयमें अध्यापक कुछ ऐतिहासिक बातें, भाषाके दोषगुण अथवा अन्य विशेष बातें बताना चाहे वे भी अन्तमें बता देनी चाहिएँ। ये बातें बीचमें लाकर नहीं डालनी चाहिए।

वास्तवमें नाटक-शिक्षाकी सर्वश्रेष्ठ प्रणाली तो यही है कि उसका रङ्गमञ्चपर अभिनय किया जाय जिससे उसके सब तत्त्व छात्र स्वयं देखकर जान लें या उसके आधारपर तत्त्व सरलतासे सिखाए जा सकें।

गीतों और संवादोंका शिक्षण

नाटकमें आए हुए गीत आदिको कविताके समान अलग पढ़ाना चाहिए और यदि संवादका कोई अंश कठिन हो तो उसे भी गद्यके समान अलग नाटकके अनन्तर पढ़ा देना चाहिए। नाटक पढ़ानेके समय अर्थ, व्युत्पत्ति, व्याख्या आदिकी छायाका भी स्पर्श नहीं होने देना चाहिए।

किस प्रकारके नाटक पढ़ाए जायँ ?

इंटर कक्षातकके विद्यार्थियोंको जो नाटक पढ़ाए जायँ उनमें निम्नलिखित गुण अवश्य होने चाहिएँ। यदि न हों तो सम्पादक और संकलन-कारियोंको इन सिद्धान्तोंके अनुसार उनका सम्पादन कर लेना चाहिए—

१. यथासम्भव कमसे कम पात्र हों।

२. भाषा स्पष्ट, चलती, मुहावरेदार, जोड़-तोड़के उत्तरोंसे भरी हो।

३. नाटकमें संवाद-भर ही न हों, नाटकीय व्यापार (कार्य) भी उसी परिमाणमें हों।

५. जितना संवाद हो वह सब कथाका प्रसार तथा पात्रोंका चरित्र स्पष्ट करनेवाला हो।

५. रंगनिर्देश तथा नाट्यनिर्देश इतने स्पष्ट और पूर्ण हों कि अभिनेताओंको वेशभूषा धारण करने, भावाभिनय करने तथा नाटकीय क्रिया (प्रवेश, प्रस्थान, गिरना, उठना, मारना आदि) के लिये ठीक संकेत मिलता चले। यदि आवश्यक हो तो सङ्गीत औ प्रकाश आदिके सम्बन्धमें भी निर्देश दे दिया जाय।

६. नाटककी कथा-वस्तुसे विद्यार्थियोंका मनोविनोद भी हो और उन्हें नैतिक शिक्षा भी मिले।

७. नाटकमें किसी समाज, धर्म, जाति या व्यक्तिके प्रति आक्षेप न हो। वह समान रूपसे दया, क्षमा, आत्मोत्सर्ग, परोपकार, देशभक्ति,

सात्त्विक वीरता, शरणागत-वत्सलता, सत्य-व्रत, अर्थ-शौच (ईमानदारी), चरित्रबल आदि सार्वभौम नैतिक सिद्धान्तोंका प्रतिपादन करता हो। आगे हम 'अपराधी' नामकी नाटिका दे रहे हैं जो छात्रोंके लिये पठनीय नाटकोंकी कसौटीपर ठीक उतरता है। इस नाटिकाको देखकर ठीक समझमें आ जायगा कि पाठनीय नाटकमें क्या गुण और तत्त्व होने चाहिएँ।

—अपराधी—

[नाटिका]

पात्र		परिचय
१. पंडित हरिशंकर	—	एक परोपकारी सज्जन
२. कृपाशंकर	—	पंडित हरिशंकरके छोटे भाई
३. महँगू	—	सहायतार्थी
४. सरजू	—	सहायतार्थी
५. जंगी	—	कारागारसे सद्यः छूटा हुआ मनुष्य
६. बजरंगसिंह	—	थानेदार

स्थान : पंडित हरिशकरजीकी बैठक।

समय : रात्रि।

[पंडित हरिशंकरकी बैठकमें एक लम्बी चौकी पर चाँदनी बिछी है। पंडित हरिशंकरजीके छोटे भाई कृपाशंकर उसी चौकीपर कम्बल ओढ़े तकियेके सहारे लेटे ऊँघ रहे हैं। पास ही एक आरामकुर्सी पड़ी है। घड़ीमें टन-टन करके ग्यारह बजते हैं। द्वारपर खट-खट शब्द होता है। कृपाशंकर हड़बड़ाकर उठ खड़े होते हैं।]

कृपाशंकर : (पुकारकर) कौन ? भइया !

[किवाड़ खोलते हैं। महँगूका प्रवेश।]

महँगू : (अत्यन्त दैन्य, कातरता तथा संकोचके साथ पूछते हुए) दयानिधान ! पंडितजी हैं ?

कृपाशंकर : (उपेक्षा तथा तर्जनाके साथ) कौन हो तुम ? क्यों आए हो ? इतनी रात गए पंडितजीसे क्या काम है ?

महँगू : (अत्यन्त आर्त्त होकर) दीनानाथ ! बड़ी बिपदामें पड़ गया हूँ। मेरा छोटा बच्चा......

कृपाशंकर : (क्रोधभरे स्वरमें) तुम लोग पंडितजीको जीने नहीं दे सकते। न दिन देखें न रात, चले आते हैं दयानिधान-कृपानिधान करते हुए।

महँगू : (कातरताके साथ) दयानाथ ! ऐसा न कहिए। भगवान् करे जुग-जुग जीएँ। उनका जस (यश) बढ़े। दीनबन्धु ! कुएँके पास ही तो प्यासा पहुँचता है।

कृपाशंकर : (झिड़कते हुए) तो जाकर दूसरे कुएँ क्यों नहीं झाँकते ? यहाँ इतने ढेरों वैद्य-डाक्टर हैं, उनमेंसे किसीका द्वार क्यों नहीं खटखटाते ? (किवाड़ बन्द करनेको हाथ बढ़ाते हुए) अब जाओ, दिन चढ़े आना।

महँगू : (गिड़गिड़ाकर हाथ जोड़ते हुए) दुहाई दीनानाथकी ! मैं लुट जाऊँगा। कहीं मुँह दिखानेको नहीं रह जाऊँगा।

कृपाशंकर : (चिढ़कर) तो यहाँ बैठे-बैठे क्या हमारा सिर चाटोगे ?

महँगू : (दैन्य भावसे) नहीं अन्नदाता ! मैं चुप बैठा हूँ। कुछ नहीं बोलूँगा।

कृपाशंकर : (चिढ़कर मुँह बनाते हुए) कुछ नहीं बोलूँगा। (डाँटकर) तुम लोगोंके मारे भइयाका खाना, पीना, सोना सब दूभर हो गया है।

[सहसा हरिशंकरका प्रवेश]

हरिशंकर : (शांत-भावसे, कृपाशंकरसे) ओह ! बाहर कितनी ठंड पड़ रही है कृपाशंकर ! निर्धन लोगोंको कितना कष्ट हो रहा होगा ! (सहसा महँगूको देखकर) कौन ? महँगू ! कहो कैसे चले ?

कृपाशंकर : (आदरपूर्ण झुँझलाहटके साथ, हरिशंकरसे) भइया ? आप सबसे कह दीजिए कि वे सन्ध्याके उपरान्त आपको कष्ट देने यहाँ न

पधारा करें नहीं तो किसी दिन व्यर्थकी ठाँय-ठाँय हो जायगी और मैं किसीपर हाथ चला बैठूँगा। यह कौनसा ढंग है कि न रात देखें न दिन, चले आते हैं पंडितजी-पंडितजी चिल्लाते हुए।

हरिशंकर : (**हँसते हुए, कपड़े उतारकर टाँगते हुए**) अच्छा-अच्छा! सबसे कह देंगे। तुमने कुछ खाया-पिया या नहीं? जान पड़ता है सो नहीं पाए हो। अच्छा झटपट थाली तो लगवाओ।

[**कृपाशंकरका प्रस्थान**]

हरिशंकर : (**महँगू**) कहो महँगू! क्या बात है?

महँगू : (**हरिशंकरके पैर पकड़कर रोते हुए**) दयानिधान! बड़ी बिपदामें पड़ गया हूँ। मेरा छोटा बच्चा साँझसे ही कराह रहा है। चलकर उसकी नाड़ी पकड़ लेते तो वह चंगा हो जाता। भगवान् आपका भला करें।

हरिशंकर : चलो।

[**कपड़े पहनकर चलनेको तैयार होते हैं। इतनेमें कृपाशंकरका प्रवेश**]

कृपाशंकर : (**अनुरोधपूर्वक हरिशंकरसे**) भइया! पहले भोजन कर लीजिए तब कहीं निकलिए।

हरिशंकर : (**स्नेहपूर्ण स्वरमें**) नहीं नहीं! न जाने बेचारे बालककी क्या दशा हो! तुम थाली लगाओ, बस मैं अभी आया।

[**दोनोंका प्रस्थान। कृपाशंकर कुर्सीपर बैठ जाते हैं।**]

कृपाशंकर : (**मन ही मन बड़बड़ाते हुए**) संसार जब सुखमें रहता है तब किसीको नहीं पूछता पर जब सिरपर आ पड़ती है तब भले लोगोंको तंग करने लगता है, उनकी सेवा चाहता है, वह भी धर्मके नामपर, दयाके नामपर। बेइमान, स्वार्थी कहींके!

[**द्वारपर फिर खटखट होती है**]

कृपाशंकर : (**चौकीपर लेटे-लेटे**) कौन?

सरजू : (**बाहरसे आर्त्त स्वरमें**) पंडितजी हैं?

कृपाशंकर : (**ललकारकर**) क्या काम है?

सरजू : (करुण स्वरमें) पंडितजी हैं ?

कृपाशंकर : (सीधे बैठते हुए गरजकर) क्या काम है ?

सरजू : (दयनीय स्वरमें) सरकार ! बड़ा जाड़ा लग रहा है। कोई तनका कपड़ा मिल जाता तो रात बीतती । प्रान निकल जा रहे हैं।

कृपाशंकर : (झिड़कते हुए) पंडितजी यहाँ नहीं हैं। बाहर गए हैं। जाओ अब कल आना ।

सरजू : (अत्यन्त आर्त्त स्वरमें) सरकार ! कलतक तो प्रान निकल जायँगे।

कृपाशंकर : (बैठे-बैठे गरजकर) हमने कह दिया—जाओ यहाँसे! (मुँह बनाकर) आधी रातको चले हैं कपड़े माँगने, जैसे पंडितजीके घर कपड़ोंका भंडार हो ।

सरजू : (अत्यन्त कंपित स्वरमें) सरकार ! किवाड़ तो खोल दीजिए। उनके आनेतक मैं भीतर ही बैठा रहूँगा ।

कृपाशंकर : (भीतरसे ही उपेक्षा-भावसे) जाओ-जाओ ! यह कोई धर्मशाला नहीं है कि आए रातभर टिक गए ।

सरजू : (अत्यन्त निराश स्वरमें) अच्छा सरकार !

कृपाशंकर : (बड़बड़ाते हुए आराम-कुर्सीपर फिर लेटकर) सब लोगोंने पंडितजीको कामधेनु समझ लिया है । जब मनमें आया दुह लिया ।

[द्वारपर खट-खट]

हरिशंकर : (बाहरसे) खोलो कृपाशंकर !

कृपाशंकर : (उठकर झटकेसे) कौन ? भइया ! खोलता हूँ। (द्वार खोलकर) आपका दुशाला कहाँ गया ?

हरिशंकर : (निश्चिन्तताके साथ) एक दुखिया यहाँ जाड़ेमें ठिठुरता हुआ बाहर बैठा था । कुछ देर और बैठा रहता तो ठंढा हो जाता। उसीको दे दिया है।

कृपाशंकर : (आदरपूर्ण खीझके साथ) मैं समझ ही रहा था कि किसी दिन वह शाल भी आपकी दयाकी नदी बहा ले जायगी, तनपर

ठहरने नहीं देगी। वही हुआ। (कुछ रुककर) आपकी यह उदारता किसी दिन आपको भी इन्हीं के बराबर बना देगी।

हरिशंकर : (कपड़े उतारते हुए) तभी तो दरिद्रताका वास्तविक अनुभव होगा।

कृपाशंकर : (भावुक होकर) मैं तो उस दरिद्रताकी कल्पना करके ही काँप उठता हूँ। आज जो सैकड़ों अनाथों के आँसू पोंछता है, सान्त्वना देता है, वह जब निराश होकर कह बैठेगा—'भाई! दूसरेका द्वार देखो', तब उसके हृदयकी क्या दशा होगी?

हरिशंकर : (समझाते हुए चौकीपर बैठकर) जाने दो भाई! दुख-सुख, सम्पत्ति-विपत्ति सब भगवान् देता है। उसकी जो इच्छा हो करे। चलो, भोजन कर लो। तुम्हें भी मेरे कारण आज बड़ा विलम्ब हो गया।

कृपाशंकर : (भीतर जाते हुए) नहीं, मुझे क्या विलम्ब हुआ?

हरिशंकर : (स्नेहपूर्वक) जान पड़ता है तुम रुष्ट हो गए हो।

कृपाशंकर : (कुछ खिन्न मनसे) रुष्ट होनेको अब रह ही क्या गया है? अब घरमें एक चाँदीका थालभर बच रहा है और वह भी इसलिये कि पिताजीका स्मृति-चिह्न है, नहीं तो अबतक वह भी किसीकी झोलीमें पड़ गया होता।

हरिशंकर : जाने दो, जो हरिकी इच्छा होती है वही होती है।

[हरिशंकर आसन लगाकर चौकीपर बैठते हैं। कृपाशंकर एक छोटी चौकीपर भोजनकी थाली लगाकर रखते हैं। हरिशंकर जैसे ही जलका आचमन करते हैं वैसे ही द्वारपर खट-खट सुनाई पड़ती है।]

कृपाशंकर : (पुकारकर) कौन है?

[फिर खट-खट।]

हरिशंकर : (कृपाशंकरसे) खोल दो। कोई दीन-दुखिया होगा।

कृपाशंकर : (हठपूर्वक) आप भोजन कर लीजिए, तब मैं किवाड़ खोलूँगा।

हरिशंकर : (उठनेको उद्यत होते हुए) अच्छा लाओ, मैं ही खोल देता हूँ।
कृपाशंकर : (द्वारकी ओर जाते हुए) आप बैठिए, मैं ही खोल देता हूँ।

[कृपाशंकर द्वार खोलते हैं। द्वार खुलते ही जंगी नामका एक मनुष्य हाथमें कटार लिए भयानक मुद्रामें प्रवेश करता है। कृपाशंकर पीछे हटते हैं।]

हरिशंकर : (स्नेहपूर्वक जंगीसे) तुम कौन हो भाई ?
जंगी : (आँखें निकालकर, भर्राए गलेसे) भोजनको हाथ लगाया तो (कटार दिखाकर) यह कटार तुम्हारी छाती पार कर जायगी।
कृपाशंकर : (चिल्लाकर) अरे, दौड़ो, दौ........
जंगी : (झपटकर कृपाशंकरका गला पकड़ते हुए) बस चुप ! फिर चिल्लाया तो जीता न छोड़ूँगा।
हरिशंकर : (पास पहुँचकर स्नेहसे) क्यों भाई ! क्या चाहते हो ?
जंगी : (कृपाशंकरको छोड़कर अत्यन्त व्यंग्यभरी वाणीमें) क्या चाहता हूँ ? क्या चाहता हूँ ? चाहता हूँ कि सारे संसारमें एक बार आग लगा दूँ और जब सब तड़प-तड़पकर, चिल्ला-चिल्लाकर रोने लगे तब मैं उन्हें देख-देखकर खिलखिलाकर हँसूँ।
हरिशंकर : (अत्यन्त नम्रता-पूर्वक) तुम्हें क्या कष्ट है भाई ? क्या मैं तुम्हारी कोई सेवा कर सकता हूँ ?
जंगी : (घृणाके साथ) मेरा कष्ट ! (सूखी हँसी हँसकर) हः-हः-हः-हः ! कहाँतक सुनोगे ! (भयानक मुख-मुद्रा बनाकर) मेरी सारी देह, रग-रग, रोम-रोमम कष्ट ही कष्ट भरा हुआ है। देखते हो मेरी धँसी हुइ आँखें ? मेरा सूखा हुआ मुँह ?
हरिशंकर : (करुणाके साथ) जान पड़ता है आज तुमने भोजन नहीं किया।
जंगी : (आँखें फाड़कर) आज ? आज ही नहीं, तीन दिनसे भोजन नहीं मिला। मैं जिसके द्वारपर जाता हूँ वही मुझे महामारी, भूकम्प और ज्वालामुखी समझता है; जैसे मैं उन्हें निगल

जाऊँगा। पन्द्रह बरसपर परसों छूटकर आया हूँ। आज मैंने ठान लिया है कि मैं इस कटारका सहारा लेकर अपना पेट भरूँगा। संसार यही चाहता है तो यही हो।

हरिशंकर : (प्रेमपूर्वक) बस इतनी-सी बात है ? तो आओ, बैठ जाओ, बैठकर भोजन कर लो।

कृपाशंकर : (टोककर) भइया !............

हरिशंकर : (कृपाशंकरको आँखके संकेतसे रोकते हुए) ठहरो कृपाशंकर ! इस समय भोजनकी आवश्यकता मुझसे अधिक इसे है।

जंगी : (भोजनकी थालीके पास बैठकर मुँह बिचकाते हुए) इतनेसे मेरा काम नहीं चलेगा। कुछ और है ?

हरिशंकर—हाँ-हाँ, आप भोजन करते चलिए। जो कुछ घरमें है, सब आपके लिये आता रहेगा।

[जंगी दोनों हाथोंसे बड़े वेगसे भोजन करने लगता है। हरिशंकर बीच-बीचमें उससे पूछते चलते हैं और परोसते चलते हैं। वह सब भोजन समाप्त कर देता है।]

जंगी : और कुछ है ?

कृपाशंकर : (खीझकर) कुछ भी नहीं ....

हरिशंकर : (बीचमें टोककर कृपाशंकरसे) क्यों ? देखो, भंडारीमे मिठाई रक्खी होगी। वही ले आओ।

कृपाशंकर : (हरिशंकरसे) फिर आप...?

हरिशंकर : (समझाकर) मेरी चिन्ता न करो, ले आओ।

[कृपाशंकर मिठाईकी हँड़िया लाकर जंगीके सामने रख देते हैं। वह सब खा लेता है और एक डकार लेकर पानी पीकर अपने कुर्तेमें हाथ पोंछता है।]

हरिशंकर : और कुछ ?

जंगी : (निश्चिन्ततासे) बस, अब कुछ नहीं।

[थाली उठाकर देखता है और फिर थाली, लोटा, गिलास चौकीके नीचे सरका देता है ।]

हरिशंकर : (जंगीसे) अब आप कहाँ जायँगे ?

जंगी : (निश्चिन्तता, उपेक्षा और अन्यमनस्कताके साथ) कहीं नहीं। जाऊँगा कहाँ ? (नाक सिकोड़कर) मेरे लिये इस धरतीपर कहाँ ठिकाना है ? पर मैं इस ठढमें आकाशके नीचे भी नहीं सोना चाहता क्योंकि अभी संसार छोड़नेका मेरा जी नहीं चाह रहा है। मैं एक बार ईश्वरसे मिल लेना चाहता था। (दाँत पीसकर) एक बार मिल जाता तो उसे ठीक कर देता।

हरिशंकर : (दृढ़ताके साथ) तो आप यहीं विश्राम कीजिए। अभी मैं सब प्रबन्ध किए देता हूँ। कौन जाने ईश्वरसे भी आपकी यहीं भेंट हो जाय। (भोजनकी चौकी उठाकर नीचे रखते हुए और तकिया रखकर कम्बल देते हुए) लीजिए, अब आप यहीं लेटिए। मोमबत्ती जलती रहने दीजिएगा।

जंगी : (कम्बल लेकर) अच्छा !

[जंगी पैर फैलाकर कम्बल ओढ़कर लेटता है। हरिशंकर और कृपाशंकर भीतर जाते हैं। जंगी उठकर कमरेमें टहलने लगता है और फिर क्रमशः कमरेको सब वस्तुएँ टटोल-टटोलकर देखता है। एक चित्र गिरकर टूट जाता है। हरिशंकरका प्रवेश]

हरिशंकर : कहिए, क्या हुआ ?

आगन्तुक : (कुछ घबराकर) कुछ नहीं। नींद नहीं आ रही थी। (चित्र उठाकर) यह चित्र देख रहा था। अच्छा बना है।

[हरिशंकरको चित्र दे देता है।]

हरिशंकर : (चित्र लेकर) हाँ, यह बड़ा प्राचीन चित्र है। (चित्र यथास्थान टाँगते हुए) अच्छा, तो मुझे आज्ञा है न ?

जंगी : (हरिशंकरसे) हाँ, आप सोइए। मैं भी सोता हूँ।

[हरिशंकर भीतर जाते हैं। जंगी थोड़ी देर लेटकर धीरेसे उठता

है। बत्ती बुझाकर, चौकीके नीचेसे थाली उठाकर, पानी गिराकर, कम्बल ओढ़कर, कम्बलमें थाली छिपाकर चल देता है। बाहर सीटियाँ बजती हैं। 'कौन है? कौन है? पकड़ो, पकड़ो, जाने न पावे' का कोलाहल होता है। कृपाशंकर कमरेमें आकर दियासलाई जलाकर मोमबत्ती जगाते हैं।]

कृपाशंकर : (घबराए स्वरमें) भइया ! भइया !! देखिए, मैं कहता था न ! वह कम्बल लेकर भाग गया। (फिर नीचे पानी गिरा देखकर और थाली न देखकर) भइया ! लीजिए, वह चाँदीकी थाली भी उठा ले गया।

हरिशंकर : (निश्चिन्तताके साथ) चलो, अच्छा हुआ। एक चिन्ता और कम हुई। कमसे कम घरमें अब चोरको आकृष्ट करनेके लिये तो कोई वस्तु नहीं रह गई।

कृपाशंकर : (आदरके साथ झुँझलाकर) आपके इस वेदान्तने ही सारा घर चौपट कर डाला। थोड़े दिनों और यही दशा रही तो जो बचा-खुचा है वह भी समाप्त हो जायगा।

[द्वारपर खट-खट होती है।]

बजरंगीसिंह : (बाहरसे) द्वार खोलिए पंडितजी !

हरिशंकर : (पुकारकर) कौन है ?

बजरंगीसिंह : (बाहरसे) पुलिस।

हरिशंकर : चले आइए ! द्वार खुला है।

[जंगीके हाथ बाँधे हुए बजरंगीसिंहका प्रवेश।]

हरिशंकर : कहिए ?

बजरंगीसिंह : देखिए, यह चोर पकड़ा गया है। इसके पास आपकी चाँदीकी थाली मिली है। (थाली दिखाते हुए) आप पहचानते हैं न ! यह आपका नाम खुदा हुआ है।

कृपाशंकर : (थाली पहचानते हुए) हाँ-हाँ, मैं पहचानता हूँ। यह...

हरिशंकर : (बीचमें टोककर) हाँ-हाँ, यह थाली मेरी ही थी पर मैंने अभी

थोड़ी देर पहले अपने मित्रको दे दी थी।

बजरंगीसिंह : (जंगीको आगे करके) आप इसे पहचानते हैँ?

हरिशंकर : (देखकर आदरपूर्वक) अरे! ये ही तो मेरे मित्र अतिथि हैँ। इन्हेँ ही मैँने यह थाली भैंट की थी। खोलो, खोलो इनके बन्धन!

बजरंगीसिंह : (आश्चर्यचकित होकर) यह आपका अतिथि?

हरिशंकर : हाँ, हाँ, मेरे अतिथि। अभी यहाँसे भोजन करके तो गए हैँ।

बजरंगीसिंह : (जंगी और हरिशंकरसे) क्षमा कीजिए, भूल हुई।

[बंधन खोलकर और थाली देकर बजरंगीसिंह चले जाते हैँ।]

हरिशंकर : (जंगीको थाली देते हुए) आप यह थाली ले लीजिए। यह आपके ही लिये है। मेरे घर तो व्यर्थ ही रक्खी थी। आपका उससे बहुत कुछ काम चल सकता है।

[जंगी एकटक देखता हुआ थाली ले लेता है।]

कृपाशंकर : (खीझकर) भइया!

हरिशंकर : (टोककर) ठहरो कृपाशंकर!

जंगी : (कुछ देरतक हरिशंकरकी ओर देखता है, फिर घुटनोँके बल बैठकर) मेरे देवता! मैँने इसी घरमेँ आज ईश्वरको देख लिया—सामने मनुष्यके रूपमेँ। यह लीजिए अपनी थाली (थाली रखकर कटार देते हुए) और यह लीजिए कटार! मेरी छाती चीरकर इसमेँसे मेरे पाप निकाल फेँकिए। मैँ बहुत बड़ा अपराधी हूँ।

[रो पड़ता है और दोनोँ हाथोँपर कटार लेकर हरिशङ्करके आगे बढ़ा देता है।]

हरिशंकर : (उसे उठाकर गले लगाते हुए) उठो भाई! उठो! कौन कहता है तुम अपराधी हो? उठो, तुम्हीँ ईश्वर हो।

[जंगी सरककर हरिशङ्करके पैरोँपर गिर पड़ता है। कृपाशङ्कर आश्चर्यसे देखते रह जाते हैँ।]

[यवनिका-पतन]

———

२०

अनुवादकी शिक्षा

अनुवाद क्यों और कैसे ?

'किसी भाषामें व्यक्त भावों और विचारोंको दूसरी भाषामें व्यक्त करनेकी क्रियाको अनुवाद कहते हैं।' यद्यपि कुछ लोग भ्रमवश मौलिक रचनाकी अपेक्षा अनुवाद-कार्यको अत्यन्त सरल समझते हैं तथापि तथ्य इसका उलटा ही है। मौलिक रचनामें अपने विचार अपनी भाषामें अनायास ही व्यक्त किए जा सकते हैं परन्तु दूसरी भाषामें व्यक्त किया हुआ दूसरेका भाव अपनी भाषा या अन्य भाषामें ठीक-ठीक प्रकट करना बड़ा ही कठिन कार्य है।

अनुवादकी आवश्यकता

शिक्षित व्यक्तियोंको अपने जीवनमें अनुवादकी आवश्यकता बराबर पड़ा करती है। हिन्दी साहित्यको समुन्नत करनेकी दृष्टिसे भी यह आवश्यक है कि अन्य भाषाओंकी पुस्तकें हिन्दीमें अनूदित की जायँ। हिन्दी समाचार-पत्रोंके कार्यालयोंमें आज भी हिन्दी-सम्पादकका अर्थ है अनुवादक। कभी-कभी कुछ ऐसे वक्ता भी आते हैं जिनके व्याख्यानोंका अनुवाद करना पड़ जाता है। वैज्ञानिक साधनोंके कारण संसारके सब देश अब एक दूसरेके इतने समीप आ गए हैं कि सब एक दूसरेकी भाषा, कला, संस्कृति और साहित्यिक भावनाओंका अध्ययन करनेकी ओर प्रवृत्त हैं। विश्वराष्ट्र-संघकी ओरसे इस प्रकारकी एक संस्था ही अन्ताराष्ट्रिय, सामाजिक, शैक्षणिक तथा साहित्यिक प्रवृत्तियोंका

सामञ्जस्य स्थापित करनेके लिये बनी है। इन सब प्रवृत्तियोंमें अनुवादका ही सबसे अधिक महत्त्व है। इसलिये हमारे शिक्षाक्रममें अनुवाद-शिक्षाकी सुव्यवस्था परम आवश्यक है।

अनुवादके उद्देश्य

अनुवादके चार उद्देश्य होते हैं—

१. दूसरी भाषाके साहित्यसे अपनी भाषाके साहित्यको समृद्ध करना, क्योंकि अपना साहित्य तभी पूर्णता प्राप्त कर सकता है जब अन्य भाषाओंकी साहित्यिक गति-विधिका परिचय अपने यहाँके लोगोंको बराबर मिलता रहे।

२. अन्य भाषाओंकी शैलियाँ, मुहावरों आदिका ज्ञान प्राप्त करना।

३. विचार-विनिमयकी योग्यता प्राप्त करना।

४. अन्य भाषा-भाषियोंको अपने-साहित्य या विचारका परिचय देना।

अन्य भाषाओंका ज्ञान

अपने यहाँ शिक्षा-व्यवस्था बेढंगी होनेके कारण स्वयं अपनी मातृभाषामें न तो लोगोंकी रुचि ही है और न सम्यक् योग्यता ही। यहाँ तीन-चार भाषाएँ जाननेवाला व्यक्ति कौतुकालयकी वस्तु माना जाता है पर विदेशोंमें ऐसे-ऐसे व्यक्ति हैं जो छह-छह सात-सात भाषाओंके जानकार होते हुए भी नित्य नई भाषा सीखनेका उद्योग करते ही रहते हैं। साधारण शिक्षा-प्राप्त योरोपीय भी अपनी मातृभाषाके अतिरिक्त योरपकी कमसे कम दो-चार भाषाएँ सीखना आवश्यक समझता है, किन्तु हमारे यहाँ भाषा सीखनेकी प्रवृत्ति ही नहीं है।

हिन्दी अध्यापकको संस्कृत तथा उर्दू सीखना आवश्यक

हिन्दी भाषा-भाषी शिक्षित व्यक्ति तथा हिन्दीके अध्यापकको सी मातृभाषा तथा हिन्दीकी सहयोगिनी ब्रज, अवधी आदिके अतिरिक्त संस्कृत और फ़ारसी अवश्य जाननी ही चाहिए। संस्कृतकी

जानकारी इसलिये आवश्यक है कि संस्कृत हमारी सांस्कृतिक भाषा है। जन्मसे मृत्युतक हमारे सभी धार्मिक संस्कार संस्कृतमें होते हैं। संध्याके संकल्प और श्रीसत्यनारायणकी कथासे लेकर राज्याभिषेक और अश्वमेध-तककी विधियाँ संस्कृतमें ही होती हैं। हमारी मातृभाषाके ६४ प्रतिशत शब्द या तो संस्कृत तत्सम हैं या तद्भव। हमारा सांस्कृतिक इतिहास भी संस्कृतकी ही पिटारीमें बन्द है, इसलिये संस्कृत जाने बिना हिन्दीके अध्यापककी शिक्षा कभी पूर्ण नहीं कहला सकती। इसके पश्चात् दूसरा स्थान फ़ारसीका है जो उर्दूके माध्यमसे सीखी जा सकती है। उर्दू कोई स्वतन्त्र भाषा नहीं वरन् नागरीकी ही एक शैली है तथापि वर्त्तमान नागरीपर उसके फ़ारसी गठनका बड़ा प्रभाव पड़ा है। उर्दू लेखकों और आचार्योंकी सावधानीसे उर्दूका गद्य अत्यन्त प्रौढ और प्राञ्जल हो गया है क्योंकि मुहावरोंकी नाड़ी उर्दूवालोंने ठीक पहचानी है। ज़बानकी सफ़ाई उर्दूकी अपनी विशेषता है। उर्दूके द्वारसे सैकड़ों फ़ारसी-अरबी-तुर्कीके शब्द हिन्दीमें पैठ गए हैं। बड़े घरकी बेटी हिन्दीने उन्हें लाड़-प्यारसे पाला और अपनाया। अतः हिन्दीके अध्यापकको उर्दूका व्यावहारिक ज्ञान भी प्राप्त करना चाहिए और उर्दू-साहित्यकी सुन्दरता तथा उसके साहित्यको भली-भाँति आत्मसात् करनेका यत्न करना चाहिए। यद्यपि वर्त्तमान नागरी अर्थात् संस्कृत-निष्ठ नागरीमें अरबी-फ़ारसीका प्रयोग लगभग नहींके समान होता है फिर भी उर्दूके क्षेत्रसे हिन्दीमें प्रविष्ट होनेवाले प्रेमचन्दजी जैसे साहित्यकारोंकी रचना-शैलीका आनन्द लेनेके लिये यह आवश्यक है कि अध्यापकको उर्दू साहित्यका व्यावहारिक परिचय हो। अनुवादकके लिये तो यह अपरिहार्य है कि वह उन दोनों भाषाओंका समान अधिकारी पंडित हो जिसका और जिसमें वह अनुवाद करना चाहता हो।

अनुवाद-शिक्षाका आरम्भ

अपनी भाषाके साथ दूसरी भाषाकी शिक्षा आरम्भ होते ही अनुवाद-

शिक्षाका काम आरम्भ हो जाता है और यही होना भी चाहिए। पर हमारे यहाँ अनुवाद सिखानेका प्रचलित ढंग बड़ा ही दोषपूर्ण है। हिन्दी-भाषा-भाषी प्रान्तोंके विद्यालयोंमें हिन्दी-अँगरेज़ी अनुवाद प्रारम्भिक कक्षासे ही आरम्भ करा दिया जाता है किन्तु वहाँ अँगरेज़ीसे हिन्दीमें तो अनुवाद होता ही नहीं। वास्तवमें ठीक अभ्यास तभी हो सकता है जब अँगरेज़ी या किसी अन्य भाषासे हिन्दीमें अभ्यास कराया जाय।

अनुवाद-शिक्षाकी पद्धतियाँ

अनुवादका अभ्यास तीन प्रकारसे कराया जा सकता है—

१. दुभाषिया-पद्धति
२. पुस्तक-पद्धति
३. तुलना-पद्धति

दुभाषिया-पद्धति

इस पद्धतिमें एक व्यक्ति कुछ कहता चलता है और दूसरा व्यक्ति उसके वाक्योंका बराबर दूसरी भाषामें अनुवाद करता चलता है। इस पद्धतिका आश्रय ग्रहण करनेसे दोनोंमें शीघ्रतासे अनुवाद करनेकी योग्यता उत्पन्न हो जाती है।

पुस्तक-पद्धति

दूसरी पद्धति है अनुवादकी पुस्तकके सहारे अनुवादका अभ्यास करानेकी। यही पुस्तक-पद्धति हमारी पाठशालाओंमें आजकल प्रचलित है। ऐसी पुस्तकमें व्याकरणके क्रमसे ही वाक्य व्यवस्थित होने चाहिएँ जिससे अनुवादका क्रम चलानेमें सुविधा हो।

तुलनात्मक-पद्धति

इस पद्धतिमें एक आदर्श अनुवाद पहले दे दिया जाता है। मान लीजिए हमें अँगरेज़ीसे नागरीमें अनुवाद कराना है तो विद्यार्थीको पहले उसका एक आदर्श नागरी अनुवाद दे दिया जाय। जब वह उसे पढ़ ले तब

उसे मूल अँगरेज़ी अंश देकर उसीके आधापर अनुवाद करनेको कहा जाय। सब प्रकारके अभ्यासोँ में दूसरी भाषाके पारिभाषिक, अप्रचलित, अपरिचित तथा विशिष्ट शब्द अवश्य देते रहने चाहिएँ और विभिन्न भाषाओँकी वाक्य-प्रकृतिका भी पूरा परिचय दे देना चाहिए।

अनुवादकी शैलियाँ

अनुवाद करनेकी तीन शैलियाँ प्रचलित हैँ—

१. शब्दशः अनुवाद (लिटरल ट्रान्सलेशन)
२. छायानुवाद (सेन्स ट्रान्सलेशन)
३. स्पष्टानुवाद (ईडियोमेटिक ट्रान्सलेशन)

शब्दशः अनुवाद

अविकल या शब्दशः अनुवादमेँ 'मक्षिका-स्थाने मक्षिका'-न्यायसे एक भाषाके शब्दोँके स्थानपर उसी अर्थका द्योतक दूसरी भाषाका शब्द रखते चलते हैँ। इस शैलीकी जितनी निन्दा की जाय थोड़ी है। इसमेँ पग-पगपर अर्थके अनर्थ होनेकी सम्भावना बनी रहती है। उदाहरणके लिये हिन्दीका एक वाक्य ले लीजिए—

वह बालक बहुत सीधा है, उसे तंग न करो।

यदि इसका शाब्दिक अँगरेज़ी अनुवाद करेँ तो यह होगा—

दैट ब्वौय इज़ वैरी स्ट्रेट, डोण्ट नैरो हिम।

इसका क्या अर्थ होगा, यह आप ही विचार करेँ। अतः यह शैली सर्वथा त्याज्य है।

छायानुवाद

इसी प्रकार कुछ लोग छायानुवाद या मर्मानुवाद भी करते हैँ। इसमेँ सर्व-प्रथम तो यही विचारणीय बात है कि छाया अथवा मर्मका अनुवाद हो ही किस प्रकार सकता है। यह तो एक प्रकारसे पाठकोँको ही नहीँ, अपने आपको भी धोखा देना है। यह अनुवाद न होकर सारांश

होता है। इसीलिये अँगरेज़ीमें एक उक्ति चल पड़ी है कि 'अनुवाद प्रवञ्चक होते हैं।' इस दृष्टिसे छायानुवाद भी भ्रष्ट वस्तु है।

स्पष्टानुवाद

अनुवादका सबसे सुन्दर ढंग स्पष्टानुवाद है। अनुवादका उद्देश्य लेखककी भाषाका परिचय करना नहीं वरन् उसके भाव और उसकी अभिव्यञ्जना-शैलीसे पाठकोंको परिचित कराना होता है। इस शैलीके द्वारा क्लिष्ट वाक्योंका सरल अनुवाद प्रस्तुत किया जा सकता है। वाणभट्टकी कादम्बरी ऐसी समास-बहुला भाषामें है कि एक-एक वाक्य तीन-तीन पन्नोंतक चले गए हैं। उसके इसी बीहड़पनको देखकर किसी अँगरेज़ आलोचकने लिखा है कि 'कादम्बरी एक बीहड़ वनके समान है। उसे कितन भी क्यों न काटा और छाँटा जाय फिर भी भय बना ही रहता है कि कभी कोई समास-रूपी सिंह झपट न पड़े।' ऐसे ग्रन्थका शाब्दिक अनुवाद होना असंभव ही है। अब केवल स्पष्टानुवादकी ही एक शैली बच रहती है जिसके द्वारा हम अन्य भाषा-भाषियोंको कादम्बरीके आनन्दका उचित मात्रामें अनुभव करा सकते हैं।। एक-एक भावका अनुवाद एक-एक वाक्यमें करके हम अपनी उद्देश्य-पूर्ति कर सकते हैं। अनुवाद इस प्रकार प्रतीत होना चाहिए कि यदि मूल लेखक नागरी भाषामें ही वह ग्रन्थ लिखता तो उसी शैलीमें नागरीकी प्रकृतिके अनुसार किस प्रकार लिखता। एक मेघदूतका श्लोक लीजिए—

विद्युत्वन्तः ललितवनिताः सेन्द्रचापं सचित्राः
संगीताय प्रहतमुरजाः स्निग्ध-गम्भीरघोषम् ।
अन्तस्तोयं मणिमय - भुवस्तुङ्गमभ्रंलिहाग्राः
प्रासादास्त्वं तुलयितुमलं यत्र तैस्तैर्विशेषैः ॥

इसका शाब्दिक अर्थ एक विद्वान्ने यह किया है—

[उन उन विषयोंसे प्रासाद तुमसे तुलना करनेमें पर्याप्त है —तुम में बिजली उनमें सुन्दरियाँ, तुम इन्द्रधनुष-सहित वे चित्र-सहित, उनमें

संगीतके लिये बजाए हुए मृदंग तुममें कोमल गम्भीर घोष, तुममें जल उनमें मणि-जड़ी भूमि, तुम ऊँचे तो वे भी आकाश चाटनेवाली चोटियोंवाले।

इसका छायानुवाद यह किया गया है—

तुममें चटक रंग, ध्वनि, नीलापन और ऊँचाई आदि जो-जो बातें हैं, वे वहाँके भवनोंमें भी हैं।

किन्तु इसका स्पष्टानुवाद यह होना चाहिए—

हे मेघ! अलकापुरीके ऊँचे-ऊँचे भवन सब बातोंमें तुम्हारे ही जैसे हैं। यदि तुम्हारे साथ बिजली है तो उन भवनोंमें भी चटकीली नारियाँ है, यदि तुम्हारे पास इन्द्रधनुष है तो उन भवनोंमें भी रंग-बिरंगे चित्र बने हुए हैं, यदि तुम मृदु-गम्भीर गर्जन करते हो तो वहाँ भी संगीतके साथ मृदंग बजते हैं, यदि तुम्हारे भीतर नीला जल है तो उनकी धरती भी नीलमसे जड़ी हुई है और यदि तुम ऊँचेपर हो तो उनकी अटारियाँ भी आकाश चूमती हैं।

इन तीनों अनुवाद-रूपोंको देखकर ही यह परखा जा सकता है कि किस प्रकारका अनुवाद श्रेष्ठ होता है।

अनुवादका अनुवाद

अरस्तूके कथनानुसार अनुवादका अनुवाद कभी नहीं करना चाहिए क्योंकि अनुवाद करमें चाहे जितनी भी सावधानीसे क्यों न काम लिया जाय, फिर भी लेखकके मूल भावोंकी यथातथ्य रक्षा प्रायः असंभव है। अनुवादसे अनुवाद करनेमें हम लेखकके भावोंसे बहुत दूर पड़ जा सकते हैं।

अनुवादके नियम

अनुवाद करनेमें कुछ भाषा-सम्बन्धी नियमोंका पालन करना अत्यावश्यक है। ऐसे नियम हैं—

१. शैलीकी रक्षा।

२. भावकी रक्षा।

३. सरलता और सुबोधता।

४. नागरीकी प्रकृतिका अनुसरण।

मूल लेखकने जिस शैलीमें लिखा हो उसका अनुवाद उसी शैलीमें किया जाय। यदि मूल लेखकने मधुर शब्दोंका प्रयोग किया हो तो अनुवाद भी मधुर शब्दोंमें ही होना चाहिए। यदि मूल लेखककी शैली संगीतात्मक रही है तो अनुवादकी शैली भी संगीतात्मक ही होनी चाहिए।

व्यक्ति, धर्म, संप्रदाय और जाति-सम्बन्धी भावों, नामों तथा पारिभाषिक शब्दोंका यथार्थ अनुवाद होना चाहिए अर्थात् 'रैमसे' नामधारी व्यक्तिके अनुवादमें उसका नाम 'रामजी' नहीं कर देना चाहिए, अथवा 'प्रोटेस्टैण्ट' शब्दके लिये 'आर्यसमाजी ईसाई' का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

अनुवाद सरल और सुबोध हो। पढ़ते ही लेखकका भाव पाठक समझमें आ सके, किसी प्रकारकी जटिलता न बनी रह जाय।

अनुवादके वाक्योंका निर्माण नागरीकी प्रकृतिके अनुकूल हो। प्रायः इस बातका ध्यान अनुवादक नहीं रखते। एक संस्कृतका श्लोक लीजिए—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्द्धन्ते आयुर्विद्यायशोबलम्॥

एक अनुवादकने इसका अनुवाद इस प्रकार किया है—

अभिवादन करनेवालेके और नित्य वृद्धोंकी सेवा करनेवालेके चार बढ़ते हैं—आयु, विद्या, यश और बल।

इस अनुवादमें संस्कृतकी प्रकृतिके अनुकूल तो वाक्य-निर्माण हो गया है किन्तु नागरीकी प्रकृतिके अनुकूल नहीं हुआ, जो इस प्रकार होना चाहिए—

जो व्यक्ति नित्य बड़ोंका सम्मान करता और उनके पास उठता-बैठता है, उसकी आयु बढ़ती है, उसकी विद्यामें विकास होता है, उसका यश फैलता है और उसके बलमें भी वृद्धि होती है।

इसी प्रकार एक अँगरेज़ीका वाक्य लीजिए—

Carlyle was born in a Scot' border village in 1795, child of stone-mason father and a peasant mother, who taught herself to read and write so that she might answer her son's letters.

—Biography of Carlyle.

हिन्दीके एक लब्ध-प्रतिष्ठ अनुवादकने इसका यह अनुवाद कर डाला है—

कार्लाइल, सन् १७९५ में स्कौटलैंडके सीमान्त ग्राममें उत्पन्न हुआ, संगतराश और एक किसान स्त्रीका बच्चा, जिसने अपनेको पढ़ना और लिखना सिखाया जिससे कि वह उसके लड़केके पत्रोंका उत्तर दे सके।'

—कार्लाइलकी जीवनी।

इसका अनुवाद इस प्रकार होना चाहिए था—

'कार्लाइलका जन्म स्कौटलैंडके एक सीमान्त ग्राममें सन् १७९५ में हुआ। उसके पिता प्रस्तर-शिल्पी थे और माता किसान-कन्या। माताने स्वयं इसलिये पढ़ना-लिखना सीखा कि मैं अपने पुत्रके पत्रोंका उत्तर दे सकूँ।

तात्पर्य यह है कि अनुवाद करते समय यह नहीं सोचना चाहिए कि एक गुम्फित वाक्यका अनुवाद एक ही वाक्यमें हो। आवश्यकता देखकर उसके कई वाक्य बना लेने चाहिएँ। उसमें केवल यही देख लेना चाहिए कि—१. मूल लेखककी कोई बात छूटती तो नहीं; २. उसके मूल अर्थसे कोई भिन्न अर्थ तो नहीं निकलता और; ३. अर्थ अस्पष्ट तो नहीं है।

२१

द्रुतवाचनकी शिक्षा

स्वाध्याय और वाचन

हमारे पाठ्य-क्रममें पाठ्य-ग्रन्थोंके साथ-साथ कुछ ऐसी पुस्तकोंका भी विधान किया जाता है जिन्हें सत्वर-वाचनी (रैपिड रीडर्स) कहते हैं। ऐसी पुस्तकोंमें प्रायः कथा-कहानियाँ तथा महापुरुषोंके जीवन-चरित आदि होते हैं। इन्हें पाठ्य-क्रममें रखनेका उद्देश्य यह होता है विद्यार्थी किसी भी पुस्तकको अपने आप पढ़कर उसका भाव समझ सके। किन्तु ऐसी पुस्तकें भी प्रायः उसी प्रकार पढ़ाई जाती हैं जैसे पाठ्य-पुस्तकें। उन्हें पढ़ाते समय भी प्रत्येक कठिन शब्दका अर्थ और एक-एक वाक्यका भावार्थ बतलाया जाता है। यह क्रम नितान्त भ्रमपूर्ण तथा द्रुत-वाचनके उद्देश्यसे ही दूर है क्योंकि पाठ्य-क्रममें द्रुत-वाचनकी व्यवस्था करनेका उद्देश्य ही यह है कि विद्यार्थी किसी भी लिखित या मुद्रित सामग्रीको शीघ्रतासे पढ़कर उसका अर्थ या भाव समझ सके।

द्रुत-वाचनका विधान

ऐसी पुस्तकोंको कक्षामें पढ़ानेके दो विधान हैं—

१. एक-एक विद्यार्थीसे एक-एक अनुच्छेदका सस्वर वाचन कराया जाय और एक-एक अनुच्छेदका भावार्थ प्रश्नों द्वारा कहला लिया जाय।

वाचन दो उद्देश्योंसे होता है—१. स्वयं-वाचन या अपने लिये बाँचना, २. श्रव्य वाचन या दूसरोंको बाँचकर सुनाना। इनमेंसे स्वयं-

वाचन भी दो प्रकारका होता है— क. केवल मौन या दृष्टि-वाचन और ख. सस्वर या स्फुट वाचन। श्रव्य वाचनके भी दो रूप होते हैं—क. दूसरोंको सुनानेके लिये पुस्तक या काग़ज़ देखकर सस्वर बाँचकर सुनाना और ख. पुस्तककी सामग्री कंठ करके उसे सस्वर दूसरोंके सम्मुख पढ़ना या लय-पाठ (रैसीटेशन) करना। इनमें भी वे ही सब गुण होते हैं जो सस्वर पाठमें होते हैं। यह लय-पाठ तथा श्रव्य वाचन एकाकी स्वान्तःसुखाय भी किया जा सकता है और समवेत रूपमें मिलकर भी। यद्यपि सामूहिक श्रव्य वाचन या लय-पाठ गद्यका भी हो सकता है जैसे गिरजाघरमें हुआ भी करता है किन्तु भाषा-शिक्षणके लिये प्रारम्भिक कक्षाओंमें भले ही गद्यका लय-पाठ करा लिया जाय किन्तु उसका वास्तविक प्रयोजन कविता-पाठमें ही सिद्ध होता है।

स्वयं-वाचन भी तीन दृष्टियोंसे किया जाता है—१. वेगसे पुस्तक पढ़कर उसका अर्थ समझनेके लिये, २. अपनी वाचन-शक्ति बढ़ानेके लिये, ३. अपनी दृष्टि-परिधि (आइ-स्पैन) ठीक करनेके लिये अर्थात् आँखें इस प्रकार साध लेनेके लिये कि एक बार पुस्तककी ओर देखते ही इतनी पर्याप्त सामग्री आँखमें समाकर स्मृतिसे सम्बद्ध हो जाय कि पढ़नेवाला पुस्तकसे सिर उठाकर श्रोताओंकी ओर मुँह करके उसका पाठ कर सके।

२. कक्षामें एक पूरा पाठ मौन वाचनके लिये दे दिया जाय और अध्यापक यह देखता रहे कि सब विद्यार्थी पढ़ रहे हैं या नहीं। जब वे पढ़ चुकें तब पाठका भाव उनसे प्रश्नों-द्वारा कहला लिया जाय।

द्रुत-पाठमें मौन वाचन

मौन वाचनका वास्तविक उपयोग द्रुत-पाठके प्रसङ्गमें ही कराया जा सकता है क्योंकि कथा-कहानी अथवा जीवनचरित स्वभावतः रुचिकर होते हैं और विद्यार्थी चाहता है कि वह शीघ्रसे शीघ्र

घटनाओंके उतार-चढ़ावको पार कर ले। उस वाचन-प्रवाहमें एक आध कठिन शब्द या वाक्य उसके अर्थ-बोधके मार्गमें बाधा नहीं उत्पन्न करते क्योंकि उनमेंसे तो कुछ प्रसंगवश स्पष्ट होते चलते हैं और जो बच जाते हैं वे भी कथा-बोधमें रुकावट नहीं डाल पाते, क्योंकि वहाँ शब्द-भाण्डार बढ़ाना नहीं, वरन् अर्थ ग्रहण करना ही उद्देश्य होता है। इस प्रकारकी पुस्तक या पाठ पढ़ाते समय मौन वाचनका विधान उचित, संगत तथा लाभकर हो सकता है क्योंकि इससे धीमी चालवालोंको सहारा मिल जाता है और तीव्र गतिसे पढ़नेवालेको सुन्दर सुयोग।

नागरी स्वयं इतनी शुद्ध तथा सरल भाषा है कि इसमें उच्चारण-सम्बन्धी भूलें अधिक हो नहीं सकतीं।

तवाचनकी शिक्षण-प्रक्रिया

द्रुतवाचनके शिक्षणमें निम्नलिखित क्रमका प्रयोग करना चाहिए—

१. **प्रस्तावना :** विषयका ऐसा परिचय दिया जाय कि छात्रोंको केवल विषयका नाम ही भर ज्ञात हो पावे, उसकी सामग्रीका बोध न हो।

२. **आत्मीकरण :**।

क. **वाचन :** प्रारम्भिक कक्षाओंमें एक-एक अन्वितिका मौन या सस्वर वाचन और उच्च कक्षाओंमें पूरे पाठका मौन वाचन।

ख. **बोध-परीक्षा :** जब छात्र पढ़ चुकें तब छोटी कक्षाओंमें एक-एक अन्वितिके पाठपर प्रश्न करके उसका सारांश निकलवाना और ऊँची कक्षाओंमें प्रश्न करके पूरी कथा या विषय कहलवाना।

३. आवृत्ति: प्रश्न-द्वारा छात्रोंसे पूरे पाठकी सामग्री कहलवाकर सूत्र-रूपमें श्यामपट्टपर लिख देना।

४. प्रयोग : दिए हुए सूत्रके अनुसार पढ़े हुए पाठको अपने शब्दोंमें किन्तु पाठकी ही शैलीमें लेखबद्ध करनेका आदेश देना।

द्रुतवाचनके विषय और भाषा

द्रुतवाचनके लिये जो पुस्तकें हों उनमें निम्नलिखित प्रकारके पाठ होने चाहिएँ—

वर्णन; कहानियाँ; नाटक; पत्र; जीवन-चरित; यात्रा; दिनचर्य्या; संवाद; आत्मकथा और रेखा-चित्र।

इनकी भाषा तथा सम्पादनके सम्बन्धमें भी वे ही नियम हैं जो पाठ्य-पुस्तकोंके लिये पीछे दिए गए हैं। हम नीचे 'मानव' नामकी एक कहानी अत्यन्त सरल, ठेठ, तद्भवात्मक नागरी शैलीमें और संस्कृतनिष्ठ साहित्यिक नागरी शैलीमें दे रहे हैं जो क्रमशः प्रारंभिक कक्षा तथा उच्च कक्षामें द्रुतवाचनके लिये प्रयुक्त की जा सकती है। वर्णन, पत्र, यात्रा, दिनचर्य्या, संवाद, आत्मकथा, रेखाचित्र, और जीवनचरितकी भाषा-शैली भी इसी प्रकार विभिन्न कक्षाओंमें क्रमिक होना चाहिए।

मानव

[प्रारम्भिक कक्षाके लिये]

[कहानी]

टीलेकी ऊँची रेतीली चोटीपर चढ़कर जो मैंने चारों ओर आँखें दौड़ाईं तो देखता क्या हूँ कि दूरपर धरती-अकासके मिलनकी झिलमिलीमें अटपट फैली हुई हरियालीकी झुरमुटमें, अपने लाल खपरैलोंपर पच्छिमकी गोदमें ढलते हुए सूरजकी पिछली धूप-छाँह-भरी किरनें लहराता हुआ, एक सुहावना-सा, लुभावना-सा, नन्हाँ-सा झोंपड़ा उस साँझकी लालाईमें हँसता, मुस्कुराता और बुलाता-सा चमक रहा है। मेरे साथ मेरी घरनी चलते-चलते थककर चूर हो चली थी, उसकी साँस फूलने लगी थी और वह रह-रहकर पूछती जा रही थी—"कहिए अभी कितना चलना है?"

अभीतक जो अपनी कोठरीसे आँगन-तकको ही सारी धरती समझे हुए थी, जो भूलकर भी कभी दस पग नहीं चली थी, उसके लिये यह कोस

भरका पैंड़ा पहाड़ हो चला था। फिर भी मैं उसे फुसलाता, बहलाता, झूठमूठ ढाढ़स बँधाता, चुटकुलों और कहानियोंकी भूल-भूलैयामें उलझाता अभीतक चला आ रहा था। पर अब उसके धीरजका बाँध टूट चुका था, बहलाने-फुसलानेके सब फन्दे ढीले पड़ चुके थे, इसीलिये मैं इस टीलेपर चढ़कर देख लेना चाहता था कि कहीं आस-पास भादोंके अँधेरे पाखकी काली रात काटनेको कोई ठौर मिल मिल पावेगी भी या नहीं।

उस झोंपड़ीको देखकर मेरे जीमें जी आया। मैंने अपना हाथ फैलाकर उँगली साधकर उसे दिखाया—'वह देखो! घने पेड़ोंकी आड़में चमकता हुआ लाल झोंपड़ा! बस वहीं-तक तो चलना है। दस डग मारे और पहुँचे।'

छबीली साँझकी झेंपसी लजाकर, मुँदे और झुके हुए कमल-सी अलसाकर, थकी और झुकी हुई, वह वैसे ही मनमें भुनभुनाने लगी जैसे दिन-ढले कमलकी गोदमें बँधे हुए भौंरे गुनगुनाया करते हैं। उसके पैर पत्थर हो चुके थे। वह आगे बढ़ना नहीं चाहती थी। पर देखते-देखते अचानक पच्छिमकी ललाईपर गहरा पीलापन छाने लगा और सूरजकी छिपती हुई किरनोंपर धुँधली पीली चादरका एसा तनाव तना कि उसे और मुझे दोनोंको यह जान पड़ने लगा कि आँधी आनेवाली है और कौन जाने उसके साथ पानी भी हो।

हम दोनों झटपट उस रेतीले टीलेसे उतर आए और अपने थके हुए पैरोंमें पहिए बाँधकर लम्बे लम्बे डग बढ़ाते हुए उस झोंपड़ीकी सीधमें लपक चले। पर आँधी हम लोगोंसे सौ गुने झोंकके साथ चली आ रही थी। देखते-देखते वह सिरपर आ ही तो चढ़ी। आँधीमें पेड़ और छप्पर दोनों बैरी हो जाते हैं। कौन जाने किस झोंकमें वह अपनी मोटी डाल तोड़कर नीचे बैठे हुए लोगोंको दबाकर पीस डाले। इसी डरसे हम लोग आँधीकी झोंकमें जड़तक काँप उठनेवाले पेड़ोंसे बचते-निकलते, आँधीकी छाती चीरते, कपड़े सँभालते, डग बढ़ाते चले जा रहे थे। उड़ते हुए रेतके कनकों और तिनकोंके मारे बटिया नहीं सुझाई दे रही थी।

आँधी कहती थी—'पीछे हटो'। हम डटे हुए थे—'नहीं! आगे बढ़ेंगे।'

पर आँधी क्या इतनेसे माननेवाली थी? वह अपने साथ जिन काले घनियल बादलोंके झुण्डके झुण्ड घेरे चली आ रही थी, वे अपनी बान-सी बूँदें बरसा-बरसाकर गरजने लगे। फिर भी हम दोनों डरे नहीं, घबराए नहीं, हारे नहीं और चलते ही रहे। पर जब पानी धुँआँधार बरसने लगा, बिजलियाँ कड़क-कड़कर पहाड़ोंकी चोटी और धरतीकी छाती फाड़ने लगीं और मेरी घरवाली भीगकर, थककर, ठोकर खाकर गिर पड़ी, तब मेरा बोझ बढ़ गया। मैंने उसे कन्धेपर लादा और आध घण्टे उस आँधी-पानीसे लड़ता, कँटीले, पथरीले, ऊबड़-खाबड़ ऊँचे-खालेको लाँघता ज्यों-त्यों करके उस झोंपड़ीतक पहुँच पाया।

वहाँ पहुँचकर उसे मैंने उसी झोंपड़ीकी बाहरी मड़ैयामें लिटा दिया और यह सोचने लगा कि कोई मिले तो कपड़ बदलनेकी जुगत लगे। अभी पानीका तार नहीं टूट रहा था। आँधी भी थमनेका नाम नहीं ले रही थी और चौवाईके मारे चारों ओरसे पिछवाड़ मार रही थी। ज्यों ही मैं कुंडी खटखटानेके लिये आगे बढ़ा त्यों ही मेरे कानमें कुछ लोगोंकी बतकहीकी भनक पड़ी। उस बातचीतमें अपना नाम सुनकर तो मानो मुझे काठ मार गया, साँप सूँघ गया, पैरों तलेसे धरती खिसक गई। जिन लोगोंके चंगुलसे बच निकनेके लिये मैंने यह टेढ़ी बटिया पकड़ी थी, वे यहाँ पहलेसे ही आ धमके हैं।

पर अब कोई दूसरा चारा नहीं था। इस आँधी-पानीमें भागूँ भी तो कहाँ जाऊँ? और कुंडी खटखटानेमें डर यह था कि कहीं पकड़ न लिया जाऊँ। मैंने अपनी घरवालीको देखा। वह अपनी सुध-बुध खोकर लकड़ी बनी पड़ी थी। बिपदामें यह नई बिपदा कहाँसे आ खड़ी हुई? मैं इसी उधेड़-बुनमें पड़ा ही था कि इतनेमें किवाड़ भड़भड़ाए और एक लम्बा-चौड़ा, हट्टा-कट्टा जवान उसमेंसे निकल ही तो आया। बिजलीकी चमकमें उसे पहचानते मुझे देर न लगी। यह वही थानेदार था जो पिछले दो बरससे मुझे ढूँढ़नेके लिये धरती-आकाश एक किए हुए था और वह

भी इसलिये कि मुझे ढूँढ़ निकालने-वालेको सरकारकी ओरसे भारी थैली मिलनेवाली थी क्योंकि मैं उन लोगोंका मुखिया समझा जाता था जो उन दिनों अँगरेज़ी सरकार उलटनेका बीड़ा उठाए हुए थे।

उसने कड़ककर पूछा—'कौन है?' मैंने धीरेसे, जहाँतक बन सका, अपनी बोली बदलते हुए कहा—'हम बटोही हैं। आँधी-पानीमें इधर आ निकले हैं। मेरी घरवाली भीँग गई है और इसे जूड़ी चढ़ आई है, इसका तन जल रहा है।'

मेरे सिरपर टोप देखकर वह समझा कोई भलेमानुस हैं। उसने झट पासकी कोठरीकी कुंडी खोली और कहा—'आप लोग इसमें आ जाइए क्योंकि बाहर पिछवाड़ मार रही है और चौवाई चलनेसे यहाँ भी पानी ही पानी हो गया है।' मैंने अपनी घरवालीको उठाकर उस कोठरीमें ले जाकर लिटा दिया। पर मेरा जी अब भी धुक-धुक कर रहा था कि कहीं पहचान लिया गया तो? पर अब तो ऊखलमें सिर दे दिया था, मूसलसे क्या डरना था। ज्योंही हम भीतर आए त्योंही उसने झट दियासलाई निकालकर जगाई। उसकी धुँधली पीली लौमें भी उसने मेरा मुँह देखते ही पहचान लिया और झट बढ़कर मेरा गट्टा पकड़ ही तो लिया—'तुम!'

मैं खड़ा हो गया। उसके दाहिने हाथमें जलती हुई दियासलाईकी लौमें ही सीधे छाती तानकर मैंने कहा—'हाँ मैं!'

दियासलाई बुझ गई पर उसी अँधेरेमें मैं कहता रहा—'तुम मुझे जहाँ चाहे ले चलो पर तुमसे एक भीख माँगता हूँ।'

मेरा हाथ पकड़े ही पकड़े वह बोला—'क्या?'

मैं कह रहा था—'मेरे साथ मेरे दुख-सुखमें साथ देनेवाली यह मेरी घरवाली अचेत पड़ी है। इसे मेरे घर पहुँचवा दीजिएगा और जब यह आँख खोले तब इससे धीरेसे कह दीजिएगा कि मैं दो बरस-तक बचता-घूमता हुआ भी तुम्हें बचानेके फेरमें पकड़ा गया। इतना करोगे?'

उसी अँधेरेमें मुझे ऐसा जान पड़ा कि लोहेकी मोटी छड़से भी कड़ी जिन

उँगलियोंसे वह मेरा हाथ कसे हुए था, वे ढीली पड़ रही हैं और एक झटकेके साथ मेरा हाथ छूट गया है।

उसके मुँहसे इतनी ही बात सुनाई दी—'तुम इस बिपदामें न होते तो मैं तुम्हें अभी पकड़कर ले जाता और कल ही सरकार मुझे पैसा भी देती और मैं ऊँचे चढ़ाकर भेज भी दिया जाता। पर इस घड़ी मैं तुम्हें छोड़ देता हूँ। जबतक हम लोग चले न जायँ तबतक इस कोठरीसे बाहर पैर धरनेका नाम न लेना।'

राम-राम करते तीन घण्टेमें आँधी ठंडी पड़ी, बादल खुलने लगे और वे लोग भी निकलकर न जाने किस ओर चल दिए। उनके चले जानेपर पासके गाँववालोंको जगाकर मैंने अपनी बिपदा सुनाई। उन्होंने दूध दिया, लपनी जगा दी और माताएँ आकर मेरी घरनीकी देखभाल करने लगीं।

तीन महीने पीछे जब मेरी घरवाली अच्छी हो गई, मैं अकेला उस थानेदारके घर अचानक रातको पहुँचा। मुझे देखते ही वह अवाक् रह गया—'तुम! यहाँ?' मैं बोला—'अब मेरी घरवाली अच्छी हो गई है। उस दिन आपने मुझे छोड़कर जो दया दिखाई थी उसका बोझ मैं सँभाल नहीं पा रहा हूँ। आप मुझे पकड़ लीजिए। आपको पैसा भी मिलेगा और सरकार आपको कहीं ऊँची गद्दी भी दे देगी।'

वह खड़ा हो गया। उसने थोड़ी देरतक मेरी आँखोंमें आँखें डालकर घूरकर देखा और फिर मेरे दोनों कन्धोंपर अपने हाथ रखकर बोला—'मैं नहीं जानता था कि तुम इतने सच्चे कुन्दन हो। पैसा और ऊँची गद्दी दोनों मुझे नहीं चाहिए। जाओ चुपचाप धीरेसे निकल जाओ।'

मैंने मन ही मन उसके बड़प्पनके आगे सिर झुका लिया और चुपचाप यह सोचता हुआ चला आया कि इन गए-बीते दिनों भी क्या कोई इतना भला हो सकता है!

मानव

[उच्च कक्षाओंके लिये]

[कहानी]

वप्रके समुन्नत बालुकामय शिखपर आरूढ होकर जो मैंने चतुर्दिक् दृष्टि-निक्षेप किया तो मुझे प्रतीत हुआ कि सुदूर धरणी-आकाशके सम्मिलन-तीर्थपर अनियमित रूपसे विकीर्ण हरीतिमाकी छायामें अपने रक्तिम खपरैलोंपर पश्चिम दिशाके क्रोडमें अङ्कस्थ होते हुए भास्करकी अन्तिम आलोक-छाया-पूर्ण किरण-माला अङ्कित करता हुआ, एक सुशोभन, मनोहर, अत्यन्त लघु कुटीर, उस सान्ध्य लालिमामें मन्दस्मितिसे हँसता और निमन्त्रण देता-सा उद्भासित हो रहा है। मेरे साथ मेरी धर्मपत्नी इस सुदूर यात्रासे अत्यन्त क्लान्त हो चली थी। उसका प्रश्वास-वेग बढ़ गया था और क्षण-क्षणपर वह आतुर जिज्ञासा करती जा रही थी—'कहिए, अभी कितना मार्ग शेष है?'

अभीतक जो अपने वास प्रकोष्ठसे प्राङ्गणतककी भूमिको ही सम्पूर्ण धरित्री समझे हुए थी, जिसने कभी भ्रमवश भी अपने आवाससे बाहर पद-प्रक्षेप नहीं किया था, उसके लिये यह क्रोश-यात्रा दुर्गम पर्वतके समान विषम बन गई। अभीतक मैं उसे येन-केन-प्रकारेण आश्वासन देता, मिथ्या सान्त्वना प्रदान करता, अनेक प्रकारकी उक्तियों और कथानकोंकी वात्यामें उलझाता चला आ रहा था किन्तु अब उसके धैर्यका प्राचीर टूट चुका था, आश्वासन और सान्त्वनाके सम्पूर्ण बन्धन शिथिल पड़ चुके थे, इसीलिये मैं इस वप्रपर आरोहण करके यह जान लेना चाहता था कि कहीं समीप कृष्णपक्षकी अन्धरात्रि व्यतीत करनेके लिये कोई आश्रय प्राप्त हो पावेगा या नहीं।

उस कुटीरको देखकर मुझे धैर्य प्राप्त हुआ। मैंने अपना दक्षिण हस्त प्रसारित करके तर्जनीके सङ्केतसे उसे आश्वस्त किया—'वह देखो! सघन वृक्षोंकी छायामें उद्भासित लाल कुटीर! बस, वही तो गन्तव्य स्थान है। दस पग चलकर लक्ष्यपर पहुँच जायँगे।'

सुन्दरी सन्ध्याकी व्रीडाके समान सलज्ज, मुद्रित और विनत कमलके समान तन्द्रिल और क्लान्त होकर वह उसी प्रकार मन ही मन आक्रोश प्रकट करने लगी जैसे सायंकालकी वेलामें कमलके क्रोडमें वन्दी भ्रमर मन्द ध्वनि करते हुए गूँजते हैं। उसके चरण पाषाण हो चुके थे। वह किञ्चित् भी आगे चलनेके लिये प्रस्तुत नहीं थी। किन्तु सहसा पश्चिमकी लालिमापर गम्भीर पीतिमा आवृत होने लगी और क्षण-भरमें सूर्यकी अस्तंगत किरणोंपर धूसर आवरणका ऐसा वितान तना कि उसे और मुझे दोनोंको ज्ञात हो गया कि प्रभञ्जनका आगमन हो रहा है और सम्भव है भयंकर जल-वृष्टि भी उसका अनुगमन कर रही हो।

हम दोनों तत्काल उस बालुकामय वप्रसे उतरे और अपने श्रान्त चरणोंमें चक्र बाँधकर अत्यन्त वेगसे उस कुटीरकी दिशामें अग्रसर हो चले! किन्तु प्रभञ्जन हम लोगोंकी अपेक्षा शतगुणित वेगसे चला आ रहा था। निमिष मात्रमें वह आकाशमें शिरपर आ चढ़ा। प्रभञ्जनमें वृक्ष सबसे बड़ा शत्रु होता है। न जाने किस आवेगमें वह अपनी पीन शाखा विभक्त करके अपने आश्रयमें शरण लेनेवाले आश्रितोंको आक्रान्त करके विचूर्ण कर डाले। इसी भयसे हम लोग प्रभंजनके वेगसे आमूल कम्पित हो उठनेवाले वृक्षोंसे दूर-दूर चलते हुए, प्रभञ्जनके वेगको समाह्वान करते हुए, अपने वस्त्र सँभालते हुए, अग्रसर होते जा रहे थे। प्रभञ्जनके वेगसे उड्डीयमान बालुका-कणों और तृणोंके कारण मार्ग अस्पष्ट हो चला था। प्रभञ्जन गर्जन कर रहा था—'पीछे हटो।' हम भी दृढप्रतिज्ञ थे—'नहीं! पश्चात्पद नहीं होंगे।'

किन्तु वह महाप्रभञ्जन इतनेसे ही सन्तुष्ट नहीं हुआ। वह अपने साथ जिन श्यामल, जल-पूर्ण वारिद-समूहोंको घेरे चला आ रहा था, वे अपने बाण-सदृश जल-बिन्दुओंका वर्षण करके भयंकर गर्जन करने लगे। तथापि हम दोनों भयभीत नहीं हुए, विचलित नहीं हुए, पराजित नहीं हुए और गतिशील ही रहे। किन्तु सब धाराधरोंने अखण्ड धारामय वृष्टि प्रारम्भ कर दी। सौदामिनी भी पर्वत-शिखरों और धरणीके वक्षःस्थलको विदीर्ण

करती हुई गम्भीर निनाद करने लगी और मेरी सहधर्मिणी भी जलार्द्र होकर, श्रान्त होकर, ठोकर खाकर गिर पड़ी। तब मेरा भार सम्वर्द्धित हो गया। मैं उसे पृष्ठपर समासीन करके, आध घण्टे उस वर्षा-प्रभञ्जनसे संघर्ष करता, उस कण्टक-प्रस्तराकीर्ण अति विषम जलमय स्थलीका लंघन करता हुआ येन-केन प्रकारेण उस कुटीरतक जा पहुँचा।

वहाँ पहुँचकर मैंने अपनी संगिनीको उस कुटीरकी बहिर्गत छायामें लिटा दिया और यह चिन्तन करने लगा कि यदि कोई सज्जन प्राप्त हो जायँ तो वस्त्र-परिवर्त्तन करनेकी सुविधा हो। अभी जल-वृष्टि अखण्ड रूपसे होती जा रही थी, प्रभञ्जनका वेग भी किसी प्रकार मन्द नहीं पड़ रहा था और चतुर्दिक् प्रवहमान पवनके कारण चारों ओरसे पवनके साथ-साथ जल-सीकरका वेग भी प्रबल था। जैसे ही मैं द्वारकी श्रृंखला खटखटानेके लिये आगे बढ़ा वैसे ही मेरे कर्ण-कुहरोंमें कुछ मानव-वार्त्तालापकी ध्वनि गोचर हुई। उस वार्त्तालापमें अपना नाम सुनकर मैं स्तब्ध रह गया, हतप्रभ हो गया, क्योंकि जिन लोगोंके जालसे त्राण प्राप्त करनेके लिये मैंने यह विपन्थ ग्रहण किया था, वे मेरे आगमनसे पूर्व ही वहाँ उपस्थित हो चुके थे। किन्तु अब कोई दूसरा मार्ग भी नहीं था। इस प्रभञ्जन और प्रवर्षणमें पलायन भी सम्भव नहीं था और श्रृंखला-वादनमें यह भय था कहीं वन्दी न हो जाऊँ। मैंने अपनी गृहिणीकी ओर देखा। वह मूर्च्छित होकर काष्ठवत् पड़ी थी। यह एक विपत्तिमें दूसरी महाविपत्ति कहाँसे आ उपस्थित हुई! मैं किंकर्त्तव्यविमूढ होकर मनन कर ही रहा था कि इतनेमें कपाट ध्वनित हुए और एक दीर्घ-काय हृष्ट-पुष्ट युवक उस द्वारसे बहिर्गत हुआ। सौदामिनीके प्रकाशमें उसका अभिज्ञान करनेमें मुझे तनिक भी विलम्ब नहीं हुआ। यह वही राज-पुरुष था जो विगत दो वर्षोंसे मेरा अन्वेषण कर रहा था, इसीलिये कि मुझे वन्दी करनेवालेको राज्यकी ओरसे गम्भीर पुरस्कार घोषित था क्योंकि मैं ऐसे लोगोंका अग्रणी समझा जाता था जो उन दिनों अँगरेज़ी राज्य समाप्त कर देनेके लिये कृतसंकल्प थे।

उसने अत्यन्त कठोर स्वरमें पूछा—'कौन है ?' मैंने यथासंभव अपनी ध्वनि परिवर्तित करके अत्यन्त मन्द स्वरमें कहा—'हम यात्री हैं। वर्षा-प्रभञ्जनके कारण हमने इस कुटीरकी शरण ली है। मेरी गृहिणी जलार्द्र हो गई है। इसे शीतज्वर हो आया है और इसका शरीर अत्यन्त उष्ण हो गया है।'

मेरे सिरपर टोप देखकर उसे ज्ञात हुआ कि हम कोई सज्जन हैं। उसने तत्काल समीपवर्ती प्रकोष्ठका द्वार खोला और कहा—'आप लोग भीतर विश्राम कीजिए क्योंकि बाहर प्रभञ्जनके वेगसे सब जलमय हो गया है।' मैंने अपनी पत्नीको उठाकर उस प्रकोष्ठमें ले जाकर लिटा तो दिया किन्तु मेरा हृदय अब भी शङ्कित था कि कहीं मेरा प्रज्ञान हो गया तो! किन्तु अब तो उलूखलमें शिर दे दिया था, मुशलसे क्या भय! ज्योंही हम लोग भीतर आए त्योंही उसने दीप-शलाका निकालकर प्रज्वलित की, जिसके धूमिल पीताभ प्रकाशमें भी उसने मेरा मुख देख लिया। वह तत्क्षण पहचान गया और उसने बढ़कर मेरा मणिबन्ध बलपूर्वक ग्रहण कर ही तो लिया—'तुम!'

मैं खड़ा हो गया। उसके दक्षिण हस्तमें प्रज्वलित दीप-शलाकाके प्रकाशमें वक्षःस्थल उन्नत करके मैंने कहा—'हाँ, मैं हूँ।'

दीप-शलाका शान्त हो गई और उसी अंधकारमें मैं कहता रहा—'तुम मुझे चाहे जहाँ ले चलो, किन्तु मैं एक विनम्र याचना करता हूँ।'

मेरा हाथ उसी प्रकार ग्रहण किए हुए वह बोला—'क्या?'

मैं कह रहा था—'मेरे साथ मेरे सुख-दुःखमें सदा सहायता देनेवाली मेरी गृहिणी इस रुग्णावस्थामें अचेत पड़ी है। इसे मेरे आवासपर पहुँचवा दीजिएगा और जब यह सचेत हो जाय तब इसे मृदुता-पूर्वक यह समाचार दे दीजिएगा कि तुम्हारा पति दो वर्षोंतक किसी प्रकार अपने प्राण बचाकर अन्तमें तुम्हारी रक्षा करनेके प्रयासमें ही बन्दी हो गया। क्या इतना कीजिएगा?'

उसी अन्धकारमें मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि पृथुल लौह-यष्टिकासे भी

कठोर जिस वज्र-करसे वह मेरा हाथ पकड़े हुए था, वह शिथिल पड़ रहा है और सहसा एक मृदुल वेगके साथ मेरा हाथ उस लौह-पाशसे मुक्त हो गया है।

उसके मुखसे केवल इतना ही ध्वनित हुआ—'यदि तुम विपद्ग्रस्त न होते तो मैं तुम्हें अभी वन्दी कर ले जाता और कल ही शासनकी ओरसे मुझे पुरस्कार भी प्राप्त होता और मैं उच्च पदपर भी अधिष्ठित कर दिया जाता। किन्तु इस समय मैं तुम्हें मुक्त करता हूँ। जबतक हम लोग इस स्थानका परित्याग न कर दें तबतक तुम इस प्रकोष्ठसे बाहर न आना।'

अनुमानतः तीन घण्टेमें प्रभञ्जनका वेग शान्त हुआ, आकाश निरभ्र हुआ और वे लोग भी पार्श्ववर्ती प्रकोष्ठ छोड़कर किसी अज्ञात दिशाकी ओर चल दिए। उनके प्रस्थान कर चुकनेपर ग्रामवासियोंको जगाकर मैंने अपनी विपत्ति सुनाई। उन्होंने उष्ण दुग्ध दिया, अग्निस्थमें अग्नि प्रज्वलित कर दी और ग्रामकी अनेक वृद्धा माताएँ आकर मेरी गृहिणीका उपचार करने लगीं।

तीन मास पश्चात् जब मेरी गृहिणी पूर्णतः स्वस्थ हो गई तब मैं सहसा रात्रिके समय एकाकी उस राज-पुरुषके आवासपर पहुँचा। मुझे सम्मुख देखकर वह आश्चर्य-चकित हो गया—'तुम! यहाँ?'

मैंने उसकी जिज्ञासा शान्त की—'अब मेरी गृहिणी स्वस्थ हो गई है। उस दिन आपने मुझे मुक्ति-प्रदान करके जो मुझपर कृपा प्रदर्शित की थी उस कृतज्ञताका भार मेरे लिये असम्भव हो रहा है। आप मुझे वन्दी कर लीजिए। आपको पुरस्कार भी प्राप्त होगा और उच्च पद भी।'

सहसा वह खड़ा हो गया। उसने कुछ क्षण मेरी ओर गम्भीर निर्निमेष दृष्टि-निक्षेप करते हुए मेरे दोनों स्कन्धोंपर अपने प्रलम्ब बाहु प्रसारित कर प्रत्युत्तर दिया—'मुझे नहीं विश्वास था कि तुम इतने वीर हो! धन और उच्च पद दोनोंकी मुझे लालसा नहीं है। जाओ तत्काल धीरेसे चले जाओ।'

मैं मन ही मन उसके महत्त्वके सम्मुख विनत-भाल हो गया और मौनावलम्बी होकर यह चिन्तन करता हुआ लौट चला कि इस युगमें भी क्या मानव इतना महान् और इतना उदार हो सकता है?

२२

पाठ्य विषयोंका परस्पर योग

अन्तर्योगका सिद्धान्त और प्रयोग

साधारणतः एक अध्यापक अपने पाठ्य विषयके अतिरिक्त दूसरे पाठ्य विषयके सम्बन्धमें न तो जानता ही है और न जाननेकी चेष्टा ही करता है। अपना निर्दिष्ट विषय पढ़ा लेना ही वह अपना परम कर्त्तव्य समझता है। किन्तु शिक्षा-शास्त्री इस व्यवहारसे संतुष्ट नहीं हैं। वे कहते हैं कि एक कक्षाके विभिन्न पाठ्य विषयोंमें अन्योन्याश्रय सम्बन्ध स्थापित होना ही चाहिए। भाषाके अध्यापकको भाषा पढ़ाते समय इतिहास तथा भूगोल आदि विषय और इतिहास-भूगोल आदि विषयोंके अध्यापकको भाषाके पारस्परिक अन्तर्योगका ध्यान रखना ही चाहिए। भाषा सभी विषयोंके अध्ययन और अध्यापनका आधार है। अतः भाषाके बिना न तो कोई विषय पढ़ाया जा सकता, न पढ़ा ही जा सकता है। इससे भाषाके अध्यापकका दायित्व और अधिक बढ़ जाता है। सच पूछा जाय तो विभिन्न विषयोंकी अनेक पुस्तकोंके बदले एकमात्र भाषाकी पुस्तकमें अन्य सब विषयोंके पाठ सुसम्बद्ध तथा अन्तर्युक्त करके रक्खे जा सकते हैं और उसीके माध्यमसे सब विषय पढ़ाए जा सकते हैं।

प्राचीन साहित्यमें विषयान्तर्योग

प्रायः प्राचीन संस्कृत भाषाके आचार्य इस पारस्परिक सहयोगके सिद्धान्तको भली भाँति जानते थे, इसीलिये उन्होंने इतिहास तथा भूगोल

जैसे वर्णनात्मक विषयोंसे लेकर गणित जैसे वैज्ञानिक विषयोंको भी साहित्यके साँचेमें ढालकर साहित्यमें भी इन विषयोंका प्रवेश कर दिया। परिणाम यह हुआ कि केवल संस्कृत साहित्यका पंडित भी शास्त्र, वेदांग तथा भारतीय वैज्ञानिक प्रयोगोंसे भली भाँति परिचित है। हिन्दी साहित्यके प्राचीन कवियोंने भी यह बात ध्यानमें रक्खी थी। इधर नागरीमें जो गद्यकी पुस्तकें निकल रही हैं उनमें इस प्रकारका ज्ञान रहता तो है पर नागरी अध्यापक उन वैज्ञानिक प्रयोगोंकी व्याख्या करनेमें असमर्थ होनेके कारण केवल शब्दका अर्थ बताकर चुप हो जाता है।

पद्यका महत्त्व

मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे, गद्यसे दिया हुआ ज्ञान कभी पूरा नहीं स्मरण रक्खा जा सकता, इसीलिये हमारे देशमें बहुत प्राचीन कालसे सभी विषयोंकी शिक्षा पद्यमें ही देनेकी पद्धति-सी चली आई है। इसका सुपरिणाम यह हुआ कि क्लिष्टसे क्लिष्ट विषय भी पद्यके साँचेमें ढलकर विद्यार्थियोंकी जिह्वापर नाचने लगे। गणित और आयुर्वेद जैसे विशुद्ध वैज्ञानिक विषयोंमें साहित्य और इतिहासका तथा शुद्ध साहित्यिक कृतियोंमें भूगोल जैसे विषयोंका समावेश होने लगा। इस प्रकार साहित्य और विज्ञानके पारस्परिक सहयोगसे एककी उपादेयता और दूसरेकी सुकरता बढ़ गई। प्रमाणके लिये लीलावती, वैद्यजीवन और रघुवंशको ले लीजिए।

लीलावती

लीलावती गणितका ग्रन्थ है। उसमें गणित-विषयक प्रश्न इतने सरस तथा मनोरंजक रूपसे रक्खे गए हैं कि उन्हें सिद्ध करनेके लिये विद्यार्थियोंका मन स्वयं मचल पड़ता है। निम्नलिखित प्रश्नमें गणितके साथ विद्यार्थी इतिहास भी पढ़ता है—

पार्थः कर्णवधाय मार्गणगणं क्रुद्धो रणे सन्दधे।
तस्यार्द्धेन निवार्य्य तच्छरगणं मूलैश्चतुर्भिर्हयान् ॥
शल्यं षड्भिरथेषुभिस्त्रिभिरपिच्छत्रं ध्वजं कार्मुकं।
चिच्छेदास्य शिरः शरेण कति ते यानर्जुनः सन्दधे ॥

[कर्णको मारनेके लिये अर्जुनने क्रुद्ध होकर जितने बाण चलाए उनमें से आधे बाणोंसे तो उसने कर्णके बाण काटे, शेषमें के चार भागोंसे घोड़ोंको मारा और (पाँचवें भागके बाणोंमें से) छः से शल्यको बेधा, तीनसे छत्र, ध्वज और धनुष काटा और एक बाणसे उसका सिर काट लिया। बताइए अर्जुनने कितने बाण चलाए।

अर्जुनने ६ बाणों से शल्यको बेधा
,, ३ ,, छत्र, ध्वज और धनुष काटा
,, १ बाणसे कर्णका सिर काटा
योग १० बाण

अर्थात् कर्णके बाण काटनेसे जो शेष बचा उसके ४ भागोंसे घोड़ोंको मारा और पाँचवें भाग अर्थात् १० बाणों से शल्यको बेधा, छत्र, ध्वज, धनुष काटा और कर्णका सिर उतारा।

अर्थात् कर्णके बाण काटनेसे जो शेष बचा वह = १० × ४ = ४० + १०
= ५० बाण

यह ५० = पूरे बाणोंका आधा।

अतः पूरे बाण = ५० × २ = १०० बाण

अतः अर्जुनने कर्णके वधके लिये १०० बाण चलाए।

गणितके इस छोटेसे प्रश्नके साथ कर्ण अर्जुन और शल्यका परिचय दिया जा सकता है। प्रश्नके साथ अब आजकलके एक गणित प्रश्नको भी मिलाइए—

'अ, ब, स ८ घंटे प्रतिदिन काम करके तीन दिनमें ७१ फ़ुट गहरा तालाब खोदते हैं तो बताओ उनमेंसे प्रत्येकने प्रतिदिन प्रति घंटे कितने फ़ुट खोदा।' [उत्तर : १ फ़ुट]

कितना नीरस और निरर्थक है यह प्रश्न !

वैद्यजीवन

वैद्यजीवन आयुर्वेदका ग्रन्थ है जिसके रचयिता लोलिम्बराजने अपने श्रीमुखसे स्वयं अपना परिचय देते हुए कहा है—

'लोलिम्बराजः कविपातशाहः ।'

[लोलिम्बराज सब कवियोंका राजा है।]

इन्होंने वैद्यक-सम्बन्धी रसीले प्रयोगोंमें वैद्यकके साथ-साथ अपूर्व साहित्यिक सम्मिश्रणसे अद्भुत रसायनका स्वाद भर दिया है। जीर्ण कफज्वरका एक प्रयोग देखिए—

जीर्णज्वरं कफकृतं कणया समेत-
च्छिन्नोद्भवोद्भवकषायक एष हन्ति ।
रामो दशास्यमिव, राम इव प्रलम्बं,
रामो यथा समर-मूर्द्धनि कार्तवीर्य्यम् ॥

[गिलोयका क्वाथ तथा पीपलका चूर्ण उसी प्रकार जीर्ण कफ-ज्वरका नाश कर देता है जैसे रामने रावणका, बलरामने प्रलम्बका और परशुरामने कार्तवीर्य्यका नाश किया था।]

इस प्रयोगमें जीर्णज्वरकी औषधके साथ तीन अवतारोंका इतिहास भी निहित हो गया है।

रघुवंश

आजकल दिल्ली, बम्बई या कलकत्तेसे लन्दनतक विमानसे यात्रा करनेवाले लोग मार्गमें पड़नेवाले नगरों और दृश्योंका तो वर्णन प्रायः कर दिया करते हैं परन्तु वे वर्णन इतने नीरस और निष्प्राण होते हैं कि पाठकोंको तनिक भी रुचते नहीं। परन्तु इसके सर्वथा विपरीत कविकुलगुरु कालिदासने अपनी कल्पनाके बलपर भौगोलिक दृष्टिसे लंकासे अयोध्या-तकका अत्यन्त सटीक और सजीव वर्णन किया है। फिर भी जिस पुस्तकमें यह भौगोलिक वर्णन आया है वह भूगोलका नहीं, साहित्यका ग्रन्थ है, रघुवंश महाकाव्य (तेरहवाँ सर्ग) है। लंका

विजय करके सीताजीके साथ श्रीरामचन्द्रजी पुष्पक विमानपर चढ़कर अयोध्या लौट रहे हैँ। वायुयान सीधा लंकासे अयोध्यातक चला आ रहा है। विमानकी गतिके साथ-साथ वर्णनकी गति भी वेगसे चल रही है। श्रीरामचन्द्रजी मार्गमेँ आए हुए ऐतिहासिक स्थानोँका वर्णन करते हैँ, समुद्र तथा नदियोँका परिचय देते हैँ, साथ ही आकाशमेँ वायुयानपर चलते हुए मेघ और विद्युत्‌का अनुभव भी कविकी दृष्टिसे छिपा नहीँ है। इसमेँ काव्यरसके साथ-साथ लंका और अयोध्याके बीच पड़नेवाले समुद्र, पर्वत, नदी, जंगल, ऐतिहासिक स्थल सभीका ज्ञान होता चलता है। साहित्यके साथ भूगोलका कितना मधुर समन्वय है।

विषयोँका अन्योन्याश्रय

प्राचीन भारतीय कवि और विद्वान् भी जानते थे कि संसारके सभी ज्ञान-क्षेत्र परस्पर सम्बद्ध हैँ। एक विषय पढ़ाते हुए दूसरे विषयका समावेश उसमेँ स्वभावतः हो जाता है। जिस प्रकार इन ग्रन्थोँमेँ साहित्य, विज्ञान, इतिहास, भूगोल आदिका एक साथ समावेश किया गया है उसी प्रकार भाषाका अध्यापक भी अन्य विषयोँसे सहयोग प्राप्त कर सकता है।

भाषा तथा भूगोल-इतिहास

भाषाकी पाठ्य-पुस्तकमेँ जो इतिहास या भूगोलके अंश आवेँ, उनकी व्याख्या करते समय ऐतिहासिक या भौगोलिक घटनाओँ तथा स्थानोँके वर्णन या महापुरुषोँके जीवन-चरितोँके सम्बन्धमेँ पूरा विवरण देकर छात्रोँको इतिहास-भूगोलकी सरल तथा प्रामाणिक पुस्तक पढ़नेके लिये कहा जाय। जब वे पढ़कर आवेँ तब उनसे कुछ ऐसे प्रश्न लिखवा लिए जायँ जिनके इतिहास-भूगोल-सम्बन्धी तथ्य तो इतिहास-भूगोलके अध्यापक देख लेँ तथा भाषाकी जाँच भाषाका अध्यापक कर ले। इसी प्रकार इतिहास-भूगोलके अध्यापक जो इतिहास-भूगोल-सम्बन्धी लेख लिखनेको देँ उसकी भाषाकी परीक्षा भाषाका अध्यापक कर ले।

भाषा तथा विज्ञान

वैज्ञानिक विषयोँमेँ भौतिक तथा रासायनिक विज्ञान, प्रकृति-विज्ञान, भूगोल, गणित आदि विषय आते हैँ। भाषाकी पाठ्य-पुस्तकोँमेँ गणितको छोड़कर शेष सभी वैज्ञानिक विषयोँके पाठ रहते हैँ। भाषाका अध्यापक यदि उन विषयोँसे अनभिज्ञ हो तो उन विषयोँके अध्यापकोँकी सहायतासे पहले उन विषयोँका प्रयोगात्मक तथा विस्तृत ज्ञान विद्यार्थियोँको कराकर फिर भाषा-सम्बन्धी ज्ञान स्वयं दे; साथ ही कवि-वर्णित प्रकृति-वर्णन तथा वैज्ञानिक-द्वारा वर्णित प्रकृति-वर्णनकी तुलना, उनके निरीक्षणका अन्तर, उनके प्रयोगोँके भेद आदि समझा दे तथा उन विज्ञानोँका ज्ञान पूरा करनेके लिये उन्हेँ विभिन्न विज्ञानोँकी प्रयोगशालाओँमेँ भेज दे जिससे वे पूर्व-अर्जित ज्ञानकी यथार्थता जान सकेँ।

भाषा तथा कला

जो बात विज्ञानके सम्बन्धमेँ कही गई है वही कलाके लिये भी प्रयुक्त हो सकती है। हमारी पाठ्य पुस्तकोँमें चित्रकला, संगीतकला, मूर्त्तिकला, मल्लयुद्ध, आदिपर भी कभी-कभी पाठ होते हैँ। अतः उन कलाओँके शिक्षक उस विषयोँका प्रयोगात्मक अथवा व्यावहारिक ज्ञान कराकर उसके पश्चात् भाषा-सम्बन्धी कठिनाइयाँ स्वयं दूर कर देनी चाहिएँ।

स्वाभाविक अन्तर्योग

कुछ विषयोँके विभिन्न अङ्गोँका अन्तर्योग स्वाभाविक होता है। भाषाके लेख-शिक्षणके समय ही व्याकरण और सूक्तिका शिक्षण हो सकता है, काव्य-शिक्षणके साथ अलंकार, रस और पिंगलका शिक्षण हो सकता है। इसी प्रकार भूगोलके साथ वनस्पति-विज्ञान, भूगर्भ-शास्त्र, धातु-विज्ञान, ग्रह-विज्ञान, विभिन्न मानव-समाज आदि तथा इतिहासके साथ धर्म, नीति, समाज-शास्त्र, युद्ध नीति और राजनीतिकी

शिक्षा भली प्रकार दी जा सकती है।

विषयोंके अन्तर्योग और पारस्परिक सहयोगके सिद्धान्त

शिक्षा-शास्त्रियोंने विषयोंके पारस्परिक सहयोग या अन्तर्योग (कौरिलेशन) के सम्बन्धमें निम्नलिखित सिद्धान्त स्थिर किए हैं—

१. अन्तर्योग स्वाभाविक हो।
२. मुख्य पाठ्य विषयसे भली-भाँति सम्बद्ध हो।
३. मुख्य पाठ्य विषयको गौण न कर दे अर्थात् दूसरा विषय इतना प्रधान न हो जाय कि मुख्य पाठ्य विषय छिप जाय।
४. छात्रोंकी ज्ञान-शक्ति और अवस्थाके अनुकूल हो।
५. इस अन्तर्योगसे मुख्य पाठ्य विषयके समझनेमें सहायता मिले।

अन्तर्योगका परिणाम

पाठ्य विषयोंके पारस्परिक सहयोगसे विद्यार्थियोंका ज्ञान परिपक्व होता है, अध्यापकोंका काम हलका हो जाता है, शिक्षा भी व्यवस्थित तथा संयत हो जाती है, छात्रोंकी रुचि परिष्कृत होती है, एक साथ कई विषयोंका ज्ञान हो जाता है तथा विभिन्न विषयोंके संचित ज्ञानकी आवृत्ति हो जाती है।

अन्तर्योगमें अतिरेक

नवीन वर्धा-शिक्षा-योजनाके प्रयोगसे इस अन्तर्योगके सिद्धान्तका व्यापक प्रसार तो हुआ किन्तु किसी एक शिल्पको आधार मानकर सब विषय बलपूर्वक उसीके आधारपर सिखानेकी भावना अत्यन्त अवैज्ञानिक और अस्वाभाविक है। विषयोंका अन्तर्योग सदा स्वाभाविक होना चाहिए और उतना ही होना चाहिए जितना आवश्यक हो। हम नीचे उदाहरणके लिये एक पाठ दे रहे हैं जिससे ज्ञात होगा कि विषयोंके पारस्परिक अन्तर्योगके लिये भाषाकी पुस्तकोंमें किस प्रकारके पाठ होने चाहिएँ और किस प्रकार केवल एक भाषाकी पुस्तकके ही सहारे किसी कक्षाके अन्य सब विषय भली प्रकार सिखाए जा सकते हैं—

गोरिल्ला

'आपने उन जीव-भक्षी पौधोंका वर्णन तो सुना ही होगा जो अपने फूल, फल या पत्तीपर आ बैठनेवाले जीवोंको निगलकर, उनका रक्त चूसकर, उनकी अस्थियाँ बाहर फेंक देते हैं। अफ्रीकाके जिन प्रदेशोंमें ये जीव-भक्षी पौधे पाए जाते हैं उन्हींमें गोरिल्ला नामका ऐसा शाक-भक्षी आजानुबाहु काला दैत्याकार बनमानुस भी होता है जो किसी भी प्रतिपक्षीको सम्मुख देखकर दोनों पैरोंपर खड़ा होकर दाँत किटकिटाता और छाती पीटता हुआ ऐसा घूरकर देखता है मानो किसीका भरपूर चित्र उतानेके लिये फोटोका कैमरा सधा रक्खा हो। जिस प्रकार चल-चित्रकी पट्टीमें सैकड़ों-सहस्रों चित्र अलग-अलग रहते हुए भी वेगसे चलनेके कारण एकके ही चलते-फिरते रूप दिखाई देते हैं वैसे ही वह भी आखेटकी ओर बढ़ता है तो सैकड़ों अलग-अलग पग धरता हुआ भी इतने वेगसे चलता है कि विमान, वायु, गरुड और मन सब परास्त हो जाते हैं और ऐसा जान पड़ता है कि बस चला और पहुँचा। अपने आखेटको अपनी विराध-सी प्रलम्ब भुजाओंमें दबोचकर वह उसी प्रकार अपने वज्र-वक्षःस्थलसे दबाकर पीस डालता है जैसे धृतराष्ट्रने भीमकी लौहमूर्तिको पीस डाला था और फिर उसे निष्प्राण करके उसके अंग-भंग करके फेंकता हुआ वह विजयोल्लाससे चिग्घाड़कर लौट जाता है। वह इतना बली होता है कि सिंह और हाथी जैसे पराक्रमी जीव भी उसका लोहा मानते हैं।'

इस पाठके साथ अध्यापक निम्नलिखित विषयोंका ज्ञान करा सकता है–

१. जीव-भक्षी पौधे	(वनस्पति-विज्ञान)	६. विमान, चल-चित्र	(विज्ञान)
२. अफ्रीका	(भूगोल)	७. गरुड	(पुराण)
३. गोरिल्ला	(जीव-विज्ञान)	८. मनकी गति	(मनोविज्ञान)
४. आजानुबाहु	(भाषा)	९. धृतराष्ट्र और भीम	(इतिहास)
५. फोटोका कैमरा	(विज्ञान)	१०. विराध	(पुराण)

———

२३

पुस्तकालयकी व्यवस्था

पुस्तकें कैसी और क्यों ?

मनुष्यके ज्ञान-भाण्डारको पुष्ट और समृद्ध करनेका सर्वोत्कृष्ट साधन पुस्तकालय है। वह हमारी मानसिक तृप्ति करनेके साथ हमारा बौद्धिक भोजन भी जुटाता है। पुस्तकालयका प्रयोग सदासे बढ़ी-चढ़ी सभ्यताका परिचायक माना गया है क्योंकि पुस्तक ही एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा हम घर-बैठे संसारका भ्रमण कर लेते हैं, सारे संसारके दर्शन, विज्ञान और साहित्यसे परिचित हो जाते हैं, नई और पुरानी विभिन्न जातियोंकी विचार-धारामें डुबकियाँ लगाकर अनमोल मोती बटोर लेते हैं, सहस्रों वर्ष पूर्वके महापुरुषोंकी भावनाओंका प्रत्यक्ष परिचय प्राप्त कर लेते हैं और इस प्रकार अपने जीवनको सरल और सुसंस्कृत बनाते हुए मष्तिष्कको तुष्ट, मनको प्रसन्न और बुद्धिको विकसित करते चलते हैं। इसलिये किसी कविने कहा है—

> बैठे-बैठे हो सैर दुनियाकी।
> ये तमाशा किताबमें देखा ॥

पुस्तकालयका महत्त्व

यदि अध्यापकोंको हम विद्यालयका मस्तिष्क मानें तो पुस्तकालयको विद्यालयका आत्मा मानना पड़ेगा, क्योंकि अध्यापकोंकी कार्य-कुशलता बहुत कुछ पुस्कालयकी उपयोगितापर ही निर्भर है। जो वास्तविक अध्यापक होते हैं वे सदा पुस्तकालयोंका उपयोग करते हुए

अपने ज्ञान-क्षितिजको उदार करते रहते हैं, जिससे उनके विद्यार्थी भी केवल पाठ्य-पुस्तकके कूप-मंडूक न बने रहकर मुक्त आकाशमें विचरण करनेवाले पक्षीके समान विस्तृत वसुधाकी थोड़ी बहुत जानकारी रखनेवाले हो जायँ।

पुस्तकोंका चुनाव

जिस प्रकार विद्यालयका आत्मा पुस्तकालय है उसी प्रकार पुस्तकालयका प्राण पुस्तकोंका समुचित चुनाव है। पुस्तकालयमें संसारका कूड़ा-कचरा बटोरकर रख देनेसे कोई लाभ नहीं होता। ऐसे पुस्तकालयोंसे लाभके स्थानपर हानि होनेकी ही अधिक सम्भावना रहती है। शिक्षण-संस्थाओंके पुस्तकालयोंमें जो पुस्तकें रक्खी जायँ उनमें तीन बातोंपर ध्यान रखना परम आवश्यक है—

१. पुस्तकालयमें संगृहीत पुस्तकें रुचिकर तो हों पर कुरुचिपूर्ण नहीं। उन पुस्तकोंके पठन-पाठनमें मन तो रमे पर कोई चरित्र-सम्बन्धी अवाञ्छनीय प्रभाव न पड़ने पावे।

२. पुस्तकें छात्रोंके विचारको प्रोत्साहन देनेवाली तो अवश्य हों पर सर्वथा दार्शनिक न हों।

३. पुस्तकोंके पठन-पाठनसे विद्यार्थीमें स्वयं सोचनेकी शक्ति तो बढ़े पर उसकी सारी शक्ति पुस्तक समझनेमें ही न लग जाय।

४. उनमें ज्ञान बढ़ानेवाले विषयोंका वर्णन इतना सरल, सर्वग्राही तथा लोकबोध हो कि केवल अध्यापक ही नहीं वरन् छात्र भी उससे उचित लाभ उठा सकें।

पुस्तकालयके विभाग

पुस्तकोंकी प्रकृतिके अनुसार विद्यालयके पुस्तकालयके पाँच विभाग हो सकते हैं—

१. उपदेशात्मक पुस्तकें: जैसे नीतिके संग्रह, हितोपदेश, भगवद्गीता आदि।

सहायक ग्रन्थ (रेफ़रेन्स बुक्स) : जिनका उपयोग किसी विषयकी विशेष जानकारीके लिये ही किया जाता है। चित्र-संग्रह, कोष, विश्वकोष और मानचित्रावली (ऐटलस) जैसी पुस्तकोंकी गणना इसी श्रेणीमें की जा सकती है।

पाठ्य ग्रन्थ : जो कक्षा-विशेषके लिये निर्दिष्ट हो चुकी हैं; किन्तु इन पुतकोंका उपयोग तभीतक रहता है जबतक उनका नाम पाठ्य-पुस्तकोंकी सूचीमें चढ़ा रहता है।

४. विशेष विज्ञान-सम्बन्धी पुस्तकें : जिनमें बिजली, बेतारका तार आदि नवीन वैज्ञानिक विषयोंपर खोजके साथ लिखी हुई पुस्तकें आती हैं।

५. मनोरंजक पोथियाँ : जिनमें काव्य, नाटक, कहानी, यात्रा-वृत्तान्त और उपन्यास आदिकी खपत हो सकती है। इस संग्रहमें ऐसी कोई पुस्तक न छूट जाय जिसके न होनेसे विद्यालयके पाठ्य-विषयोंके किसी अंशके पढ़ने-पढ़ानेमें बाधा पड़े या कठिनाई हो।

पुस्तकोंका संग्रह

पुस्तकोंकी प्राप्तिके दो ही मार्ग हैं—१. पुस्तकें मोल ली जायँ या २. वे उपहारमें मिलें। इनमेंसे किसी भी ढंगसे पुस्तकें मिलें परन्तु उन्हें पूर्वोक्त कसौटीपर कसनेके पश्चात् ही पुस्तकालयमें स्थान देना चाहिए। मोल ली हुई पुस्तकोंके सम्बन्धमें तो कसौटीका प्रयोग होना स्वाभाविक है परन्तु उपहारमें मिली हुई पुस्तकोंको परखनेका प्रयत्न प्रायः लोग नहीं करते। दानकी बछियाके दाँत कौन गिनता है ? पर यह ठीक नहीं है। विद्यार्थियोंके लिये हानिकारक सिद्ध होनेवाली पुस्तकोंका बहिष्कार करना ही श्रेयस्कर है, भले ही वे बहुमूल्य हों और विना मूल्य ही मिली हों।

पुस्तकालयके विभाग

स्कूलोंमें पुस्तकालयके दो विभाग करने चाहिएँ—१. सर्वसाधारणके

लिये अर्थात् स्कूल भरके लिये हो, जिसका उपयोग अध्यापक तथा छात्र समान रूपसे करें। २. कक्षा-पुस्तकालय, जिसका उपयोग केवल एक कक्षाके विद्यार्थी करें।

अध्यापक-द्वारा निर्देश

कक्षाओंसे सम्बद्ध पुस्तकालयोंकी पुस्तकें कक्षाके विद्यार्थियोंके अवस्थानुरूप हों। अध्यापकको चाहिए कि वह विद्यार्थियोंकी मानसिक अवस्थाके अनुसार पढ़नेके लिये पुस्तकें चुननेमें सहायता दे और मनोवैज्ञानिक प्रेरणा-द्वारा विद्यार्थियोंमें अनिवार्यतः पुस्तक पढ़नेको रुचि उत्पन्न करे। पर इसके लिये किसी प्रकारकी कड़ाई कदापि न की जाय। उदाहरणार्थ, पढ़ाते-पढ़ाते अध्यापक कह बैठे कि अमुक विषयपर अमुक पुस्तकमें अमुक मनोरंजक बात लिखी है। यह कहकर विद्यार्थियोंसे उस मनोरंजक बातकी संक्षिप्त चर्चा भी कर दे। ऐसा होनेसे विद्यार्थी स्वभावतः उक्त पुस्तक पढ़नेके लिये आकृष्ट होंगे। परन्तु अध्यापकका कार्य इतनेसे ही समाप्त नहीं होता। उसे बीच-बीचमें यह परीक्षा भी लेते रहना चाहिए कि विद्यार्थियोंने उसकी बताई पोथियाँ पढ़ी हैं या नहीं पर विद्यार्थी यह कभी न भाँपने पावें कि हमारी परीक्षा हो रही है। पढ़ाते समय अध्यापक एकाएक पूछ बैठे कि 'अमुक पुस्तक तो तुमने पढ़ी ही है, बताओ तो।' इस प्रकार बीच-बीचमें पूछते रहनेसे अध्यापक-द्वारा निर्दिष्ट पुस्तक विद्यार्थी अवश्य पढ़ेगा क्योंकि उसके मनमें यह भय तो बैठ ही जायगा कि न जाने कब अध्यापक महाशय अपनी बतलाई हुई पुस्तकके विषयमें कुछ पूछ बैठें और हम समुचित उत्तर न देनेके कारण कक्षामें लज्जित हों।

पुस्तकालयका प्रबन्ध

मुख्य पुस्तकालयके प्रबन्धका भार किसी ऐसे पुस्तकाध्यक्ष या अध्यापकको सौंपना चाहिए जिसे पुस्तकोंसे स्वाभाविक प्रेम हो, जिसका ज्ञान चतुर्मुख हो, जो थोड़ी-बहुत सभी विषयोंकी जानकारी

रखता हो, जिसके पास किसी विशेष विषयके अध्ययनकी इच्छा लेकर यदि कोई आवे तो वह तुरन्त उसके काममें आनेवाली दो-चार-छह पुस्तकोंके नाम बतलाकर उचित परामर्श दे सके।

कक्षा-पुस्तकालयकी देखरेख तो उसी कक्षाके कक्षाध्यापकके हाथमें हो पर पुस्तकके लेन-देनका सारा काम विद्यार्थियोंके द्वारा ही होना चाहिए। इससे विद्यार्थियोंमें सचाई और स्वावलम्बनकी भावना बढ़ती है। पुस्तकके लेन-देनका सारा प्रबन्ध विद्यार्थियोंके हाथोंमें रहनेसे उनकी रुचि भी धीरे-धीरे पुस्तकोंके पठन-पाठनकी ओर बढ़ती है।

पत्र-पत्रिकाएँ

हस्तलिखित पत्रिकाओंके सम्पादकोंकी प्रवृत्ति होती है कि उन्हें जो कुछ भी अगड़म-बगड़म जिस किसीसे भी लिखा हुआ मिल जाता है उसे वे उस पत्रिकामें भर देते हैं। किन्तु उसे विषयोंका ऐसा सुन्दर चुनाव करना चाहिए कि अशुद्ध, असम्बद्ध, अनावश्यक, अनर्गल तथा कुरुचिपूर्ण सामग्री न प्रविष्ट हो, लेख छोटे और मनोरञ्जक हों, उनमें गुरु और उपदेष्टाके रूपसे ज्ञान देनेका प्रयास न करके कथाके ढंगसे ज्ञान दिया जाय। प्रायः इन पत्रिकाओंमें प्रत्येक लेखकी भाषा और शैली अलग-अलग होती है। इनमें शैली भले ही अलग-अलग हो किन्तु भाषाकी एकरूपता अवश्य होना चाहिए। सम्पादकका काम है कि वह आए हुए सब लेखोंकी भाषाको एकरूप कर दे और शैलीके दोष भी सुधार दे। सब लेख सुन्दर लिपिमें लिखे जायँ और यथासम्भव सब लेख विद्यार्थियोंके ही हों।

अन्य अध्यापकोंका सहयोग

भाषाके अध्यापको स्वयं पत्रिकाका एक मात्र अधिपति न मानकर चित्रकला-शिक्षकका भी सहयोग प्राप्त करके पत्रिकाका सौन्दर्य्य बढ़ानेमें सहायता लेनी चाहिए और लेखोंके बीचमें विषयसे सम्बन्ध रखनेवाले चित्र बनवाकर फूल-पत्तियों तथा बेल-बूटोंसे प्रत्येक लेखके शीर्षक

मनोहर बनवाकर देने चाहिएँ। इन पत्रिकाओंमें अधिकांश छोटी-छोटी कविताएँ, कहानियाँ, संवाद, व्यंग्य-चित्र आदि सामग्री होनी चाहिए और प्रत्येक मासकी पत्रिका जिल्द बँधवाकर संग्रह कर लेनी चाहिए।

हस्तलिखित पत्रिकासे लाभ

इन पत्रिकाओंसे विद्यार्थियोंकी लिखनेमें रुचि बढ़ती है उनकी भाषा-शैलीका नियमन और परिमार्जन हो जाता है, अपने साथीकी किसी कृतिको देखकर अनायास ही उनकी स्वस्थ स्पर्द्धाकी भावना जाग उठती है और उनकी रचनात्मिका वृत्ति सक्रिय हो जाती है।

बाह्य पत्रिकाएँ

बाहरसे मँगाइ हुई पत्र-पत्रिकाओंमें भी इस बातका ध्यान रक्खा जाय कि उनके विषय सुरुचिपूर्ण, चरित्र-निर्मायक, उदात्त-वृत्तिको उकसानेवाले तथा ज्ञानवर्द्धक हों और उनकी भाषा विद्यार्थियोंकी मानसिक अवस्थाके अनुकूल हो, उनमें झूठे विज्ञापन न हों, यदि हों तो वे फाड़कर अलग कर दिए जायँ।

संग्रहालय

विद्यालयोंमें संग्रहालय भी होने चाहिएँ। भाषाके अध्यापक तथा विद्यार्थियोंके लिये संग्रहालयमें कुछ विशेष वस्तुएँ अथवा उनके चित्र होने चाहिएँ। हम लोग चातक, कोकिल, सारिका तथा हंस आदि पक्षियोंका वर्णन अपनी पुस्तकोंमें पाते हैं और पढ़ाते समय 'एक प्रकारका पक्षी' कहकर काम चला लेते हैं, यहाँतक कि अध्यापक भी इन पक्षियोंके रूप-रंगसे परिचित नहीं होते। इसी प्रकार वीणा, मृदंग, भेरी, अस्त्रशस्त्र, फूल-पत्तियाँ, लता-वृक्ष, फल-फली आदिसे भी वे अपरिचित होते हैं। यदि ये वस्तुएँ, इनके चित्र अथवा इनकी प्रति-मूर्तियाँ संग्रहालयमें हों तो पढ़ानेमें सुविधा हो और इन पदार्थोंका उचित प्रत्यक्ष ज्ञान हो।

हमने पुस्तकालयकी व्यवस्था केवल हिन्दीकी दृष्टिसे नहीँ वरन् सब विषयोँकी दृष्टिसे लिखी है। हिन्दीके अध्यापक इसमेँ बताए हुए नियमोँ तथा सिद्धान्तोँके अनुसार हिन्दीकी पुस्तकोँका संग्रह तथा प्रयोग कर सकते हैँ।

पुस्तकालयका हिन्दी विभाग

पुस्तकालयके हिन्दी विभागमेँ इतने प्रकारकी सामग्री होनी चाहिए—

१. कोष (संस्कृत, हिन्दी, उर्दू तथा अँगरेज़ी), विश्वकोष तथा अभिधान-कोष।
२. काव्य (मूल ग्रन्थ)।
३. निबन्ध।
४. इतिहास-पुराण।
५. कथा-कहानी।
६. उपन्यास।
७. नाटक।
८. व्याकरण।
९. जीवन-चरित।
१०. आलोचना या समीक्षा।
११. बाल-पोथियाँ।
१२. संकलित पुस्तकेँ।
१३. पाठ्य-पुस्तकें।
१४. विविध।
१५. मासिक पत्रोँकी क्रमाली।
१६. साप्ताहिक ,, ,, ।
१७. दैनिक ,, ,, ।
१८. हस्तलिखित पत्रिकाकी क्रमाली।
१९. लिपियोँके मान-चित्र।
२० ध्वनि-चित्र।

२१. विश्वके भाषा-वितरणका मानचित्र।
२२. भारतके भाषा-वितरणका मानचित्र।
२३. नागरी अक्षरोंके शुद्ध स्वरूपोंके मानचित्र।
२४. भाषा तथा साहित्य सिखानेकी विभिन्न अवस्थाएँ।
२५. रस, अलङ्कार आदिके विवरण-चित्र।
२६. प्रायः अशुद्ध लिखे जानेवाले शब्दोंकी तालिका शुद्ध रूपोंके साथ।
२७. आदर्श टंकण-यन्त्रकी वर्णपीठिका (की-बोर्ड)।

हिन्दीके अध्यापककी योग्यता

उपर्युक्त विवरणसे ही स्पष्ट हो गया होगा कि हिन्दीके अध्यापकको संस्कृत, हिन्दी (नागरी, ब्रज, अवधी, राजस्थानी, मैथिली आदि), उर्दू तथा अँगरेज़ीका अच्छा ज्ञान होना चाहिए और उपर्युक्त सामग्रीका स्वयं प्रयोग करने और छात्रों-द्वारा प्रयोग करानेकी क्षमता होनी चाहिए।

२४

कुछ नवीन शिक्षा-प्रणालियाँ

पीछे चौदहवें प्रकरणमें शिक्षा-शास्त्रकी नई गति-विधियोंका संकेत दिया जा चुका है। यहाँ नई शिक्षा-प्रणालियोंका परिचय देकर यह विचार किया जायगा कि उनमें भाषा-शिक्षाकी क्या व्यवस्था है और वह कहाँतक उपयोगी तथा सार्थक है।

बालोद्यान (किण्डेरगार्टन्)

फ्रीड्रिख फ्रोबेल्ने १८४० ई० में जर्मनीमें खेल, स्वाभाविक चहल-पहल तथा स्वेच्छापूर्वक स्वशिक्षा-द्वारा बालकोंको स्वयं-शिक्षित तथा स्वयं-संस्कृत बनानेके उद्देश्यसे बालोद्यान (किंडेरगार्टेन) नामकी बाल-पाठशाला खोली जिसका उद्देश्य 'बालकोंकी शारीरिक तथा मानसिक शक्तियोंको इस प्रकार जगाना था कि बालक अपनी वास्तविक प्रकृति, चरित्र तथा अपनी जीविका-वृत्तिको सचाईके साथ प्रकट कर सके, उन्नत कर सके और सीखते चलनेके साथ-साथ अपनेको शिक्षित बनाता चले।'

इस उद्देश्यकी पूर्त्तिके लिये उन्होंने निम्नलिखित साधन प्रस्तुत किए—

१. गीत, खेल और सीधा-सादा शारीरिक व्यायाम : गीतोंमें वे लोरियाँ थीं जो प्रायः माताएँ गाया करती थीं और खेल तथा व्यायाम वे ही थे जो बहुधा बालक खेला करते थे या माताएँ बच्चोंके साथ खेलती थीं।

२. सिखाऊ खिलौने : इन्हें 'फ्रोबेलका उपहार' भी कहते हैं। ये

खिलौने इस प्रकार बनाए गए थे कि बच्चे स्वतन्त्रतापूर्वक 'अपने आप बना-बिगाड़कर' अपना विकास करें तथा ज्यामितिके अनेक रूपोंसे परिचित हो जायँ।

३. सिखाऊ हस्तकौशलकी सामग्री : बालू, चिकनी मिट्टी, कागज-पेंसिल इत्यादि, जिनके प्रयोगसे कुछ वस्तुएँ बनाई जा सकें।

४. प्रकृति-निरीक्षण : पेड़-पत्तों तथा चिड़ियों-चौपायोंसे परिचय प्राप्त करना, जिससे बालक वनस्पति तथा जीव-जन्तुओंसे सम्पर्क प्राप्त करके उनका आदर करें।

५. कथा-कहानी।

उपर्युक्त साधनोंमें गीत तथा कहानियोंसे भाषा-शिक्षणमें अधिक सहायता मिल सकती है। कुछ खिलौनों (उपहारों) के जोड़तोड़ और मेलसे अक्षर तो बनाए जा सकते हैं किन्तु खेलके इस स्वतन्त्र वातावरणमें भाषा-शिक्षणका कोई भिन्न अस्तित्व या महत्त्व नहीं है। इसी आधारपर भुवालीके श्रीदेवीदत्तने भी एक किंडरगार्टेन-बक्स बनाया है जिसमे चौबीस लड़कीके टुकड़ोंसे कई भाषाओंके अक्षर तथा बहुतसे जीवों और पदार्थोंके रूप बन जाते हैं। इनसे बच्चोंको आनन्द तो मिलता है और वे सक्रिय भी रहते हैं किन्तु अक्षर सीखनेके बदले वे साँप और चिड़िया अधिक बनाते हैं, **क ख ग घ** कम। इस प्रणालीसे शिक्षा देनेमें समय बहुत नष्ट होता है। हाँ, आरम्भमें दो तीन वर्षके बच्चोंको दो-तीन महीने इनसे बहलाया अवश्य जा सकता है।

मौन्तेस्सोरी प्रणाली

इटली-निवासिनी श्रीमती मेरिया मौन्तेस्सोरीने बालकोंके स्वतन्त्र स्वाभाविक विकासको अबाध बनानेके लिये अपने नामसे मौन्तेस्सौरी शिक्षा-प्रणाली निकाली है जिसके सिद्धान्त ये हैं—

१. आगे दी जानेवाली शिक्षाके लिये पहलेसे पुट्ठे तथा अंग ठीक प्रकारसे सधा दिए जायँ।

२. इस साधनाके लिये विशेष रूपसे निर्मित, नियमित सामग्री (डाइडेक्टिक मैटीरियल) पर क्रमिक अभ्यास कराए जायँ।

३. ये अभ्यास बालक अपनी गतिसे करें।

४. उन सब कार्योंके लिये पहलेसे हाथ, आँख आदि सधा दिए जायँ जिन कई प्रकारके कार्य एक साथ होते हैं, जैसे सलाईसे बुननेमें।

श्रीमती मौन्तेस्सोरीका कथन है कि मैंने सब प्रकारके बालकोंकी गतिविधि भली प्रकार समझकर अत्यन्त कठोर वैज्ञानिक कसौटीपर कसकर सब सामग्री बनाई है पर उन्होंने उस वैज्ञानिक कसौटीका लेखा कहीं नहीं दिया है कि और लोग भी उसकी परीक्षा कर सकते। भाषा सिखानेकी विधियाँ भी इनकी विचित्र हैं। बलुए कागजके अक्षर काटकर अलग चिपका दिए जाते हैं। बालक आँखमें पट्टी बाँधकर या देखकर उनपर हाथ फेर-फेरकर अक्षर पहचानता चलता है। अन्धोंकी पाठशालाके लिये तो यह प्रणाली ठीक है पर साधारण विद्यालयोंमें इस क्रमसे पढ़ाना, समय और द्रव्यका अपव्यय है। इसी प्रकार इन्होंने व्याकरण, वाचन, गणित, संगीत तथा चित्रकला इत्यादिके लिये भी बड़े ठाट-बाटके व्यय-साध्य उपाय निकाल डाले हैं जिनके लिये न तो भारतके पास पैसा है, न समय। इसे तो राजाओंकी हवेली समझना चाहिए—

'दिलके बहलानेकी ग़ालिब ये ख़याल अच्छा है।'

डाल्टन प्रयोगशाला-योजना

डाल्टन प्रयोगशाला योजना (डाल्टन लैबोरेटरी प्लैन)की प्रवर्त्तिका कुमारी हेलन पार्खर्स्ट हैं। इनका भी उद्देश्य यही है कि बालकोंको ज्ञान तो अवश्य दिया जाय, पर वे उसे बोझ न समझें और यन्त्रके समान अरुचिकर तथा नीरस न मानें। इसीलिये उन्होंने नित्यकी दिनचर्या (टाइम-टेबिल) फाड़ फेंकने और सीधा एक महीने भरका काम देनेकी सम्मति दी है। विद्यार्थियोंको भी उन्होंने स्वतन्त्रता दे दी है

कि वे इस कामको महीने भरमें जिस समय चाहें पूरा करें। उनके मतानुसार विद्यालयकी कक्षाओंके बदले सब कक्ष भूगोल, भाषा, इतिहास तथा विज्ञानकी प्रयोगशाला बना दिए जायँ जहाँ उस-उस विषयके सब साधन और अध्यापक उपस्थित रहें जो विद्यार्थियोंको समय-समयपर परामर्श देते रहें। इस योजनामें सब काम विद्यार्थी स्वयं करता है। ज्यों ही वह एक निर्दिष्ट कार्य समाप्त कर लेता है त्यों ही उसे दूसरा मिल जाता है। मेधावी बालक शीघ्र काम समाप्त करके आगे बढ़ सकता है, मन्द बालक अपनी मन्दी चालसे भी काम करता रह सकता है। दोनोंको लाभ है। इसमें अध्यापकको भी अधिक नहीं बोलना पड़ता। चार सप्ताहोंमें फैलाकर एक महीने पढ़नेके पाठ तथा लिखनेके लिये अभ्यास देकर वह केवल सहायता भर देता रहता है। विद्यार्थी भी स्वतन्त्र, अध्यापक भी स्वतन्त्र। कुमारी पार्खर्स्टने उदारतापूर्वक यह स्वतन्त्रता भी दे दी है कि इस प्रणालीमें स्थानकी आवश्यकताके अनुसार परिवर्त्तन भी किए जा सकते हैं। यह प्रणाली तभी प्रारम्भ की जा सकती है जब बालक अपने पैरपर खड़ा होनेके योग्य हो जाय अर्थात् वर्त्तमान छठी कक्षासे इसका ठीक उपयोग किया जा सकता है।

इस प्रणालीमें जो कार्य दिया जाता है उसे अभिसन्धान-कार्य (कौन्ट्रैक्ट एसाइनमेण्ट) कहते हैं। यह कार्य देते समय निम्नलिखित बातोंका ध्यान रक्खा जाता है—

१. प्रस्तावना : थोड़ेसे शब्दोंमें एक महीनेके कार्यका कुछ थोड़ा-सा परिचय दे दिया जाय।

२. विषयाङ्ग : भाषाके जिस अंग (रचना, व्याकरण, कविता आदि) के लिये कार्य दिया जाय उसका उल्लेख कर दिया जाय।

३. समस्याएँ : शब्द-तालिका बनाना, मानचित्र बनाना आदि काम बता दिए जायँ। भाषाके पाठमें ऐसी समस्याएँ कम होती हैं।

४. लिखित कार्य : जो कुछ लिखवाना हो उसकी पूरी सूची दे दी जाय और जिस तिथिको लेख लेना हो उसका भी स्पष्ट उल्लेख हो।

५. कण्ठस्थ करनेके योग्य कार्य : कण्ठस्थ कराई जानेवाली कविताओं अथवा गद्य अनुच्छेदोंका उल्लेख किया जाय।

६. बैठक (कौन्फ़रेन्स) : जिन तिथियोंको विभिन्न विषयोंपर बातचीत करनेके लिये पूरी कक्षा एक साथ बैठानी हो उन तिथियोंका उल्लेख हो।

७. सहायक पुस्तकें : सहायक पुस्तकों तथा पत्र-पत्रिकाओंके नाम देकर उनके अध्यायों तथा पृष्ठोंका भी उल्लेख कर दिया जाय जिससे छात्रोंको सामग्री ढूँढनेमें समय नष्ट न करना पड़े।

८. गतिपत्र (ग्राफ़) : छात्रोंको यह बतला दिया जाय कि गतिपत्र (ग्राफ़) पर अपनी उन्नतिका लेखा किस प्रकार बनावें। अगले पृष्ठपर गतिपत्रका चित्र देखिए।

९. सूचना-पट्ट : प्रयोगशालाके सूचना-पट्टपर चित्र, मानचित्र अथवा लेख आदि टाँगकर उसका भी उल्लेख कर दिया जाय।

१०. विभागीय छूट : कक्षाके विभिन्न पाठ्य विषयोंमें परस्पर सहयोग करके विभागीय छूट दे दी जाय। यदि किसी विद्यार्थीको इतिहासके अध्यापकने शिवाजीपर एक लेख लिखनेको दिया और वह लेख भाषाकी दृष्टिसे बहुत अच्छा लिखा गया तो भाषाका अध्यापक अपने दिए हुए लेखन-कार्यमेंसे उतनी कमी कर देता है और उसका उल्लेख कर देता है। यही विभागीय छूट कहलाती है।

इस प्रकार एक-एक सप्ताहका कार्य्य अलग-अलग बनाकर दे देना चाहिए और इन सिद्धान्तोंके अनुसार ऐसी पुस्तकोंका भी निर्माण और प्रचार करना चाहिए जिसमें भली प्रकार बाँटकर काम देनेका सुयोग हो। यह प्रणाली दोष-रहित, मनोविज्ञान-सिद्ध, शिक्षा-शास्त्र-विहित, रुचिकर तथा सर्वत्र प्रयोज्य है, अतः सर्वश्रेष्ठ है, किन्तु इसके लिये सिद्ध अध्यापक और प्रत्येक विषयकी विशेषतः भाषाकी अत्यन्त समृद्ध प्रयोगशाला होनी चाहिए।

आदर्श विद्यालय

डाल्टन प्रयोग-शाला-योजनाके अनुसार गतिपत्र

कार्य-संख्या १

नाम : सुधीर चतुर्वेदी — प्रारम्भ तिथि : १—८—५२ — आदेष्टा : आचार्य मोहन वल्लभ पन्त

कक्षा : ८ — पूर्ण करनेकी तिथि : — कक्षाध्यापक : पं० रामचन्द्र तिवारी

कार्यकी अन्विति संख्या	लिखन	अध्ययन	लिखन	अध्ययन	लिखन	अध्ययन	लिखन	अध्ययन	लिखन	अध्ययन		
	हिन्दी		संस्कृत		इतिहास		भूगोल		गणित		टिप्पणी	हस्ताक्षर

प्रयोग-प्रणाली (प्रोजैक्ट मेथड)

यह प्रणाली सर्वप्रथम संयुक्तराज्य अमेरिकामें कृषिके लिये काममें लाई गई थी। उसके पश्चात् अन्य पाठ्य विषयोंके लिये भी इसका प्रयोग किया जाने लगा। स्टीवेन्सनने प्रयोग (प्रोजेक्ट) की यह परिभाषा दी है--

'प्रयोग वह समस्यात्मक कार्य है जो वास्तविक परिस्थितिमें पूरा किया जाय।'

[ए प्रोजेक्ट इज़ ए प्रोब्लेमेटिक ऐक्ट कैरीड टु कम्प्लीशन इन इट्स नैचुरल सेटिङ्ग।]

इनका सिद्धान्त है कि जो विषय पढ़ाए जायँ वे विद्यालयके पाठ्य-विषय कहकर नहीं, वरन् वास्तविक कार्यके रूपमें सिखलाए जायँ। इस प्रणाली-द्वारा भाषा-शिक्षणके एक उदाहरणसे इसका स्वरूप स्पष्ट हो जायगा।

मान लीजिए विद्यार्थियोंको निमन्त्रण-पत्र लिखना सिखाना है। जिस दिन विद्यालयमें कोई उत्सव होनेवाला हो, उस दिन किसी कक्षाके विद्यार्थियोंसे कहा जाय कि नगरके प्रतिष्ठित लोगोंके लिये निमन्त्रण-पत्र लिखो और भेजो। यह प्रयोग कक्षाको दे दिया गया। कक्षाके छात्र सब प्रतिष्ठित लोगोंकी नामावली बनावेंगे, पुराने निमन्त्रण-पत्र एकत्र करके उनमेंसे अपनी-अपनी रुचिके अनुसार सुन्दर निमन्त्रण-पत्र छाँटेंगे, तदनुसार अपने आप लिखेंगे, उन्हें बेल-बूटोंसे सजावेंगे उनके खोल बनावेंगे, ठिकाने लिखेंगे और फिर उन्हें भेज देंगे। इस प्रकार जब एक-एक विद्यार्थी दस-दस बीस-बीस पत्र लिख लेगा तो उसे निमन्त्रणपत्रका वह रूप सिद्ध हो जायगा। अब आपने देखा कि यह समस्यात्मक कार्य्य **'वास्तविक परिस्थिति'** में पूरा किया गया। किन्तु सब विषय तथा एक विषयके सब अंग इस प्रणालीके द्वारा नहीं सिखाए जा सकते। इसका प्रयोग विशेष अवसरोंपर ही किया जा सकता है।

ऐसे प्रयोग दो प्रकारके होते हैं—१. एक-व्यापारी, तथा २. बहु-व्यापारी। जिस प्रयोगमें केवल एक समस्या हो उसे एक-व्यापारी प्रयोग (सिंपिल प्रोजेक्ट) कहते हैं। जिसमें अनेक समस्याएँ हों उसे बहु-व्यापारी प्रयोग (मल्टी-प्रोजेक्ट) कहते हैं। प्रयोग देते समय निम्नलिखित बातोंका ध्यान रक्खा जाता है—

१. प्रयोगमें कोई करणीय कार्य हो। कार्य ऐसा हो कि छात्रको उसके लिये कुछ शारीरिक श्रम करना पड़े।

२. कार्य समस्यात्मक हो। कार्य प्रारम्भ करनेसे पूर्व उसके विषयमें सोचना, विचारना, समझना भी पड़े। यदि हम किसी छात्रसे लोटेमें पानी लानेको कहें तो यह कार्य हुआ, किन्तु समस्यात्मक कार्य नहीं हुआ, क्योंकि लोटेमें पानी लानेके लिये छात्रको कुछ सोचना-विचारना-समझना नहीं पड़ा। किन्तु यदि हम उसी छात्रसे कहें कि एक पात्रमें बसन्ती रंग घोलकर अपनी कक्षाके तीस छात्रोंकी टोपियाँ और कुर्त्ते रँगो तो यह समस्यात्मक कार्य हो गया, क्योंकि अब उस छात्रको यह सोचना होगा कि बसन्ती रंग कैसा होता है? कहाँ मिलेगा? तीस टोपी और तीस कुर्त्ते रँगनेके लिये कितना और कितनेका रंग लगेगा? कितने पानीमें वह रंग डाला जाय कि रंग चटक बसन्ती हो? रँगनेकी कला किससे सीखी जाय?
अब यह समस्यात्मक कार्य हो गया।

३. कार्य पूरा होना चाहिए। कार्यके सब पक्षोंपर केवल सोच-विचारकर, उनका लेखा बनाकर न छोड़ दिया जाय, वरन् उसे पूरा भी किया जाय। यदि कपड़े रँगनेको कहा गया है तो सचमुच कपड़े रँगे ही जाने चाहिएँ।

४. कार्य वास्तविक परिस्थितिमें हो। जो समस्यात्मक कार्य दिया जाय उसे छात्र यह समझें कि इसके लिये सचमुच ऐसा अवसर आ पड़ा है, केवल अभ्यासके लिये नहीं दिया गया है। यदि वासन्ती कपड़े रँगनेके लिये प्रयोग देना हो तो वसन्त-पञ्चमीके दिन दिया जाय

जिससे छात्र यह अनुभव करें कि वास्तवमें यह तो आवश्यक कार्य करना ही है।

वर्षमें दो-चार बार इस प्रकारके एक-व्यापारी या बहु-व्यापारी प्रयोग कराते ही रहना चाहिए और ऐसे प्रयोग केवल एक छात्रको ही नहीं वरन् समष्टि रूपसे एक कक्षाको दे दिए जा सकते हैं।

भाषा-शिक्षाके लिये नाटक बड़ा ही उत्तम बहु-व्यापारी प्रयोग है जो पूरी कक्षाको दिया जा सकता है। मान लीजिए दसवीं कक्षाको यह प्रयोग दे दिया गया—

'प्रताप-जयन्तीके अवसरपर एक नाटक खेलो'।

कोई छात्र नाटक ढूँढ़ेगा, कोई रङ्ग-मञ्चका निर्माण करेगा, कोई पात्र चुनेगा, कोई सङ्गीतका विधान करेगा, कोई निमन्त्रण छपवावेगा, कोई वेश-भूषाकी व्यवस्था करेगा, कोई प्रकाशका प्रबन्ध करेगा, कोई जनताको बैठानेका क्रम बनावेगा, कोई स्वागतका रूप स्थिर करेगा। इस प्रकार बहु-व्यापारी प्रयोगसे पूरी कक्षाको ऐसा 'समस्यात्मक कार्य मिल जायगा जिसे वे वास्तविक परिस्थितिमें पूर्ण' कर सकेंगे।

वर्धा-शिक्षा-योजना

आजकल वर्धा-शिक्षा-योजनाकी धूम है। उत्तर-प्रदेशमें आधार-शिक्षा (वेसिक एजुकेशन) के नामसे तथा मध्यप्रान्तमें विद्या-मन्दिर योजनाके नामसे इसीका प्रयोग हो रहा है। यह योजना सर्वप्रथम महात्मा गाँधीने अपने 'हरिजन' के सन् १९३७ के एक अंकमें प्रकाशित की थी। उनके अनुसार यह योजना १. मुख्यतः गाँवोंके लिये है जहाँ नगरोंकी अपेक्षा शिक्षाका अधिक अभाव है। २. इसका उद्देश्य यह है कि काम-चलाऊ शिक्षा, अक्षर-ज्ञान तथा किसी उपयोगी कौशलका ज्ञान सबको करा दिया जाय। ३. यह शिक्षा कर-दाताओंपर भार न होकर स्वावलम्बी हो। ४. इसके द्वारा गाँव छोड़कर नगरोंमें जाकर बसनेकी प्रवृत्ति रोकी जाय।

इस योजनामें सब ज्ञातव्य विषयोंकी शिक्षा किसी मूल हस्तकौशलपर अवलम्बित तथा उससे सम्बद्ध होती है। बालकने जो मूल हस्तकौशल अपनाया हो उसीसे भाषा, इतिहास, भूगोल, सङ्गीत सबका सम्बन्ध जोड़ा जाता है। इन मूल हस्तकौशलोंमें कताई-बुनाई, खेती-बारी, बढ़ईगीरी इत्यादि अनेक हस्तकौशल आ सकते हैं। यह योजना पेस्टालौजीके शिक्षण-सिद्धान्तों तथा प्रयोग-प्रणालीका भारतीय रूपान्तर मात्र है।

यह शिक्षा-योजना भारतके चार कष्ट दूर करनेकी दृष्टिसे बनाई गई थी—१. दरिद्रता २. निरक्षरता, ३. परतन्त्रता और ४. विद्यालयोंकी नीरसता। यह प्रणाली चार मुख्य मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तोंपर अवलंबित है—१. स्वयं-शिक्षा (औटो-एजुकेशन); २. करके सीखना (लर्निङ्ग बाइ डुइंग); ३. आवयविक शिक्षा (सैन्स-ट्रेनिंग); ४. श्रमका आदर (डिगनिटी औफ़ लेबर)। इसी आधारपर इस प्रणालीके चार अंग भी निर्धारित हो गए—१. अनिवार्य शिक्षा, २. मातृभाषाके माध्यमसे, ३. किसी हस्तकौशलपर अवलंबित, तथा ४. स्वावलम्बी। किन्तु शिक्षाका आधार केवल वही हस्तकौशल हो सकता है जिसमें शिक्षाकी अधिकसे अधिक संभावनाएँ निहित हों अर्थात् जिसके आधारपर पाठ्यक्रमके सभी विषय पढ़ाए जा सकें। पाठ्य विषयोंमें निम्नलिखित विषय निर्धारित किए गए—१. मातृभाषा, २. हिन्दुस्तानी, ३. व्यावहारिक गणित, ४. सामाजिक ज्ञान (इतिहास, भूगोल तथा नागरिक शास्त्र), ५. सङ्गीत, ६. हस्तकौशल तथा ७. व्यायाम (ड्रिल)।

यद्यपि मानव-मात्रके उपयोगमें आनेवाले सभी विषयोंका समावेश इस सूचीमें हो गया तथापि नित्यके पाठन-समयकी जो अवधि बनाई गई वह इतनी विषम थी कि आधे समयमें हस्तकौशल और आधेसे कममें शेष अन्य विषय; यहाँतक कि हस्तकौशलके लिये तीन घंटे बीस मिनट और शेष विषयोंमेंसे प्रत्येकके लिये अधिकसे अधिक आधा घंटा दिया गया।

शिमलेमें इस योजनापर विचार करके निर्णय किया गया कि इस योजनाको स्वावलंबी नहीं बनाया जा सकता। अतः चौथा अंग अलग कर दिया गया। किन्तु तीन घंटे बीस मिनटतक चरखा चलाना या अन्य किसी हस्तकौशलमें समय लगाना भी तो मनोविज्ञानके सभी सिद्धान्त प्रतिकूल है। हाथका ही काम क्यों न हो किन्तु उसमें भी तो एकाग्रता अपेक्षित है और एकाग्रता निःसीम नहीं होती, उसकी भी अवधि होती है। इसीलिये उत्तरप्रदेशमें आधार-शिक्षा और मध्यप्रान्तमें विद्यामन्दिर-योजनाके नामसे जब वर्धा-प्रणाली चलाई गई तो हस्तकौशलके शिक्षणकी अवधि कम कर दी गई।

वर्धा-शिक्षा-योजनाके गुण

इस योजनासे विद्यालयोंके बाहरी रूपमें सौन्दर्य आ गया है। नीरस कोरी भीतोंपर अब अनेक प्रकारके बेलबूटे और चित्र बने दिखाई देते हैं। उनमें प्रवेश करनेपर एक स्वाभाविक आकर्षण होता है, उनके प्रति एक प्रकारकी ममता होती है। अपनी नूतन रचना अथवा अपने बनाए हुए चित्रसे बालकोंके मुखपर स्वनिर्मितिका गौरवपूर्ण उल्लास और उत्साह भी दिखाई देता है। उनकी निष्क्रिय उँगलियोंमें कलापूर्ण सक्रियताकी स्वस्थ चहल-पहल दिखाई देती है और उनके मनमें श्रमके प्रति आदर बढ़ चला है। छात्रोंमें आलस्य कम हो चला है। छोटे-बड़े, ऊँच-नीचका भेद भी तीव्र गतिसे नष्ट हो रहा है। रटने और घोखनेका रोग दूर होता चला जा रहा है और छात्रोंमें वह आतंक नहीं दिखाई देता जो किसी समय इन पाठशालाओंका विशेष शृंगार था। मातृभाषामें शिक्षा होनेसे विभिन्न विषयोंका ज्ञान अधिक वेगसे बढ़ रहा है और विदेशी भाषापर अधिकार प्राप्त करनेके अति प्रयासमें जो समय और शक्ति नष्ट होती थी वह दूसरे कामोंके लिये बच गई है। अध्यापकको भी थोड़ा विश्राम मिल गया है। वह भी उतना व्यग्र और व्यस्त नहीं दिखाई देता जितना पहले था।

इस योजनाके दोष

किन्तु साथ ही विनय और शील, जो मानव-शिक्षा और समाजोन्नतिके दो प्रधान स्तम्भ हैं, अत्यंत निर्ममताके साथ तोड़कर गिराए जा रहे हैं। छात्रोंमें उद्दण्डता, असहन-शीलता और उच्छृङ्खलता बढ़ रही है। वे हस्तकौशलका काम करते अवश्य हैं किन्तु अधिकांश बालकोंकी उधर रुचि नहीं है, क्योंकि हमारे देशकी अधिकांश जनता गाँवोंमें रहती है और प्रत्येक छोटे-बड़ेको अपने सब काम अधिकांशः अपने हाथ ही करने पड़ते हैं। घरमें जो बालक प्रातःकाल सानी-पानी करके आया है वह चरखेके चरखेमें पड़कर ऊबेगा नहीं तो क्या होगा! फिर यह हस्तकौशलका चरखा विधिका चक्र बनकर पाठशालाके सभी घंटोंमें उसके सिरपर घूमता है क्योंकि भाषा, इतिहास, गणित, सङ्गीत सभी विषयोंका पाठ उसी हस्तकौशलसे प्रारम्भ होता है और उसीसे अन्त होता है। किसीको भी पागल कर डालनेके लिये इससे बढ़कर और क्या उपाय हो सकता है?

एक ओर हम समूचे समाजको 'पाई-पाई बचाओ', 'कुछ नष्ट न करो' का उपदेश देते हैं, दूसरी ओर, हमारे इन नये विद्यालयोंमें सूत, रुई, लकड़ी, काग़ज़, कार्डबोर्ड और रंग आदिका इतना अपव्यय हो रहा है कि उसे देखकर तो अपने देशकी दरिद्रतामें तनिक भी विश्वास करनेका मन नहीं करता। शिक्षा-केन्द्रोंसे तीन-तीन महीनेमें कला-कौशलके महापण्डित बनकर निकले हुए अध्यापकगण जो परिमित ज्ञान लेकर आते हैं बस वही ज्योंका त्यों अपने छात्रोंको सिखा देते हैं। उत्तर-प्रदेश या मध्यप्रान्त, जहाँ चाहे चले जाइए, चित्र एकसे, काग़ज़के खिलौने एकसे, लकड़ीके निर्माण भी एकसे और वे सब भी ऐसे जिनका भारतीय जीवनसे कोई सम्बन्ध नहीं। विलायतसे हस्तकौशलकी शिक्षा पाए हुए कलाचार्योंने तश्तरी, दियासलाईकी डिबिया, चौकोर या अठपहलू डलिया, अँगरेज़ी चालके गिरजाघरके ढंगका घर, पत्र रखनेका बटुआ आदि बनाना सिखलाया है। गाँवके

लोग इन्हें लेकर क्या करेंगे ? यदि उन्हें झोंपड़ी बनानेके कुछ नये रूप सिखाए गए होते, खटिया बुनाना, खाट सालना, चौकी, पीढ़ा, मचिया, मसालेकी चौकड़ी, टोकरी, हल, रस्सी, चर्खा, करघा, कंघी, चक्की, सिल या कुछ ऐसी वस्तुओंका बनाना सिखाया गया होता, जिनका उनके जीवनसे प्रत्यक्ष सम्बन्ध है तो उन्हें लाभ भी होता और उन्हें व्यावसायिक जीवनके चुनावमें सहायता भी मिलती।

फिर सबसे बड़ा परीक्षाका भूत तो हमारे सिरपर चढ़ा ही हुआ है। हम जो कुछ पढ़ते या पढ़ाते हैं सब परीक्षाके लिये, क्योंकि समाज यही चाहता है और शिक्षा-विभाग भी यही चाहता है कि छात्र अधिकसे अधिक संख्यामें परीक्षा उत्तीर्ण करें। परिक्षा-फलसे ही अध्यापककी योग्यता और सफलता आँकी जाती है। अतः जबतक यह परीक्षा हमारी शिक्षा-प्रणालीमें कृत्या बनकर बैठी रहेगी तबतक किसी प्रणालीसे हमारी शिक्षाका उद्धार नहीं हो सकता।

इस प्रणालीमें नैतिक और धार्मिक शिक्षाका भी अत्यन्ताभाव है। जिस बातके लिये वास्तवमें शिक्षा दी जानी चाहिए उसीका अभाव इसमें आद्यन्त खटकता है। यदि नैतिक शिक्षाकी हमने व्यवस्था नहीं की तो हमारी शिक्षा-योजनाका प्रयोजन ही क्या हुआ ? वर्त्तमान शिक्षा-शास्त्रियोंको इन प्रश्नोंपर विचार करके नई शिक्षा-प्रणालीका स्वरूप स्थिर करना चाहिए कि शिक्षा ही हमारे धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक तथा नैतिक जीवनकी नींव है।

खेल-द्वारा भाषा-शिक्षण

आजकल मनोवैज्ञानिकोंका कथन है कि बालकोंकी शिक्षा अधिक स्वाभाविक तथा सुरुचिपूर्ण बनानेके लिये उन्हें नया ज्ञान इस प्रकार दिया जाय कि वे स्वतः उस ओर प्रवृत्त हों। यह तभी सम्भव हो सकता है जब उस वस्तु या विषयमें बालककी स्वयं रुचि हो। किन्तु अध्यापकके लिये यह जानना बड़ा कठिन है कि किस बालककी किस बातमें अधिक रुचि है और यदि यह जान भी लिया जाय तो एक

कक्षाके पैंतीस भिन्न रुचिवाले बालकोंके अनुकूल पाठ्य-विषय प्रस्तुत करना उसके लिये केवल कठिन ही नहीं, असम्भव भी है। अतः कुछ शिक्षा-शास्त्रियोंने यह सुझाव उपस्थित किया कि अधिकांश बालकोंमें जो स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ अवश्य पाई जाती हों, उन्हींका प्रयोग किया जाय। उनमें से एक प्रवृत्ति है खेल-कूदकी। बालकमें आवश्यकतासे अधिक चापल्य और उत्साह होता है। वह प्रति क्षण कुछ करना, कुछ सीखना, कुछ जानना चाहता है। मनोवैज्ञानिक लोग कहते हैं कि बालकमें कुछ अभिवर्द्धित स्फूर्ति (सरप्लस इनर्जी) होती है जो उसे खेल-कूदके लिये उत्तेजित करती रहती है। किन्तु यह सिद्धान्त नितान्त भ्रामक है। तथ्य यह है कि जैसे कोई प्रौढ मनुष्य भी किसी नये नगरमें पहुँचकर कुतूहलवश वहाँकी प्रत्येक अदृष्टपूर्व, अननुभूत वस्तुकी ओर आँखें फाड़कर देखता है और जानने, समझने तथा सीखनेके लिये व्याकुल रहता है, उसी प्रकार संसार-रूपी नये महानगरमें आया हुआ बालक, अपने चारों ओर नये पदार्थ और नये विषय देखकर, कुतूहल-वृत्तिसे नई-नई वस्तुएँ देखने, सुनने और समझने तथा अन्य लोगोंकी देखा-देखी वैसा ही करनेको प्रयत्नशील होता है। अतः बालकोंकी शिक्षाको स्वाभाविक बनानेके लिये उसे नया ज्ञान इस प्रकार देना चाहिए कि उनमें कुतूहल-वृत्ति जागरित हो और नया ज्ञान आत्मसात् करनेके लिये उत्सुकता हो।

शिक्षा-क्षेत्रमें इस प्रकारकी मनोवैज्ञानिक क्रान्ति लानेका श्रेय विलायती मनोवैज्ञानिकोंको ही नहीं है। आर्य ऋषियोंने वेदके आध्यात्मिक तत्त्वोंका प्रचार और प्रसार उपनिषद्के आख्यानों-द्वारा किया। भगवान् बादरायण व्यासजीने पुराणोंके द्वारा वेदकी व्याख्या करके वेदव्यास नाम धारण किया और विष्णुशर्माने तो शुद्ध और स्पष्ट भाषामें यह बात समझा दी कि जो राजकुमार सीधे उपदेशों और पाठोंसे घबरा गए हों उन्हें कथाके द्वारा नीति सिखाई जाय—

कथाच्छलेन बालानां नीतिस्तदिह कथ्यते

[कथा सुना-सुनाकर उसीके बहाने बालकोंको यहाँ नीति सिखाई जा रही है।]

यह कथा-प्रणाली भी खेल-प्रणालीका ही एक रूप है। इसी प्रकार भरतने नाट्यको भी हितोपदेश-जननं और सर्वोपदेशजननं कहा है। महाकवि कालिदासने अपने मालविकाग्निमित्र नाटकमें नाट्याचार्य गणदासने स्पष्ट कहला दिया है—

नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्।

[नाट्य ही एक ऐसा उत्सव है जिसमें भिन्न-भिन्न रुचिवाले लोग भी एक-सा आनन्द पा सकते हैं।] अतः खेलके द्वारा ज्ञान सिखानेकी प्रेरणा हमें साक्षात् विलायतसे नहीं प्राप्त हुई है।

किन्तु शिक्षामें अनावश्यक खेलका प्रवेश करके उसे हास्यास्पद और खेलवाड़ नहीं बना देना चाहिए, क्योंकि जहाँ कक्षाके अधिकांश बालक उन खेलोंमें सक्रिय तथा उत्साहपूर्ण भाग लेंगे, वहाँ ऐसे भी निरुत्साही, पोंगे तथा जड़ बालकोंकी कमी नहीं होगी जो मुँह बाकर, टुकुर-टुकुर ताका करेंगे और करें-धरेंगे कुछ नहीं। इसके अतिरिक्त, जब बालकोंको गन्ध मिल जायगी कि गुरुजी नित्य कहानी ही कहते हैं, नाटक ही खेलवाते हैं और खेलवाड़ ही कराते हैं तो उनकी रुचि या तो पढ़नेसे ही हट जायगी या खेलसे ही उनकी विरक्ति हो जायगी। अतः कक्षाके नियमित शिक्षणमें इन खेलोंका प्रयोग कभी छठे-छमासे ही करना चाहिए क्योंकि अधिक खेलवाड़-प्रणालीका कुफल यह होता है कि कक्षामें विनय और शीलका अभाव हो जाता है, बालक उद्दंड हो जाते हैं और गुरु तथा शिष्यके बीच जो आदर और शीलका भाव होना चाहिए वह लुप्त हो जाता है। फिर भी कुछ खेल ऐसे अवश्य हैं जिनका प्रयोग उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

नाटक

नाटक ही एक ऐसा खेल है जो वास्तवमें खेल होते हुए भी शिक्षा-पीठ बना रहता है। उसके प्रत्येक अंगमें कुतूहल उत्तेजित करनेकी

सामग्री भरी रहती है। नाटकका चुनाव बालकोंकी विवेचना-शक्ति तथा रुचिका परिष्कार और संवर्द्धन करता है। वेशभूषा आदि एकत्र करना और निर्माण करना उनकी कला-प्रियता बढ़ाता है। भूमिका ग्रहण करके अभिनय करना उनकी भाव-प्रकाशन-शक्तिको बल और सौन्दर्य प्रदान करता है तथा नाटककी आयोजना करके उसका प्रदर्शन करना उन्हें संघटन, व्यवहार तथा प्रबन्ध करनेका कौशल सिखाता है। नाटकसे भाषा, कथा, कला और भावोंका ज्ञान होता है। अतः प्रति सप्ताह या पक्षमें छोटे-छोटे अच्छे भावपूर्ण तथा उपदेशपूर्ण छोटे नाटक लिखकर बालकोंसे उनका अभिनय कराते रहना चाहिए।

कहानी

कक्षामें प्रयोग करने योग्य दूसरा खेल है—कहानी। कहानीकी ओर छात्रोंकी ही क्या, बड़े-बूढ़ों-तककी स्वाभाविक रुचि होती है, किन्तु कहानी कहने-गढ़नेकी कला अध्यापकको अवश्य आनी चाहिए। कहानी कहते समय आँख, मुँह, हाथ, सिर कैसे हिलाने-डुलाने चाहिएँ किन बातोंकी पुनरावृत्ति करनी चाहिए, किन स्थलोंपर बल देना चाहिए, ये सब बातें कथा-कौशलसे सम्बन्ध रखती हैं और इनका ज्ञान अध्यापकके लिये अत्यन्त अपेक्षित है। पहले राजाओंके यहाँ कहानी कहनेवाले पारिषद होते थे जो राजकार्योंसे थके हुए राजाओंका मन बहलानेके लिये उनके साथ-साथ रहा करते थे। विदूषक भी कुछ इसी प्रकारके होते थे किन्तु अध्यापकको विदूषकत्वकी श्रेणीतक उतरनेका प्रयास नहीं करना चाहिए अन्यथा बालक-वानर उनका ठहरना भी कठिन कर देंगे। कहानी कहनेके लिये उचित अवसर भी देख-समझ लेना चाहिए और जहाँतक हो सके छोटी कहानियाँ या चुटकुले ही अधिक सुनाने चाहिएँ।

हस्तलिखित पत्रिका

कक्षा या विद्यालयकी ओरसे हस्तलिखित मासिक पत्रिकाओंके

प्रचारने भी बालकोंको अधिक आकृष्ट किया है। देखा गया है कि जिन विद्यालयोंमें कक्षा-पत्रिकाका प्रचलन है वहाँ छात्रोंमें लेख, कविता या कहानी लिखनेकी होड़-सी लगी रहती है और बड़े चावसे वे उसमें लिखते हैं क्योंकि इससे उनकी आत्म-विज्ञापनकी भावना सरलतासे संतुष्ट हो जाती है।

अन्य खेल

पहेली-बुझौवल, रूढ़ोक्तियों तथा लोकोक्तियोंका प्रयोग, अन्त्याक्षरी-प्रतियोगिता, सुन्दर सूक्तियोंको स्वच्छतासे लिखवाकर कक्षाकी भीतोंपर टाँगना, सहित्यिक महापुरुषोंके जन्मदिवसोत्सवोंका आयोजन करना आदि ऐसे सार्थक खेल या उत्सव हैं, जिनसे छात्रोंका भाषा-ज्ञान और साहित्य-ज्ञान दोनों भली-भाँति बढ़ सकते हैं।

कुछ मौखिक और लिखित खेल भी ऐसे हैं जिनसे कुतूहलके साथ ज्ञान भी बढ़ सकता है। जैसे—

(अ) अक्षर कहकर शब्द कहलाना। कक्षाके दो दलोंमेंसे एक दल कहता है 'ज', दूसरा दल तत्काल 'ज' से आरम्भ होनेवाला शब्द कहता है—जलज।

(आ) एक जातिके पदार्थोंके कई नाम देकर उनके साथ एक असगत शब्द दे दिया जाय और उसे छँटवाया जाय, जैसे—कोयला, मोर, पपीहा, हाथ, गौरैया। इसमें चार नाम पक्षियोंके हैं, केवल 'हाथ' असंगत है।

(इ) उचित क्रिया निकलवाना, जैसे—

गौ ......

मेंढक .....

बकरी ......

सिंह ......

देकर रिक्त स्थानोंमें नीचे लिखी क्रियाओंसे उचित क्रिया छाँटकर लिखनेको कहना—

मिमियाती है, रँभाती है, गरजता है, टर्राता है।

इसी प्रकार विशेषण, विशेष्य, क्रिया-विशेषण आदिका अभ्यास जा सकता है।

(ई) कई उत्तरोंमेंसे उचित उत्तर निकलवाना, जैसे—

तुलसीदासजी बड़े भारी कवि थे। क्योंकि—

१. उनकी स्त्रीने उन्हें उपदेश दिया था।

२. वे काशीमें रहते थे।

३. उन्होंने अनेक सुन्दर काव्योंकी रचना की है।

उपर्युक्त उत्तरोंमेंसे ठीक उत्तर चुनकर उससे पूर्व ठीक (7) का चिह्न लगवाना।

(उ) अक्रम तथा अनर्थक शब्दावलीसे सक्रम तथा सार्थक वाक्य बनाना। जैसे—

रामकी पत्नी रावणने अपनी अशोक-वाटिकामें उनकी राक्षसियोंको हर ले जाकर रक्खा और रखवालीके लिये सीताजीको नियुक्त किया।

सक्रम तथा सार्थक वाक्य यों होगा—

रावणने रामकी पत्नी सीताको हर ले जाकर अपनी अशोक-वाटिकामें रक्खा और राक्षसियोंको उनकी रखवालीके लिये नियुक्त किया।

(ऊ) अक्षर-पत्ते खेलना: पत्तों (ताशके पत्तों) पर एक-एक अक्षर लिखकर फेंट देना और फिर दो, तीन, चार या छः बालकोंमें बराबर बाँट देना। पत्ते पा चुकनेपर सब बालक क्रमशः एक-एक पत्ता चलेंगे और प्रत्येक आगेवाला बालक यह प्रयत्न करेगा कि मैं ऐसा पत्ता डालूँ जिसके अक्षरसे पहले पड़े हुए पत्तोंके अक्षर मिलाकर पूर्ण शब्द बन जाय। यदि पूर्ण शब्द बन जाय तो वह उन सब पत्तोंको उठा ले जिनसे शब्द बन जाता है। ऐसे अनेक प्रकारके सार्थक खेल अध्यापक स्वयं सोच-विचार कर बना सकते हैं और यथावसर प्रयोग कर सकते हैं।

श्रव्य-दृश्य विधान (औडियो-विज़ुअल मैथड्स)

आजकल कुछ शिक्षा-शास्त्रियोंका मत है कि छात्रोंको श्रव्य-दृश्य

प्रणालीसे मनोरंजनके साथ-साथ ज्ञान भी देना चाहिए। चित्र-प्रदर्शन, विभिन्न स्थानोंमें ले जाकर विभिन्न वस्तुओं, स्थानों, व्यक्तियों तथा दृश्योंका प्रत्यक्ष परिचय, मूक तथा सवाक् चलचित्रके द्वारा विभिन्न देशोंके दृश्यों और विभिन्न मानव-जातियोंके व्यवसाय, रहन-सहन, चाल-ढाल रीति-नीतिका प्रत्यक्ष ज्ञान ग्रामोफ़ोनके तवोंसे विभिन्न देशोंके संगीत, भाषण-शैली और भाषाओं ज्ञान, चित्रविस्तारक (लैन्टर्न स्लाइड या ऐपिडियास्कोप)के द्वारा भौगोलिक, ऐतिहासिक, वैज्ञानिक, स्वास्थ्य-सम्बन्धी तथा सामाजिक विषयोंका ज्ञान कराना सब इस प्रणालीके अन्तर्गत आता है। श्रव्य-दृश्य विधानसे शिक्षा देनेकी व्यवस्था जिन लोगोंकी है उनका मत है कि इस प्रकारके चित्र-प्रदर्शन, प्रत्यक्ष अनुभव, भ्रमण तथा श्रवणके द्वारा बालक जो ज्ञान प्राप्त करते हैं वह पुस्तक-ज्ञानकी अपेक्षा कहीं अधिक रुचिकर तथा हितकर होता है। मनोरंजक होनेके कारण उसमें छात्रोंकी रुचि होती है। रुचि होनेके कारण उसकी ओर उनका ध्यान एकाग्र होता है और ध्यान एकाग्र होनेके कारण उस ज्ञानको वे शीघ्र आत्मसात् कर लेते हैं। आजकल विभिन्न प्रादेशिक सरकारोंकी ओरसे और केन्द्रिय सरकारकी ओरसे भी १६ मिलिमिटर और ३५ मिलिमिटरकी चित्र-पट्टियोंपर ऐसे शिक्षा-पूर्ण चित्र बनने लगे हैं कि छात्र उनमें रुचि भी लेते हैं और विद्यालय भी १६ मिलिमिटर-वाली चित्र-दर्शिका (प्रोजेक्टर) लेकर अपने विद्यालयमें ही समय-समयपर ऐसे चित्र निःशुल्क मँगाकर प्रदर्शित कर सकते हैं। सम्पन्न विद्यालय तो चल-चित्रक (मूवी कैमरा) मँगाकर यह व्यवस्था भी कर सकते हैं कि अपने विद्यालयके छात्रोंके द्वारा कुछ दृश्य, खेल इत्यादि कराकर अथवा अनेक स्थानोंके चित्र स्वयं तैयार कराकर अपने छात्रोंको दिखाते रहें। इस प्रकार अनेक सामाजिक विषयोंका विशेषतः नागरिक व्यवहार, सदाचार, स्वास्थ्य आदि विषयोंके चित्र बनाकर दिखानेसे विद्यार्थियोंका बड़ा उपकार हो सकता है।

२५

नागरीमें मुद्रण, टंकण तथा अनुद्रुत लिपि

छपाई और शीघ्रलिपि

नागरी-सुधारकोंके दो आरोप हैं कि १. मुद्रण-यन्त्रालयोंको देवनागरीके डब्बे (केस) में लगभग ५०० अक्षर रखने पड़ते हैं किन्तु अँगरेजीमें प्रायः १५० अक्षरों से काम निकल जाता है इसलिये नागरीके भी अक्षर कम कर देने चाहिएँ। २. एकाक्षरी यन्त्रों (मोनोटाइप मशीनों) में इतने अक्षर रखना संभव नहीं हो रहा है। इसका अर्थ यह है कि लिपिके लिये यन्त्र न बनें, यन्त्रोंकी सुविधाके अनुसार लिपि बने अर्थात् शरीरके लिये कोट न बने, कोटके लिये शरीर काटा जाय।

'करन' प्रणाली

मुद्रण-यन्त्रालयोंमें पहले अवश्य ही मात्रा, रेफ, अनुस्वार, तथा अनुनासिक-सहित सब मूल अक्षर और बहुतसे अन्ध्यक्षर रखने पड़ते थे जिससे अक्षरोंकी संख्या बहुत बढ़ जाती थी, किन्तु जबसे 'करन' अर्थात् टाइपके पीछे खाँची छोड़कर अक्षर ढालनेकी चाल चली है तबसे काम अत्यन्त सरल हो गया है और केवल निम्नलिखित २२१ अक्षर रह गए हैं—

ॐ अ इ ई उ ऊ ऋ ॠ* ऌ* ॡ* ए क ख ग घ ङ*

च छ ज झ ञ* ट ठ ड ढ ण त थ द ध न प फ ब भ म

य र ल व श ष स ह क्ष त्र ज्ञ क ख ग घ च ज झ ञ ण त थ ध न

प ठ ४ म र थ्य ल ठ श ष स ह् द त क्त क्र ख ग घ ङ्क❀ ङ्ख❀ ङ्ग❀ ङ्घ❀ ङ्क्त❀

ङ्क्ष❀ ङ्द्व❀ ङ्ख्य❀ ङ्ग्र❀ ङ्घ्य❀ ङ्घ्र❀ ञ्ज❀ छ्र छ्व ञ ट्क❀ ट्ट ड्ड

ङ्ग❀ ड्ड ड्म❀ त्त त्र श्र❀ ह्र ड्ढ द्ध द्य द्र द्व द्ग द्व द्म द्र द्ध द्र द्ध

ध्र❀ न्न प्र फ्र ब्र भ्र म्र व्र श्र श्र❀ श्र स्न ह्र ह्न ह्ल ह्म ह्ल ह्व ह्य

ा ि ी ु ू ृ े ै ो ौ ं ँ ः ां ि ीं ~ ँ ों

ौं ॄ ीं िं ीं ~ ॅ ें ैं ीं िं ीं ॄ ~ ॅ ें ैं

िं ीं ें ैं ौं ौं ीं ीं ीं

ों ौं ् ऽ ॅ १ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ ० । ॥ , ; ?

! ( ) [ ] " " = × ÷ + - = ≡ ।) ऽ — - -

इस प्रकार कुल मिलाकर २२१ टाइप रह जाते हैं। इनमेंसे जिनके आगे ❀ फूल लगे हैं वे अधिकतर संस्कृतकी छपाईमें ही काममें आते हैं। अतः सब मिलाकर कुल सौ रेखाङ्कित टाइप ऐसे हैं जिनमें 'करन' बनानेकी आवश्यकता है।

खण्ड और अखण्ड अक्षर

नागरीमें दो प्रकारके अक्षर प्रचलित हैं १. खण्ड, २. अखण्ड। खण्ड टाइपमें मात्राएँ अलगसे लगाई जाती हैं, इसलिये उसमें टाइप कम हो जाते हैं किन्तु अखण्डमें मात्राएँ अक्षरोंके साथ ढाली जाती हैं इसलिये उनकी संख्या अधिक हो जाती है। उपर्युक्त २११ अक्षरोंमेंसे बहुतसे अक्षरोंका नागरीमें बहुत कम प्रयोग होता है अतः डब्बे (केस) में भरते समय प्रयोग-बाहुल्यके सिद्धान्तसे उसके विभाग कर लिए जाते हैं, जिससे अक्षर-योजकों (कम्पोज़िटरों) को स्मरण करने और अक्षर जोड़नेमें सुविधा रहे।

नागरी मुद्रणालयमें टाइपोंकी संख्या कम करनेवालों या अक्षरोंकी रूप बदलनेवालोंको निम्नलिखित सिद्धान्त स्मरण रखने चाहिएँ—

१. नागरीके डब्बे (केस) में पुस्तकोंकी लेखन-प्रणालीके अनुसार टाइप रखने होंगे।

२. अरबों रुपयोंकी पोथियोंमें जो छापेकी परम्परा बँध गई है उससे भिन्न कोई टाइप न हों, क्योंकि जो नये अक्षर बढ़ाए, बदले या बनाए जायँगे या पुराने अक्षर छोड़े जायँगे उनका सीखना भी नये लोगोंके लिये अनिवार्य होगा। फिर वही उक्ति चरितार्थ होगी कि 'गए थे रोज़े छुड़ाने, नमाज़ गले पड़ी', और अबतककी छपी हुई पोथियाँ व्यर्थ हो जायँगी।

३. नागरीके लगभग तीस लाख भारतीय कम्पोज़िटरोंको जो एक क्रम स्मरण है उसमें परिवर्त्तन करनेसे उन्हें दूसरा स्मरण करना पड़ेगा।

४. ऐसे परिवर्त्तन न हों कि एक टाइपके स्थानपर दो टाइप बैठाने पड़ें। अभी कुछ लोगोंने 'इ' के स्थानपर 'अि' लिखना आरम्भ कर दिया है। 'इ' में एक टाइप है किन्तु 'अि' में 'अ' और 'ि' दो टाइप लगाने पड़ते हैं। इसमें परिश्रम दुगुना होता है और समय भी दुगुना लगता है। फिर **इ उ ए** निकाल देनेसे कोई विशेष लाभ भी नहीं है।

५. अक्षर कम होना किसी भाषा या लिपिका गुण नहीं है, वरन् पूर्ण होना लिपिका गुण है। एक भाषामें प्रयुक्त जितनी ध्वनियाँ हों उनके लिये उतने ही विशिष्ट चिह्न होने चाहिएँ। नागरीमें सन्ध्यक्षरोंको तोड़कर लिखनेका प्रयत्न भी बड़ा घातक है। उसका विवरण 'लिपिकी समस्या' शीर्षक अध्यायमें दिया जा चुका है। सन्ध्यक्षरका एक अपना अलग स्वरूप हो जाता है। 'वाक्' और 'मय' मिलाकर 'वाङ्मय' बनता है। यदि इसे हम वाङ्मय लिखें तो यह पूर्ण शुद्ध न होगा क्योंकि **म** के साथ मिलकर ही **क्** अपनी मूल ध्वनि खोता है, अलग रहनेपर नहीं। 'म' के साथ मिलकर वह एकरूप 'ङ्म' बन जाता है। अतः, ऐसे सन्ध्यक्षरोंको मिलाकर छापनेमें ही भाषा शुद्ध रह सकती

है। हम उर्दू लिपिको इसीलिये तो दोष देते हैं कि उसमें **'परकार'** और **'प्रकार'** में कोई भेद नहीं है। यदि हम भी **'प्रकार'** को **'प्रकार'** लिखने लगें तो नागरी अक्षरोंसे परिचित व्यक्ति **'परकार'** ही पढ़ेगा। उन्हें कहाँ-कहाँतक आप या हम बताते फिरेंगे कि **'प'** के नीचे हल लगा है, इसे आधा पढ़ो। किन्तु **'प्र'** उसी प्रकार स्वतन्त्र एक अक्षर बन जाता है जैसे **प्** और **र** के संयोगसे 'प्र'। नये मतवालोंके अनुसार **'पण्डित'** लिखना होगा तो लिखेंगे **'पण्डित'**। यह देखनेमें ही अभव्य प्रतीत होता है। यदि सन्ध्यक्षरोंमें हल्के प्रयोगका नियम मान लें तो हमें 'कहना' शब्द इस प्रकार लिखना चाहिए—**'क्अह्अन्आ'**। इससे हमारी लिपि प्रदर्शिनीमें रखने-योग्य वस्तु हो जायगी। अतः नागरी लिपिमें तथा नागरी टाइपके अक्षरोंमें परिवर्त्तन करनेकी आवश्यकता नहीं है। हाँ, जैसे करनकी चाल चली है उसी प्रकार अक्षरमें ही मात्रा, रेफ तथा अनुस्वार आदि भरनेका यदि प्रबन्ध हो जाय तो मुद्रकोंकी कठिनता भी कम हो जाय।

एक महोदयने रेफ चढ़ानेकी अत्यन्त हास्यास्पद रीति निकाली है। वे 'सर्वोदय' शब्दको छापते हैं—**'सर्वोदय'**। यह तो नागरीकी प्रकृतिके ही विपरीत है। शिरोरेखाके बीचमें त्रिशंकुके समान अक्षर लटकानेकी यह रीति कहाँसे आई, हम नहीं जानते। जो लोग इस प्रकारकी अपनी डेढ़ चावलकी खिचड़ी अलग पकाना चाहें उन्हें अपनी लिपिका नामकरण भी अलग कर देना चाहिए, उसे नागरी या देवनागरी लिपि नहीं कहना चाहिए।

टङ्कण या टप-लेखक (टाइप-राइटर)

टाइप करनेकी मशीनमें दो झटके होते हैं और इन दोनों झटकोंमें बानबे (९२) अक्षरतक आ सकते हैं। इसके अक्षरोंकी सूची बनाते समय हमें संस्कृतका ध्यान अवश्य रखना होगा।

नई रैमिंगटन मशीनमें जिस क्रमसे अंक और अक्षर दिए गए हैं

उनका विवरण नीचे दिया जाता है—

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ ० =११
ज्ञ द्द ब्र ढ्व छ ट ठ ड ढ ण =११
त्त ह क्ष च र श र द इ ए =१२
त्र घ भ च त थ ग द्ध य उ =१२
फ्र क्र क्र व्य उ ो ी द ऋ ौ =१२
ब क म ा न ज व प ि स र ो =१२
ट ह्म ऋ रु द्य ष ट : श्र =११
श ह अ ख द प ल . । =११

इनमें निम्नलिखित परिवर्तन और परिवर्द्धन अपेक्षित हैं—

परिवर्द्धन—ॐ द्व ङ य — ( )

परिवर्त्तन : घ झ ण प त्र के अर्द्ध और पूर्ण दो प्रकारके अक्षरोंके बदले ङ ञ ए ष ञ रहें जो 'ा' लगाकर पूरे हो जायँगे। द त्त फ त्त रू द्य प निकाल दिए जायँ। इनका काम द्द द, -त, प ट द्‍ा, र्‌ , द्‌ थ, ष ा मिलाकर चल जायगा।

अँगरेजीकी मेशीनमें सब झटके 'चल' हैं अर्थात् अक्षर छापकर सरक जाते हैं किन्तु हिन्दी की कुछ मशीनोंमें मात्राएँ और चिह्नोंके ऊपर-नीचेके झटके अचल होते थे जिससे गतिमें क्षिप्रता नहीं आती थी किन्तु 'ओलिम्पिया' यन्त्रमें यह दोष भी दूर हो गया है। उसमें सब झटके चल हो गए हैं। इन यन्त्रोंमें अँगरेजीकी भाँति अक्षर अक्रम लगे हैं किन्तु यदि इनमें वर्णमालाके क्रमसे ही अक्षर रक्खे जाते तब भी दोष न आता क्योंकि स्मरण करनेमें भी सुविधा होती।

अनुद्रुत-लिपि

अँगरेजीमें जिसे शौर्टहैण्ड कहते हैं उसे नागरीमें त्वरालिपि, शीघ्र-लिपि आदि कइ नामोंसे पुकारा जाता है। ललित-विस्तरमें

इसका नाम 'अनुद्रुत लिपि' मिलता है। इस लिपिका उद्देश्य यह होता है कि किसी भी वक्ताकी वाणी तत्काल लिपिबद्ध कर ली जाय। आजकल विधान-सभाओंमें, परिषदोंमें, गोष्ठियोंमें, कक्षाओंमें व्याख्यान ही व्याख्यान होते हैं जिनकी अपनी उपयोगिता होती है। अतः अनुद्रुत लिपि प्रत्येक शिक्षित व्यक्तिको जाननी चाहिए। विद्यार्थियों, राजनीति-विशारदों तथा समाजसेवियोंके लिये तो यह अमूल्य वस्तु है। काशीके पंडित निष्कामेश्वर मिश्रजीने जो प्रणाली निकाली है उसके अनुसार एक मिनटमें १०० शब्द टाँकनेवाले अनुद्रुत-लेखक उपस्थित हैं, अतः उनकी प्रणाली ही सर्वग्राह्य है। यद्यपि और भी कई अनुद्रुत-लिपियाँ प्रचलित हैं किन्तु उनमें इतनी गति नहीं हो पाती है। द्रुत-लिपि बनानेके सिद्धान्त ये हैं—

१. सब चिह्न यथासम्भव गोल हों, जिन्हें लिखते हुए पेंसिल न रोकनी पड़े।

२. एक ही प्रकारके चिह्न मोटे या पतले दो प्रकारसे न लिखे जायँ क्योंकि पेंसिलसे लिखनेमें मोटा-पतला बनाना कठिन होता है।

३. अत्यन्त प्रचलित वाक्यों, उक्तियों तथा प्रयोगोंके अलग चिह्न बना लिए जायँ।

मुद्रण-संशोधन (प्रूफ-रीडिंग)

हमें नित्य निमन्त्रणपत्र, अभिनन्दनपत्र इत्यादि छपवाने पड़ते हैं। हम लिखकर तो दे देते हैं किन्तु जब वह प्रेससे बँधकर आता है तब मुद्रणालयकी बातोंसे अनभिज्ञ होनेके कारण हम उसे पूर्णतः शुद्ध नहीं कर पाते। अतः नागरी भाषा और हिन्दी साहित्यके अध्यापकको छपवानेके काममें कुशलता प्राप्त करनेके लिये मुद्रण-संशोधन अवश्य सीख लेना चाहिए।

संशोधनके कुछ संकेत होते हैं जिन्हें प्रत्येक अक्षर-योजक (कंपोज़िटर) पहचानता है। नीचे सब चिह्न देकर उनके आगे उनका अर्थ भी समझा दिया गया है—

रैखाङ्कित शब्द टेढ़े अत्तरों (इटैलिक) में करो ।

अंतर कम करो ।

पंक्तिके शब्दों के बीच ठीक अन्तर दो ।

उल्टी टेक (इनवर्टेड कौमा) लगाओ ।

मँझले नापकी पड़ी पाई लगाओ ।

टाइपका आकार बदलो इसके लिये एक पड़ी पाई देकर उसपर उस आकारका पहला अत्तर लिख देना चाहिए जिस टाइपका प्रयोग करना हो । यहाँ व का अर्थ 'वन्निक टाइप' है ।

अत्तर निकाल दो ।

अत्तर निकालकर मिला दो ।

अलग करो ।

मिला दो ।

दबा दो (स्पेस उभड़ जानेपर) ।

इधरका उधर करो ।

भूलसे कटा है; ज्योंका त्यों रहने दो ।

बीचमें अत्तर डालो ।

मात्रा, अनुस्वार, अनुनासिक या रेफ छूटा है, लगाओ ।

बाएँको खींचो ।

दाएँको खींचो ।

एक साथ चलाओ, नया अनुच्छेद नहीं है।

या N. P.; यहाँसे नया अनुच्छेद है।

= अक्षरोंको एक सीधमें करो।

|| पंक्तियोंको एक सीधमें करो।

X ठीक करो, सीधा करो, स्पष्ट करो, टाइप बदलो।

या W. F., दूसरे आकार (फ़ौण्ट) का अक्षर है, बदलकर ठीक करो।

यदि दो पंक्तियोंके बीचमें स्थान कम या अधिक हो तो पंक्तियोंके बीचमें रेखा खींचकर दाईं या बाईं ओर अलग करने या अंतर कम करनेवाला चिह्न देना चाहिए।

कभी-कभी अक्षर जोड़नेवाले लोग भूलसे कुछ सामग्री छोड़कर आगे बढ़ जाते हैं। ऐसे स्थानोंपर उस स्थानके बीचसे रेखा खींचकर एक ओर 'प्रेस छूट—कापी देखो' लिख देना चाहिए। साथ ही कापीकी पृष्ठसं-ख्या भी लिख देनी चाहिए तथा पुस्तकमें उतना अंश रेखाङ्कित कर देना चाहिए।

मान लीजिए आगे हाथसे लिखी सामग्री मुद्रण-यंत्रालयमें छपनेको दी जानेवाली है। आपका पहला धर्म यह है कि इस सामग्रीको भली भाँति शुद्ध और स्पष्ट लिखकर, नये अनुच्छेद या नई पंक्ति आदिका स्पष्ट बिलगाव करके, शोधकर, विराम-चिह्न लगाकर, छोटे-बड़े अक्षर तथा आकार (साइज़) का पूरा निर्देश दे दें। यह कापी छपनेको भेज दी गई—

२।।

एक खिलाड़ी बालक

मोहन अपने गाँवका सबसे बढ़कर नटखट बालक समझा जाता था। उसके धनहीन माँ-बाप सब तरहसे उसे समझा-बुझाकर थक गए और उसे उन्होंने मारपीटकर घरसे बाहर निकाल दिया। वह गाँवसे बाहर निकलकर सड़कपर आ बैठा तो देखता क्या है कि अपने बिलोंकी ओर जाती हुई छोटी-छोटी चींटियाँ बड़े वेगसे चली जा रही हैं।

'भले बनो नटखटपन छोड़ो।
काम करो घरमें धन जोड़ो।।'

इसका रूप मुद्रण-यन्त्रालयसे इस प्रकार आया है—

एकक खिलवाड़ी बालक

मोहनअपने गाँव का ▪ सबसे बढ़कर नटखट

बाकल सकभा था जाता उसके धनहीन

मा—बाप सब तरहसे उसे सभाबुभाकर थक

गए

आर उसे मा२पटक२ घ२से बाह२ निकाप

दया। वह गांवसे बाहर निकलकर सड़कपर आ

बैठा तो देखना क्या है कि छोटी-छोटी चीटीया

बड़े वेगसे चली आ रही है

भले बनो नटखटपन छोड़ो।

काम करो घरमें धन जोड़ो।।

उपर्युक्त लेखका संशोधन इस प्रकार होना चाहिए—

एकक्र खिलाड़ी बालक

मोहन अपने गाँव का सबसे बढ़कर नटखट बालक समझा था जाता उसके धनहीन मॉ-बाप सब तरहसे उसे समझाबुझाकर थक गए

और उसे मारकूटकर घरसे बाहर निकाल दिया। वह गाँवसे बाहर निकलकर सड़कपर आ बैठा तो देखता क्या है कि छोटी-छोटी चींटियाँ बड़े वेगसे चली आ रही हैं।

भले बनो नटखटपन छोड़ो।

काम करो घरमें धन जोड़ो॥

प्रेस-छूट कापी नं० २

कुछ संशोधक लोग बहुत रेखाएँ खींचकर ऐसा घिचपिच संशोधन कर देते हैं कि उसे देखकर अक्षर-योजक खीझ उठते हैं। ऐसा न करके संशोधन उसी प्रकार स्पष्टतासे करना चाहिए जैसा ऊपर दिखाया गया है। स्थान न रहनेपर बहुत स्वच्छ रीतिसे रेखा खींचनी चाहिए जैसा ऊपर प्रूफकी छठी पंक्तिमें **'उन्होंने'** बनाया गया है। कभी-कभी अक्षर-योजक टाइप घट जानेपर उस अक्षरको तोड़कर बना देते हैं जैसे 'ब' के घट जानेपर 'ब' (आधे ब में आकारकी मात्रा लगाकर) बना देते हैं। संशोधनके समय ऐसे अक्षरोंको काट देना चाहिए। कभी-कभी एक विशेष अक्षरके बदले कोई उल्टा अक्षर लगा मिलता है। ऊपर दिए हुए संशोधनकी छठी पंक्तिमें 'र' के स्थानपर उल्टा आधा स (ﻉ) लगा हुआ है। इसे 'टन्नप' (टर्ण्ड अप) कहते हैं। इसका अर्थ है कि अक्षर जोड़ते समय यह अक्षर डब्बे (केस) में चुक गया है।

संशोधन एक क्रमसे करना चाहिए। अक्रम संशोधन करनेका फल यह होता है कि शुद्ध होनेके बदले वह और भी अशुद्ध हो जाता है। संशोधन भी एक कला है। इसका भली प्रकार अभ्यास कर लेना चाहिए। संशोधन करते समय निम्नलिखित बातोंका विशेष ध्यान रखना चाहिए—

१. पृष्ठ-संख्याका क्रम तथा पृष्ठ-शीर्षक (पेज-हेडिंग) ठीक है या नहीं।

२. प्रत्येक पृष्ठके ऊपर नीचे, दाएँ-बाएँकी पट्टी ठीक छूटी है या नहीं।

३. प्रत्येक पृष्ठके दोनों ओरकी पंक्तियाँ एक दूसरेपर ठीक पड़ी है या नहीं, नीचे-ऊपर या आगे-पीछे तो नहीं है, अर्थात् इम्पोज़िशन ठीक है या नहीं।

४. फ़र्मे (एक बार छपनेवाले पृष्ठोंकी बँधान)की पृष्ठ-संख्या क्रमसे है या नहीं? यन्त्र-चालककी भूलसे फ़र्मा बाँधते समय इधर-उधर तो नहीं हो गया है।

५. पंक्तियोंके बीचमें समान अन्तर छूटा है या नहीं।

६. छोटे-बड़े या भिन्न रूपके अक्षर तो मिलाकर नहीं लगा दिए गए हैं।

७. स्याही ठीक उठी है या नहीं।

८. मुद्रणीय सामग्रीके शीर्षक आदि ठीक बीचमें हैं या नहीं, दाईं या बाईं ओर तो अधिक नहीं सरक गए हैं।

९. आर-पार अक्षर तो नहीं फूटते।

१०. टूटे हुए टाइप तो नहीं लगाए गए हैं।

११. शीर्षक, उपशीर्षक तथा मुख्य विषयके टाइपकी मोटाई क्रमिक है या नहीं, अर्थात् शीर्षक यदि वन्निकमें है तो उपशीर्षक ग्रेटमें होना चाहिए, १२ पौइंट पाइकामें नहीं अर्थात् वह इस क्रमसे हो—

कुमारसम्भव

कुमार कार्त्तिकेयके जन्मकी कथा

इस प्रकार नहीं—

कुमारसम्भव

कुमार कार्त्तिकेयके जन्मकी कथा

यह नहीं समझना चाहिए कि ऊपर जितने नियम और चिह्न दिए गए हैं उन सबका प्रयोग सदा संशोधकको करना ही पड़ता है। अच्छे मुद्रण-यन्त्रालयोंके अक्षर-योजक (कम्पोज़िटर) स्वयं इस विषयमें अत्यन्त सजग और सावधान रहते हैं, फिर भी प्रत्येक कुशल संशोधकको अपनी ओरसे भी सावधानी करके प्रत्येक अक्षर, पंक्ति, पृष्ठ आदि देख लेना चाहिए। कभी-कभी कोई शब्द प्रत्यक्षतः तो शुद्ध प्रतीत होता है किन्तु लेखककी दृष्टिसे अशुद्ध होता है, जैसे 'विकाश' और 'विनाश' दोनों शब्द शुद्ध तो हैं पर लेखकका उद्दिष्ट शब्द क्या है इसे भी समझकर संशोधन करना चाहिए। किसी पंक्ति या पृष्ठके अन्तमें आधा या खंडित शब्द नहीं होना चाहिए अर्थात् यह न हो कि 'कोमलता' शब्दका 'कोम' एक पंक्ति या पृष्ठके अन्तमें हो और 'लता' अगली पंक्ति या पृष्ठके प्रारम्भमें। इस प्रकार अर्थका अनर्थ हो सकता है।

इन सब सिद्धान्तोंके अनुसार ऊपर देखे हुए प्रूफ़की अशुद्धियाँ ठीक करके मुद्रण-यन्त्रालय इस प्रकार छापकर देगा—

एक खिलाड़ी बालक

मोहन अपने गाँवका सबसे बढ़कर नटखट बालक समझा जाता था। उसके धनहीन माँ-बाप सब तरहसे उसे समझा-बुझाकर थक गए और उसे उन्होंने मारपीटकर घरसे बाहर निकाल दिया।

वह गाँवसे बाहर निकलकर सड़कपर आ बैठा तो देखता क्या है कि अपने बिलोंकी ओर गाती हुई छोटी-छोटी चीँटियाँ बड़े वेगसे चली जा रही हैं।

'भले बनो नटखटपन छोड़ो।
काम करो घरमें धन जोड़ो॥'

२६

सयानोंकी शिक्षा

सयानोंको कैसे और क्या सिखावें ?

हमारे देशमें अनिवार्य शिक्षा न होनेके कारण अभी लगभग अट्ठासी प्रतिशत स्त्री-पुरुष ऐसे हैं जिनके लिये काला अक्षर भैंस बराबर है। इस समय हमारे देशमें सांस्कृतिक और राजनीतिक जागर्त्ति तो हुई है किन्तु शिक्षाकी कमीके कारण उस जागर्त्तिका न तो वास्तविक उपयोग किया जा रहा है न उसे चिरस्थायी बनाया जा रहा है।

नागरिकताके पाँच भाव

समाज-शास्त्रियोंका विचार है कि किसी राष्ट्रके प्रत्येक सयाने व्यक्तिमें पाँच प्रकारके भाव होने चाहिएँ—

१. भाषाका भाव : सामाजिक जीवनमें कमसे कम जितनी लिखने-पढ़नेकी आवश्यकता पड़ती है उतना ज्ञान अर्थात् अक्षर-ज्ञान, पत्रादि लिखनेका ज्ञान तथा अपने भाव उचित भाषामें प्रकट कर सकनेका ज्ञान सबको हो।

२. नागरिकताका भाव : अपने गाँव या नगरके राजकर्मचारियोंसे सम्बन्ध, उनसे व्यवहार, परस्पर सद्भाव तथा सेवा-भाव, सड़क, रेल, तार डाकके साधारण नियमोंसे सबका परिचय हो।

३. स्वास्थ्यका भाव : अपने शरीर, घर, पास-पड़ोसको स्वच्छ रखना, आकस्मिक चोट लगने या रोगाक्रान्त होनेपर तात्कालिक कर्त्तव्य जानना, मादक तथा हानिकारक द्रव्योंसे दूर रहना।

४. व्यावसायिक भाव : अपने गाँव या नगरमें उत्पन्न या तैयार हो सकनेवाली वस्तुओंका ज्ञान तथा उनके विक्रय-स्थानोंका ज्ञान हो। खेत या खेतके बाहर उत्पन्न होनेवाले पदार्थोंसे लाभ उठानेकी सम्भावनाओंका ज्ञान हो। अपने आय-व्ययका लेखा रखने तथा आयसे अधिक व्यय न करनेकी बुद्धि हो।

५. देशभक्तिका भाव।

कक्षा-प्रणाली और प्रचार

उपर्युक्त भावोंको पुष्ट और उन्नत बनानेके लिये सयानोंको दो प्रकारसे शिक्षा देनी चाहिए—१. कक्षा-प्रणालीसे और २. प्रचारसे। भाषा सिखानेके लिये तो कक्षा-प्रणालीका प्रयोग आवश्यक है किन्तु कक्षा-प्रणालीकी व्यवस्था करनेसे पूर्व सयानोंकी मनोवृत्ति, भारतकी आर्थिक, सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितियोंका ध्यान रखना भी अपेक्षित है।

सयानोंकी मनोवृत्ति

सयानोंको शिक्षा देनेवालोंको नीचे लिखी बातें समझ लेनी चाहिए—

१. सयानेको बालक नहीं समझना चाहिए। उसने अनुभव तथा सम्पर्कसे बहुत-सा ऐसा ज्ञान संचित कर लिया है जो सम्भवतः उनका अध्यापक भी न जानता होगा। उसकी बुद्धि पक गई है। उसकी विचार-धारा नियमित हो चुकी है। उसके संस्कार बन चुके हैं। अतः उसकी बुद्धि, विचार और संस्कारको माँजने भरकी कसर है। उसे सैकड़ों, सहस्रों दोहे और चौपाइयाँ कण्ठस्थ हैं। उसे अक्षर-ज्ञान करा दीजिए, उसकी स्मृति और मेधा स्वयं अपनी सामग्री जुटा लेगी।

२. वह सामाजिक प्राणी हो गया है। उसे अपनेसे छोटे लोगोंकी कक्षामें बैठते लज्जा लगती है, संकोच होता है। अवस्था और पदमें अपनेसे छोटे व्यक्तिको भाषा-ज्ञानमें उन्नत होते देखकर वह भाग खड़ा हो सकता है।

३. भारत दीन देश है। उसके पास पेट भरनेके साधन भी नहीं हैं। वह पढ़ाईके लिये पैसा कहाँसे लावे। करदाता पहलेसे ही बोझसे दबे हैं, उन्हें और दबाना अन्याय है।

४. हमारे देशमें अनेक मत और सम्प्रदाय हैं। सबकी सांस्कृतिक भावनाएँ भिन्न-भिन्न हैं। एक सीताराम रटता है तो दूसरा राधेश्याम जपता है।

५. ऊँची जातिके लोग छोटी जातिके अध्यापकोंसे पढ़ना बुरा समझते हैं।

६. हमारे देशके किसानको वर्षमें केवल पन्द्रह दिनकी छुट्टी तब मिलती है जब वह अनाज काटकर घरमें रख चुकता है। दिन-भर काम करके सन्ध्या समय वह पढ़नेमें जी नहीं लगा सकता।

७. सामाजिक, धार्मिक तथा जातीय पर्वों और उत्सवोंके कारण यह सन्ध्याकी पढ़ाई भी निरन्तर अधिक दिनोंतक नहीं चल सकती। सयाने लोग दस दिनसे अधिक कक्षा-प्रणालीमें नहीं टहरते। उन्हें शीघ्र ज्ञानकी आवश्यकता है। वे प्रतीक्षा नहीं कर सकते।

दस दिनका शिक्षा-विधान

इन सब बातोंपर विचार करके हमने केवल दस दिनकी कक्षा-शिक्षाका विधान किया है जिसमें बिना व्ययके अक्षर-ज्ञान करा दिया जाय। इस प्रणालीमें नागरी वर्णमालाके क्रमका भी ध्यान रक्खा गया है, साथ ही सयानोंकी मनोवृत्तिका भी। पहले ही दिनसे वे शब्द और वाक्य बनाना सीख जाते हैं। इसलिये उन्हें पढ़ना भी नहीं अखरता।

शिक्षण-विधि

पहले हमारे यहाँ धरतीपर लम्बे पटरेके समान थोड़ी ऊँची मिट्टी बिछाकर उसे पीट-पाटकर समथल करके काला रँग देते थे और सब बालक पंक्तिमें बैठकर उसीपर खड़ियासे लिखते थे। प्रायः गङ्गा या सरयू-की मिट्टीकी कलम-जैसी लम्बी और मोटी पिण्डी ही लिखनेका काम देती

थी। इसीको 'पाठकी'-शिक्षा कहते हैं। यह पद्धति हमारी बहुत पुरानी है। खड़ियासे सिखानेकी प्रथाका थोड़ा संकेत नैषधकारने भी अपने नैषधीय-चरितमें किया है। महाभाष्यकारने जिस 'खंडिकोपाध्याय'का परिचय दिया है वे भी इसी खड़ियासे पढ़ानेवाले पाधाजी ही थे। धीरे-धीरे सूखी खड़ियाको छोड़कर लोग गीली खड़ियासे लिखने लगे। अब तो कक्षाओंमें कागज़पर स्याहीसे लिखनेका प्रचलन हो गया है जिससे कपड़े एवं शरीर रँगे जानेका भय सदा बना रहता है। बाल-पाठशालाके छात्र तो इससे काले हो ही जाते हैं पर सयाने भी उसके रंगसे बच नहीं पाते। आजकल तो बाल-विद्यालयोंमें पाटियों और सलेटोंपर लिखनेकी चाल चल पड़ी है किन्तु बालू बिछाकर उँगलीसे या पतली लकड़ियोंसे लिखवाकर लोगोंको वर्णज्ञान कराना अधिक सस्ता और सुविधाजनक है। जब वे थोड़ा सीख लें तब उन्हें कागज़पर लिखनेका अभ्यास कराया जाय तो भारतके लिये बहुत ही सुलभ तथा सुगम हो।

सयानोंको भाषा-शिक्षा देनेके कुछ नियम

सयानोंकी पाठशालाओंमें शिक्षा देनेवाले शिक्षकोंको निम्नाङ्कित बातें जाननी परम आवश्यक हैं—

१. धरतीपर बालू बिछाकर उँगली या लकड़ीसे अक्षरका ज्ञान कराना।

२. व्यवहारमें आनेवाले शब्दोंका संग्रह करके उनका उपयोग करनेकी रीति बताना।

३. पढ़ना सिखाना—

क. अक्षर-ज्ञान हो जानेपर उन्हें परिचित पुस्तकें दी जायँ जैसे रामायण, हनुमान-चालीसा आदि।

ख. सरणी बनाकर कुछ ऐसे शब्दोंके आकार-प्रकारसे उन्हें अधिक परिचित करा दिया जाय जो उनके दैनिक कार्योंमें व्यवहारमें आते

हों जैसे देवताओं, महापुरुषों, घर-गृहस्थीकी वस्तुओं तथा दिन-मासोंके नामादि।

४. प्रौढोंके लिये पुस्तकालय या वाचनालय विशेष हितकर नहीं हो सकते क्योंकि उनके पास इतना समय ही कहाँ है? रामायण और हितोपदेश ही उनका पुस्तकालयका हो जिनसे वे जंगम पुस्तकालयका काम ले सकें। वाचनालयोंकी व्याधिसे उन्हें बचाना चाहिए क्योंकि आजकलका सिद्धान्तहीन पत्र-पत्रिकाएँ पढ़नेसे मानव-समाज अपना स्वतन्त्र विचार नहीं रख सकता और फिर ये पत्र नगरोंकी बुराइयाँ और विद्वेष-भावनाओंके विष-बीज भी गाँवोंमें बो सकते हैं।

५. जीवनमें आनन्द लानेके लिये ढोलक और झाँझपर भजन आदि गानेकी लोक-गोष्ठियोंसे उनका बहुत हित हो सकता है।

६. जिस स्थानमें प्रौढ पाठशाला हो वहाँ जो व्रत उत्सव या मेला पड़े उसका रहस्य बताकर उसे मनानेकी विधि भी बतानी चाहिए और उसमें जो दोष आ गए हों उन्हें उनकी सम्मतिके अनुसार परिवर्तन करनेका भी यत्न करना चाहिए। ऐसा न हो कि हमारे इस कामसे उन लोगोंके अन्तःकरणको किसी प्रकारकी चोट पहुँचे। इस अवसरपर शिक्षकोंको अपने विचार उन लोगोंपर नहीं लादने चाहिएँ, उनकी संस्कृति या प्रवृत्तिके अनुसार ही उसमें संशोधन या परिवर्द्धन करानेका उद्योग करना चाहिए।

यद्यपि नगरोंका वातावरण कुछ बदल सा गया है पर गाँव अभी बहुत कुछ प्राचीनतासे बँधे हैं। उन्हें पुराणोंकी कथा बड़ी प्रिय एवं रुचिकर लगती है। अतः प्रौढोंके लिये व्याख्यानसे अधिक रुचिकर एवं हितकर पुराण, इतिहासकी कथा-वार्त्ता एवं प्रवचन होते हैं। हाँ, जो कथावाचक हों, वे उसके पूर्ण मर्मज्ञ और अपने भाव प्रकट करनेमें कुशल कलाकार हों, उनका चरित्र बड़ा स्वच्छ एवं जीवन सरल हो जिसका उनके हृदयपर पवित्र प्रतिबिंब पड़े। उत्सवों या कथाओंमें

कोई ऐसी बात न की जाय या कही जाय जिससे किसीकी जातिगत या व्यक्तिगत भावनाओंको किसी प्रकारकी ठेस लगे।

७. सयानोंको इतनी शिक्षा अवश्य दे दी जाय जिससे वे पूर्ण नागरिक बन जायँ अर्थात् वे कहीं सभामें बोलने एवं लिख लेनेमें किसी प्रकारकी झिझक न अनुभव करें। उन्हें ऐसा न प्रतीत हो कि मैं बोल नहीं सकता या लिख नहीं सकता। ऐसा न हो कि उन्हें स्टेशनों, डाकघरों, बैङ्कों या न्यायालयोंमें अपना काम करने और समझनेमें किसी प्रकारकी कठिनाई या जानकारीकी कमीका अनुभव करना पड़े।

सयानोंके लिये दस दिनका भाषा-शिक्षण-क्रम

पहले दिन

१

अ ा इ ँ उ ऊ ए
ि ी ू े ै ो ौ ं ः

आ। आओ। आइए।
आऊँ। आई। ऐं।
ए! ऐ! ओ! ओः! उइ!

दूसरे दिन

२

क ख ग घ य र ल व

कई, आँख, आग, कंघी, गाओ, गऊ, गए, गई, कौआ, कौए, घर, गाय, लाओ।

कई कौए आ गए।
गऊ कल गई। घरवाले आए।
घाघकी आँख आ गई।
आग आई। कंघी लाओ।

तीसरे दिन

३

च छ ज झ श स ह

चाक, चोँच, छक, छाज, झाँझ, जाँच, कान, काँच, खोँच, खोज, खीझ, गच, गज, चक्की आदि।

[इन शब्दोंसे वाक्य बनाकर यथापूर्व अभ्यास कराया जाय।]

चौथे दिन

४

ट ठ ड ढ त थ द ध न

काँटा, टाँका, टका, टोकरी, ठेला, डलिया, डोला, ढोल, ढाक, ढूँढो, ढूँढी, ढेला, घोड़ा, गधा, ऊँट आदिसे वाक्य बनाकर यथापूर्व सिखाया जाय।

पाँचवें दिन

५

प फ ब भ म श्री द्य द्द ट्ठ ड्ड त्त प्र ऋ ष क्ष ज्ञ

श्रीराम, आद्याप्रसाद, गद्दा, लट्ठा, भद्दा, भड्डर, पत्ता, प्राप्त, आप, नागफनी, फुनगी, फाग, फगुआ, भाँग, भंगी, ऋषि, क्षत्रिय, ज्ञान आदि शब्दोंसे वाक्य बनाकर सिखाया जाय जैसे—

हमारे गाँवमें कोई आलसी नहीं है। श्रीराम ऋषि और ज्ञानी हैं।

छठे दिन

६

उक्तियाँ, दोहे आदि सिखाए और लिखाए जायँ जैसे—

साँच बरोबर तप नहीं, झूठ बरोबर पाप।
जाके हिरदे साँच है, वाके हिरदे आप॥

सातवें दिन

७

पत्र लिखना सिखाना, सौ-तक गिनती गिनवाना।

आठवें दिन

८

निमन्त्रण-पत्र आदि लिखना सिखाना। जोड़ना और घटाना।

नवें दिन

९

पोथी पढ़वाना। रुपये-पैसेका हिसाब रखना सिखाना।

दसवें दिन

१०

रामायण पढ़वाना। पाठ समाप्त

सिद्धान्त

इसका सिद्धान्त यह है कि थोड़े-थोड़े अक्षर नित्य सिखाए जायँ। एक घण्टेसे अधिक पाठ न पढ़ाया जाय। प्रत्येक अक्षर, शब्द तथा वाक्य दुहरा-तिहराकर लिखवाए जायँ। गणित भी केवल जोड़ने-घटानेतक ही परिमित रहे। इस ज्ञानको चिरस्थायी बनानेके लिये सयानोंकी रुचि तथा योग्यताके अनुसार उन्हें मोटे अक्षरोंमें छपी हुई ग्राम-गीतों (कजरी, आल्हा इत्यादि) की तथा रामायणकी पोथी दी जाय जिससे उनकी सुरुचिकी रक्षा भी हो और उनका भाषा-ज्ञान भी बढ़ता चले। आजकल सयानोंके लिये जो पोथियाँ लिखी जा रही हैं उनमें केवल कोरे उपदेश भरे रहते हैं या फिर कौंसिल, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड इत्यादिके संघटनका विवरण रहता है। हम बता चुके हैं कि सयानोंको पूर्णतः ज्ञानशून्य, मूढ और जड़ नहीं समझ लेना चाहिए। जो पाठ्य सामग्री उन्हें दी जाय वह रुचिकर हो और उनकी अवस्थाके अनुकूल हो।

अन्धोंको नागरी पढ़ानेका विधान

हमारे देशमें बीस लाख अन्धे हैं जिनमेंसे कुछ तो जन्मान्ध हैं किन्तु कुछ लोग किसी रोगके कारण अन्धे हो गए हैं। ऐसे लोग हमारे देशमें बेकार समझे जाते हैं। किन्तु दूसरे देशोंमें उन्हें बेकार नहीं रहने दिया जाता और उन्हें उचित शिक्षा दी जाती है। भारतमें भी कुछ स्थानोंपर अन्धोंके स्कूल हैं जहाँके विद्यार्थियोंने हाइ स्कूल, इण्टर और बी० ए० तक पास कर लिया है। इन लोगोंके लिये लिखने और पढ़नेकी पद्धति आविष्कर्त्ताके नामसे ब्रेल-पद्धति कहलाती है।

अ	आ	इ	ई	उ	ऊ	ऋ	लृ	ए	ऐ	ओ	औ	क
ख	ग	घ	ङ	च	छ	ज	झ	ञ	ट	ठ	ड	ढ
ण	त	थ	द	ध	न	प	फ	ब	भ	म	य	र
ल	व	श	ष	स	ह	क्ष	ज्ञ	ड़	ढ़	ं	ः	ँ

ब्रेल-पद्धति

एक लकड़ीके पटरेपर एक पीतलका यन्त्र लगा देते हैं जिनमें दो पंक्तियोंमें चौबीस छोटे-छोटे चौकोर घर बने रहते हैं। एक-एक घरमें इस प्रकार (⠿) छह छेद बनानेके चिह्न बने रहते हैं। उस यन्त्रके बीचमें मोटा कागज फँसा दिया जाता है और फिर एक प्रकारके गोल नोकवाले सूएसे अक्षरके अनुसार दाएँसे बाएँको दाबते जाते हैं। इस प्रकार दाब चुकनेपर कागज़ निकाल लेते हैं। उस कागजकी पीठपर उभड़े हुए बिन्दुओंको टटोल-टटोलकर अन्धे लोग पढ़ लेते हैं। उसकी नागरी- वर्णमालाके चिह्न आगे कोष्ठकमें दिए गए हैं—

इन छह बिन्दुओंके भी अलग-अलग नाम हैं जैसे—

बाएँ	दाएँ
१ ·	· २
३ ·	· ४
५ ·	· ६

अन्धे बालकोंको यदि **क ख ग** पढ़ाना होगा तो पहले उन्हें यह कंठ कराया जायगा—

एक दो तीन पाँच (क) (ऊपर कोष्ठकमें देखिए)
एक दो पाँच (ख) (,,)
एक दो चार छह (ग) (,,)

जब यह क्रम कंठ हो जाता है तब उन्हें पहले बड़ी-बड़ी पत्थरकी गोलियोंपर, फिर कीलोंकी बनी हुई पटरीपर, फिर उपर्युक्त कागज़ोंपर उँगल फिरवाकर अभ्यास कराया जाता है और इस प्रकार अन्धे लोग नागरी लिख और पढ़ लेते हैं। उनकी पुस्तकें इन्हीं उठे हुए अक्षरोंमें बनाई जाती हैं।

२७

परीक्षाके उद्देश्य और उसकी व्यवस्था

परीक्षा कैसे ली जाय ?

आजकल हमारी शिक्षा-प्रणालीमें जो दोष आ गए हैं उनका मूल कारण हमारी परीक्षा-प्रणाली है। हम पढ़ानेके लिये परीक्षा नहीं लेते वरन् परीक्षाके लिये पढ़ाते हैं। परीक्षा आरम्भ होनेसे कुछ पूर्व अध्यापकों तथा छात्रोंकी सम्पूर्ण शक्ति यह खोज निकालनेमें लग जाती है कि अमुक प्रश्नपत्र किसका है, वे कैसे हैं, किस प्रकारके प्रश्न देते हैं आदि। यह ज्ञान हो गया तब समझिए बहुत कुछ बोझ कम हो गया। यदि यह सब कुछ भी ज्ञात न हो पाया तो पूछी जाने-योग्य (इम्पौटैंण्ट) बातोंपर अटकल लगाई जाती है। अध्यापक लोग अपने-अपने अनुभवकी दुहाई देकर पुस्तककी पंक्तियोंके नीचे लाल-लाल रेखाएँ खिंचवाते हैं। भारतका दीन, अनाश्रित, पीडित और अन्ध-भक्त विद्यार्थी गुरु-वचनकी नावका सहारा लेकर परीक्षा-नदीमें कूद पड़ता है और प्रायः पार भी हो जाता है। पर जो कुछ उसने वर्ष भरमें पढ़ा-लिखा है उसमेंका कितना प्रतिशत ज्ञान उसने ग्रहण किया है इसका कुछ ठिकाना नहीं चलता।

परीक्षा-प्रणाली

अब परीक्षा-प्रणालीपर आइए। कंजूस भी अपना धन इतने जतनसे नहीं रखते जितने जतनसे रजिस्ट्रार या आचार्य लोग परीक्षाके पर्चे रखते हैं। मुहरबन्द लिफाफे, लोहेके सन्दूक और छह लीवरके भारी ताले

उनकी रक्षा करते हैं। इसे परीक्षा-नीति कहते हैं। इसके नियम संसारसे अलग हैं। एक चोर चोरी करता है तो उसे छह महीने सपरिश्रम कारावासका दंड होता है, किन्तु जब एक बालक जानकर या अनजानमें—परीक्षा-भवनमें एक कागजका टुकड़ा ले जाता है—तो उसे कमसे कम दो वर्षका दंड मिलता है, दो वर्ष शुल्क देना पड़ता है और मानसिक यातनाओंका शाश्वत नरक उसके लिये खुल जाता है। विद्यालयका प्रत्येक व्यक्ति उसकी ओर उँगली उठाता है. समाज उसे निकम्मा कहता है, घरवाले उसे कुल कलंक समझते हैं, चोर और हत्यारों से भी बुरी उसकी दुर्दशा हो जाती है। आज चालीस बरससे शिक्षामें मनोविज्ञानका डङ्का पीटा जा रहा है, परीक्षाको बुरा कहा जा रहा है, पर परीक्षाके समय वह भी सब तालेमें बन्द कर दिया जाता है।

परीक्षक, निरीक्षक और शिक्षक

हमारे परीक्षकों और निरीक्षकोंकी तो बात न पूछिए। वे इस ताकमें लगे रहते हैं कि कब कोई जँभाई लेता हुआ, किसीकी ओर देखता हुआ दृष्टिगोचर हो, कब किसीकी जेबमें से कागजका टुकड़ा झाँके और हम उसे पकड़ें। मनोविश्लेषण-शास्त्रियोंका कहना है कि जो दूसरों के दोष निकालनेका प्रयत्न करते हैं वे स्वयं दोषोंके भण्डार होते हैं। ऐसे अध्यापकोंको शिक्षाका पवित्र क्षेत्र छोड़कर पुलिसमें भरती हो जाना चाहिए। ठीक यही दशा परीक्षकोंकी भी है। उनके पास जब परीक्षाकी उत्तर-पुस्तिकाएँ जाती हैं तो वे भाग्य-विधाता बनकर सत्यवादी हरिश्चन्द्र तथा धर्मराजके अवतार बनकर तौल-तौलकर अङ्क देते हैं, उत्तर भी पूरे नहीं पढ़ते और कभी-कभी पुरानी शत्रुता भी निकालते हैं। ऐसे सभी परीक्षकोंको जाकर चायकी दूकान खोल लेनी चाहिए।

स्मरण रखिए—शिक्षक सदा शिक्षक होता है चाहे वह परीक्षा-

भवनमें निरीक्षक हो या उत्तर जाँचनेवाला। उसका काम है पथ-प्रदर्शन करना, कल्याण करना। वह राग-द्वेषकी सीमासे परे है। सारा मानव-समाज उसका शिष्य है। शिक्षकने समाज-कल्याणके लिये जन्म लिया है। वह किसीका भाग्य बना या बिगाड़ नहीं सकता। यह उसके सामार्थ्यके बाहर है, उसका अज्ञान है, भ्रम है, अभिमान है। हम सबके सिरपर एक महाशक्ति काम कर रही है। जिस दिन मनुष्य उसका काम स्वयं सँभालनेकी इच्छा करेगा, वह मनुष्यतासे गिर जायगा। वह महाशक्ति अपराधीको क्षमा नहीं करती।

परीक्षाका उद्देश्य

परीक्षाका उद्देश्य है कि उससे छात्रकी—

१. बुद्धि-गम्भीरताका परिचय मिले।

२. अर्जित ज्ञानकी थाह लगे।

३. प्रयोग-कुशलताका ज्ञान हो, अर्थात् यह ज्ञात हो कि उसने जो पढ़ा है वह गुना भी है या नहीं।

४. योग्यताका ज्ञान हो कि वह आगेका पाठ-भार वहन कर सकता है या नहीं।

५. मनोवृत्ति तथा जीविका-वृत्तिकी पहचान हो सके।

६. धारणा-शक्ति तथा स्मरण-शक्तिका ज्ञान हो।

७. कार्य-क्षमताका परिचय मिले।

प्राचीन प्रणाली

प्राचीन कालमें हमारे यहाँ अन्नप्राशन-संस्कारके समय बालककी जीविका-परीक्षा ली जाया करती थी। छह मासके बालकको अन्न चटानेके समय उसके सामने पुस्तक, अस्त्र-शस्त्र, कला-कौशल तथा खेल आदिकी सामग्री रख दी जाती थी। वह बालक जिस वस्तुको उठाता था वही उसकी जीविका-वृत्ति समझी जाती थी और उसीके अनुसार बालकको शिक्षा दी जाती थी। इसके पश्चात् गुरुकुलमें कौशल-परीक्षा,

शास्त्र-परीक्षा, शक्ति परीक्षा, बुद्धि-परीक्षा तथा मेधा-परीक्षा भी हुआ करती थी। एक बार राजा भोजने कालिदासकी बुद्धि-परीक्षा ली थी। उनके नगरमें चार स्त्रियाँ आकर ठहरी हुई थीं और वे अपनी-अपनी जाति पूछना चाहती थीं। कालिदास वहाँ छिपकर बैठ रहे जहाँ वे ठहरी थीं। प्रातःकाल होनेपर चारोंने सूर्योदयका वर्णन अपने-अपने ढंगसे किया। उसे सुनकर ही कालिदासने बतला दिया कि वे क्रमशः ब्राह्मणी, क्षत्रिया, वैश्या तथा सुनारिन थीं। बुद्धि-परीक्षाके लिये पहले लड़कों कूट श्लोक, समस्याओं और प्रहेलिकाओंका प्रयोग किया जाता था। अर्जित ज्ञान तथा उसकी प्रयोग-परीक्षाके लिये गुरुकुलोंमें शास्त्रार्थ होते थे या शंकाके रूपमें प्रश्न दे दिए जाते थे, जिनका समाधान विद्यार्थी शास्त्रार्थके द्वारा करते थे। शास्त्रार्थमें जो हार जाता था वह अपने विषयको पुनः पढ़कर अपना ज्ञान पूर्ण करता था। उस समय तैंतीस प्रतिशत ज्ञान प्राप्त करनेसे काम नहीं चलता था, प्रत्येक विषयका ज्ञान शत-प्रतिशत होना आवश्यक था।

भारतीयोंका सदासे मत रहा है कि मेधा या धारणा-शक्ति बढ़ाई जा सकती है। अब भी भारतमें बहुतसे अष्टावधानी, दशावधानी या शतावधानी लोग हैं जो कई कार्य एक साथ करते या देखते हुए सबको स्मरण रख सकते हैं। इसकी कुछ सरल साधनाएँ तथा प्रक्रियाएँ हैं जो अभ्यास करनेसे फलवती हो सकती हैं। प्राचीन ग्रन्थोंमें भी ऐसे लोगोंकी अनेक कथाएँ प्रसिद्ध हैं जो एक, दो, तीन या चार बार सुनकर कोई भी श्लोक सुना देते थे। वररुचिकी सात लड़कियोंकी कथा प्रसिद्ध है जो क्रमशः एकपाठी, द्विपाठी और त्रिपाठी थीं।

काशीमें साङ्गवेद विद्यालय नामकी प्राचीन पद्धतिकी संस्था अब भी विद्यमान है जहाँ पूर्ण विद्या सिखानेके पश्चात् स्नातकको विद्वानोंकी सभामें खड़ा करके विद्वानोंसे कहा जाता है कि जो प्रश्न चाहे कीजिए। विद्वान् प्रश्न करते हैं और स्नातक सबके उत्तर देते हैं।

नवीन प्रणालियाँ

पाश्चात्य देशवालोंने वर्त्तमान दूषित परीक्षा-प्रणालीसे ऊबकर

नई-नई प्रणालियाँ निकाली हैं जिन्हें बुद्धि-परीक्षा (इएटैलिजैन्स टैस्ट), अर्जित ज्ञान-परीक्षा (ऐचीवमेएट टैस्ट), स्मृति-परीक्षा (मेमोरी टैस्ट), प्रयोग-परीक्षा (पर्फ़ौर्मैन्स टैस्ट) आदि कहते हैं। अभी इन परीक्षा-प्रणालियोंकी भी परीक्षा हो रही है और भारतमें भी उनपर प्रयोग हो रहे हैं।

नीचे भाषाकी दृष्टिसे हाई स्कूल कक्षाके लिये विभिन्न प्रकारकी नवीन परीक्षाओंकी प्रश्नावली दी जा रही है।

१. बुद्धि-परीक्षा

(क) विवेचनात्मिका शक्तिकी परीक्षा

प्रश्न : एक कवि कहता है—नीच निचाई नहि तजै, जौ पावै सतसंग।
दूसरा कवि कहता है—सठ सुधरहिँ सतसंगति पाई।
इनमें कौन ठीक है ? विवेचन करो।

(ख) साधारण बुद्धि-परीक्षा

प्रश्न : निम्नलिखित वक्तव्योंमेंसे जो ठीक हो उसपर गुणा(×) का चिह्न लगा दो।

तुलसीदासजी बड़े भारी कवि थे क्योंकि—
१. उन्होंने अनेक काव्य लिखे हैं।
२. उन्होंने अनेक ग्रन्थोंका अध्ययन किया था।
३. वे संस्कृत भाषाके प्रकांड पंडित थे।
४. उन्होंने बहुत सत्संग किया था।
×५. उनमें कवि-प्रतिभा थी।

२. अर्जित ज्ञानकी परीक्षा

प्रश्न : आप अपनी पुस्तकमें बिजलीसे लाभ और हानि पढ़ चुके हैं। लिखिए कि एक साधारण गृहस्थको बिजलीसे क्या लाभ हो रहे हैं या हो सकते हैं ?

३. प्रयोग-कौशलकी परीक्षा

प्रश्न : 'आधी तज सारीको धावै, आधी रहै न सारी पावै।' इस उक्तिका उपयोग आप अपने जीवनमें किस प्रकार कर सकते हैं या कर चुके हैं?

४. आगेका पाठ-भार वहन करनेकी योग्यताका परीक्षण

प्रश्न : निम्नलिखित उक्तियों तथा शब्दोंका प्रयोग करते हुए वसन्तके स्वागतपर एक निबन्ध लिखो—

बौरा जाना, हाथ कंगनको आरसी क्या, फूल उठना, बालसे तेल निकालना, नौ-दो ग्यारह होना, पासे पलटना, बतीसी खिल उठना, आँखें या पलकें बिछाना, दिन-रात एक करना।

रसाल, विशाल, साल, मधुमास, परभृत, निभृत, मञ्जरी, पञ्जर, पिञ्जर, द्विरेफ, अलस, उल्लास, विलसित, लसित, पराग, राग, विराग, अनुराग, परिचित, विरचित, प्रदेश, विदेश, निर्देश, उद्देश, उद्देश्य, तरल, सरल, विरल, विधि, विधान, विधाता, कूल, दुकूल, अनुकूल, प्रतिकूल, सारंग, हिंडोल, देश, मलार, ध्वनि, प्रतिध्वनि, लय, ताल, स्वर, मन्द, सुगन्ध, अमन्द, द्वन्द्व, अभ्र, शुभ्र, मान, प्रमाण, अनुमान, विमान, अवमान।

५. अर्जित ज्ञानके आधारपर मनोवृत्तिकी परीक्षा

प्रश्न : आपकी पुस्तकमें कहीं किसानका जीवन श्रेष्ठ बताया गया है, कहीं कारीगरका, कहीं विद्वान्का तो कहीं देश-सेवकका। तुम इनमेंसे जो जीवन श्रेष्ठ समझते हो उसका कारण-सहित समर्थन करो।

६. धारणा-शक्तिकी परीक्षा

प्रश्न : आपकी पुस्तकके जिन-जिन पाठोंमें परिश्रमकी जो-जो श्रेष्ठताएँ बतलाई गई हैं उन्हें लिखिए और इस सम्बन्धमें आपने जो पद्य पढ़े हों उन्हें लिखकर उनकी व्याख्या कीजिए।

७. अर्जित ज्ञानके आधारपर विचार प्रकट करनेकी क्षमताकी परीक्षा

प्रश्न : आपने इटली और आयर्लैण्डकी स्वतन्त्रताका विवरण पढ़ा है। उनसे तुलना करते हुए लिखिए कि भारतने किस विशेष प्रकारसे स्वतन्त्रता प्राप्त की?

इस परीक्षा-प्रणालीमें विद्यार्थीकी वास्तविक परीक्षा हो जाती है, 'पूछे जाने-योग्य बातों' का भूत भाग जाता है और 'व्याख्या करो, अर्थ लिखो, सरल हिन्दीमें लिखो' इत्यादि सब बातें निकल जाती हैं। इस प्रकारकी परीक्षासे वास्तविक भाषा-ज्ञानकी परीक्षा हो सकती है।

२८

हिन्दीकी कक्षा

बहुतसे प्रशिक्षण-विद्यालयोंमें राष्ट्रभाषा हिन्दी हो जानेके कारण हिन्दी भी शिक्षणका एक विषय हो गया है। इससे पूर्व छोटी कक्षाओंके लिये जो प्रशिक्षण-विद्यालय (नौर्मल ट्रेनिंग स्कूल या प्राइमरी ट्रेनिंग स्कूल) थे उनमें भी हिन्दीके प्रशिक्षणकी व्यवस्था थी किन्तु इन प्रशिक्षण, विद्यालयोंमें हिन्दी-शिक्षणकी कक्षामें क्या सामग्री होनी चाहिए, उसका कोई प्रबन्ध नहीं था। अब हिन्दीकी शिक्षा व्यवस्थित करनेकी आवश्यकता व्यापक रूपसे अनुभव की जा रही है। अतः इन प्रशिक्षण-विद्यालयोंकी हिन्दी कक्षामें निम्नलिखित सामग्री अवश्य होनी चाहिए—

१. सुन्दर वाचनके नियमकी सरणि (रीडिंग चार्ट)

२. सुलेखनके नियमोंकी सरणि (राइटिंग चार्ट), जिसमें अक्षरोंके विन्यासके स्वरूप भी हों।

३. ध्वनिचित्र सरणि (फोनेटिक चार्ट), जिसमें मुँहके विभिन्न स्थानोंसे ध्वनि-प्रसारका पूरा विवरण हो।

४. आर्य भाषाओं तथा अन्य भाषाओंके अक्षरोंकी सरणियाँ।

५. संसारका भाषा-मानचित्र, जिसमें विश्वभरकी सब भाषाओंके विस्तारका अंकन हो।

६. भारतका भाषा-मानचित्र जिसमें भारतकी समस्त भाषाओं, उप-भाषाओं और प्रादेशिक भाषाओंका विवरण हो।

७. नागरी अक्षरों तथा अंकोंकी सरणि।

८. भाषा सिखानेकी विभिन्न अवस्थाओंकी सरणि।

९. क्रमिक रूपमें साहित्य सिखानेकी सरणि।

१०. रसके अंग-प्रत्यंगका विवरण देनेवाली सरणि।

११. अलंकारोंके भेद-विभेदका विवरण देनेवाली सरणि।

१२. शब्द-शक्तियोंके भेद-विभेदका परिचय करानेवाली सरणि।

१३. वाक्य-निर्माणकी पद्धतियोंका परिचय करानेवाली सरणि।

१४. विभिन्न अवस्थाओं या वर्गोंके लिये उचित शब्द-भाण्डार, रूढोक्ति-भाण्डार तथा सूक्ति-भाण्डारकी सूची।

१५. जिन शब्दोंके रूप प्रायः लोग अशुद्ध लिखते हैं उनकी सूची, जिनके साथ उनके शुद्ध रूप भी दिए गए हों।

१६. हिन्दी लेख-रचनाकी क्रमिक योजनाकी सरणि।

१७. हिन्दीके साथ विभिन्न विषयोंके अन्तर्योगपूर्ण शिक्षणकी सरणि।

१८. डाल्टन-प्रणालीके अनुसार मासिक कार्य-वितरणकी सरणि।

१९. टंकण-यन्त्रके लिये आदर्श वर्णपीठिका (की बोर्ड)।

२०. शीघ्रलिपिके चिह्नों और सिद्धान्तोंका विवरण देनेवाली सरणि।

२१. विश्वभरमें हिन्दी भाषा-भाषी लोगोंके वासस्थानका मानचित्र।

२२. हिन्दी साहित्यमें प्रयुक्त होनेवाले विभिन्न वृक्षों, फलों, लताओं, पक्षियों तथा पशुओं आदिके चित्र।

२३. अभिधान-कोष, जिसमें साहित्यमें प्रयुक्त होनेवाली समस्त संज्ञाओंका विवरण हो।

२४. शब्द-कोष।

२५. विश्वकोष, जिसमें विभिन्न विषयोंका तत्काल ज्ञान हो जाय।

२६. क्रमिक पाठ्यपुस्तकें, जिसमें विभिन्न भाषा-शैलियों, भाव-शैलियों और रूपशैलियोंके शैलीगत उदाहरण हों।

२७. नागरी तथा हिन्दीकी अन्य उपभाषाओंके तथा भारतकी विभिन्न भाषाओंके व्याकरण।

इतनी सामग्री यदि हिन्दी कक्षामें प्राप्त हो सकेगी तभी हिन्दीके अच्छे अध्यापक भी प्रस्तुत हो सकेंगे और प्रशिक्षण-विद्यालयोंमें हिन्दीका शिक्षण भी वैज्ञानिक रूपसे किया जा सकेगा।

२६

पाठ-सूत्रका विधान

इस प्रकरणमें नये अध्यापकोंकी सहायताके लिये हम गद्य, पद्य, व्याकरण, रचना, द्रुतपाठ तथा नाटकके पाठ-सूत्र कक्षा-क्रमसे दे रहे हैं इससे उन छात्र-शिक्षकोंको बड़ी सहायता मिलेगी जो ट्रेनिङ्ग कौलेजों तथा ट्रेनिङ्ग स्कूलोंमें भाषा-शिक्षणकी प्रशिक्षा पा रहे हैं। इन पाठोंमें यह ध्यान रक्खा गया है कि कोई शिक्षण-विधि छूट न जाय। प्रारम्भिक कक्षाओंके किये पाठ-सूत्र इसलिये नहीं दिए जा रहे हैं कि विषय-निरूपणके साथ-साथ पीछे उनपर पूर्ण विचार हो चुका है और उनकी व्यवस्था भी दी जा चुकी है।

१

द्रुतपाठ

महामना पंडित मदनमोहन मालवीयजी

काशीमें जाकर, वहाँ काशी हिन्दू-विश्वविद्यालयको भर आँख देख चुकनेपर, लोग एक बार यह सोचकर आँखें मलते रह जाते हैं कि इतना बड़ा विश्वविद्यालय कब, कैसे और किसने खड़ा कर दिया ?

यह विश्वविद्यालय बना है पंडित मदनमोहन मालवीयजीकी लगनसे, जिनका जन्म २५ दिसम्बर सन् १८६? को प्रयागमें हुआ था। वे अपने पिता पंडित व्रजनाथ व्यासजीके तीसरे पुत्र थे। गोरा चकमक रंग, गठी हुई फुर्तीली देह, बाँसुरीकी मिठाससे भरा गला, सच्चाई और लगनसे दमकता हुआ चौड़ा माथा इन्हें अपने पिताजीसे बपौतीमें मिला था। इनके पिताजी बड़ी अच्छी भागवतकी कथा बाँचते थे। उनके गलेमें ऐसा सुरीलापन था कि जब वे मगन होकर बाँसुरीकी तानपर भजन गाने लगते तो सुनने-वाले सुधबुध खोकर झूमने लगते। वे बड़े सीधे-सच्चे ब्राह्मण थे। किसीके आगे हाथ पसारना उन्होंने सीखा नहीं था। इसलिये जो-कुछ थोड़ा-बहुत कथापर चढ़ जाता उसीसे घरका काम चला लेते। उनके पुरखे लोग मालवासे आए थे इसलिये वे मल्लई या मालवीय कहलाते थे।

पहले तो मालवीयजी संस्कृत पढ़ने लगे। फिर जब इन्होंने छोटे-छोटे लड़केकों कंधोंपर झोले लटकाए अँगरेज़ी पढ़नेके लिये जाते

देखा तो इनके मनमें भी साध हुई कि क्यों न मैं भी अँगरेज़ी पढ़ूँ। पर इनके पिताजीके पास इतनी समाई कहाँ थी कि अँगरेज़ीकी पढ़ाईका बोझ उठा सकते। पर एक सज्जनने इनके लिये एक रुपया महीना बाँध दिया और इनका नाम लिखा दिया गया।

जिन दिनों ये पढ़ रहे थे उन्हीं दिनों ये बैठे-बैठे सोचा करते थे कि मैं एक दिन ऐसा विद्यालय बनाऊँगा जिसमें संसारकी कोई विद्या छूट न पावे और वह विद्यालय गंगाजीके तीर-तीर प्रयागसे काशीतक फैला हो। जिसके घर खानेका भी ठिकाना न हो उसके मुँहसे इतनी बड़ी बात सुनकर कौन न हँस देगा! इनके सभी साथी इनकी ऐसी ऊटपटाँग बातें सुनते और हँसकर टाल देते या इनकी खिल्ली उड़ाते।

बोलनेकी धुन इन्हें बचपनसे ही थी। इन्होंने बचपनमें ही अपने पिताजीसे सैकड़ों श्लोक सीखकर रट लिए थे। अपने पिताजीसे कथा सुनते-सुनते इन्हें बोलनेका रंग-ढंग भी बहुत कुछ आ ही गया था। इसलिये ये करते क्या थे कि झट आँख बचाकर घरसे मोढ़ा उठा ले जाते और लगते किसी चौराहेपर खड़े होकर धुआँधार बोलने। इसलिये जब बी० ए० करके ये कलकत्तेकी दूसरी कांग्रेसकी बैठकमें बोलने खड़े हुए तो बड़े बड़े पुराने कांग्रेसके अखाड़ियोंने भी दाँतों-तले उँगली दबा ली। वे बोलते क्या थे मिश्री घोलते थे। एक-एक बोलके साथ इनके मुँहसे फूल झड़े पड़ते थे। संस्कृत, हिन्दी, अँगरेज़ी, उर्दू सभी बोलियाँ इनकी जीभपर इतनी मँज गई थीं कि कोई उसमें कहीं मीन-मेख नहीं निकाल सकता था। कहा जाता है कि इनकी जीभपर सरस्वतीजी बैठी रहती थीं।

कांग्रेसकी उसी बैठकमें राजा रामपालसिंहने इन्हें अपना 'हिन्दुस्तान' पत्र सँभालनेको कालाकाँकर बुला लिया। पर उनसे इनकी पटरी न बैठ सकी। इन्होंने झट वकालत पास की। इनकी वकालत चमक भी उठी, पर विश्वविद्यालय खोलनेकी धुन इनको

इतनी पक्की थी कि इन्होंने जमी-जमाई वकालतको लात मारकर हिन्दू विश्वविद्यालयके लिये झोली उठा ली। नाम तो दूर-दूरतक फैल ही चुका था। बड़े बड़े राजे-महाराजे इनकी पुकारपर दौड़ पड़े और सारे देशने जी खोलकर इनकी झोलीमें सवा करोड़ रुपए डाल ही तो दिए। फिर क्या था! काशीमें गंगाजीके बाएँ तीरपर, काशी-नरेशकी दी हुई धरतीपर, सन् १९१६ में उस काशी हिन्दू विश्वविद्यालयकी नींव डाल दी गई जो आज संसारके सबसे बड़े विश्वविद्यालयोंमें गिना जाता है।

पर यह नहीं समझना चाहिए कि इन्होंने हिन्दू विश्वविद्यालय ही बनाया। अपने देशके कंधेसे अँगरेज़ी जूआ उतारनेके लिये देशमें जब-जब जो-जो चहल-पहल हुई, उसमें भी मालवीयजी किसीसे पीछे नहीं रहे। पहले तो इन्होंने सोचा कि बिना लड़ाई-झगड़ा किए, सिखाने-समझानेसे काम चल जाय तो अच्छा है। जो गुड़ देनेसे मरे उसे विष क्यों दिया जाय? पर जब इससे काम बनता न दिखाई दिया तो ये अखाड़ेमें आ कूदे और बुढ़ापेमें भी बड़ा घर देखनेसे न झिझके। अपने देशमें बनी हुई वस्तुएँ काममें लानेकी बात सबसे पहले मालवीयजीने ही उठाई और प्रयागमें उसके लिये कारीगरोंको भी ला जुटाया। जब देशके बड़े-बड़े नेता जेलोंमें ठूँस दिए जाने लगे तब इनसे न रह गया। इन्होंने और इनकी धर्म-पत्नीजीने हाथमें झंडा लेकर जनताको पैंड़ा दिखाया। इन्हीं सब बड़े-बड़े कामोंसे ये महामना कहलाए।

यह सब होते हुए भी मालवीयजी महाराज अपने खाने-पीने, पहनने-ओढ़नेमें बड़े कट्टर थे। वे पक्के और सच्चे सनातनधर्मी थे। तड़के उठते ही सन्ध्या-पूजाके साथ रामायण-भागवत बाँचना इनका पहला काम होता था। ये नीचेसे ऊपरतक जैसे उजली देहवाले थे वैसे ही उजले कपड़े भी पहनते थे। बड़े ढंगसे सजाकर बाँधी हुई पगड़ी, गलेमें तह किया हुआ लम्बा साफ़ा, लम्बा चिट्टा अँगरखा,

धोती या सकरा पाजामा और बिना चमड़ेके जूते सब उजले ही होते थे। इनका मन मोमका बना था। जहाँ किसीका दुःख देखते या सुनते कि झट पिघल उठते, इनकी आँखें बरस पड़तीं। अपने नेमके इतने पक्के होनेपर भी जब देशके लिये विलायत जाना हुआ तो इन्होंने अपने देशके लिये अपना नेम भी ढीला कर दिया। हाँ, अपने साथ गंगाजल और मिट्टी तो लेते ही गए कि वहाँ जाकर भी अपने खाने-पीनेका नेम बना रहे।

ये न कभी किसीसे डरते थे, न दूसरोंको डरना सिखाते थे। जब कभी कोई बात पड़ती तो खुलकर चुनौती देते हुए यही कहा करते थे कि अर्जुनकी दो आन हैं—न वह किसीके आगे गिड़गिड़ाता है, न पीठ दिखाकर भागता है। इन्हीं सब बातोंसे इनके वैरी भी इनकी बड़ाई करते थे और इनका लोहा मानते थे। महात्मा गाँधी तो इन्हें अपना बड़ा भाई मानकर सदा इनका आदर किया करते थे। बच्चोंके लिये ये एक दोहा कहा करते थे जो सबको सदा मानना चाहिए—

दूध पियो, कसरत करो, नित्य जपो हरि नाम।
मन लगाय विद्या पढ़ो, पूरैंगे सब काम॥

पाठ-सूत्र

कक्षा : ५ **समय : ३५ मिनट**

पाठ्य-विषय : द्रुतपाठ **पाठ : महामना मालवीयजी**

उद्देश्य : १. छात्रोंको महामना मालवीयजीकी जीवनीसे परिचित कराते हुए उनके अनुकरणीय गुणोंका ज्ञान कराना तथा इस ज्ञानके द्वारा विद्यार्थियोंके हृदयमें उनका अनुकरण करनेकी लालसा उत्पन्न करना।

२. विद्यार्थियोंको बोध-पठनमें अभ्यस्त करना।

प्रस्तावना : महामना मालवीयजीका चित्र दिखलाकर—

१. यह किसका चित्र है ?

उद्देश्य-कथन : आज हम इन महापुरुषके जीवन-चरितकी कुछ अनोखी बातें पढ़ेंगे।

पाठन-क्रम : १. छात्रों-द्वारा मौन पाठ।

२. बोध-परीक्षा।

३. अध्यापक-द्वारा एक-एक अनुच्छेदका आदर्श पाठ।

४. छात्रों-द्वारा एक-एक अनुच्छेदका पाठ।

बोध-परीक्षा : १. पंडित मदनमोहन मालवीयजीने अपने पिताजीसे क्या गुण लिए ?

२. इनके साथी इनकी खिल्ली क्यों उड़ाते थे ?

३. इन्होंने बोलना कैसे सीखा ?

४. हिन्दू-विश्वविद्यालय बनानेके लिये इन्होंने क्या किया ?

५. अपने देशको अँगरेजोंके चंगुलसे छुड़ानेके लिये इन्होंने क्या किया ?

६. वे महामना क्यों कहलाते थे ?

७. इनका रहन-सहन कैसा था ?

८. इनके जीवनसे हमें क्या सीख मिलती है ?

आवृत्ति : उपर्युक्त प्रश्नोंके उत्तरमें जो छात्रगण कहेंगे वह सूत्र रूपमें उसी समय श्यामपट्टपर लिख दिया जायगा और फिर उन सूत्रोंकी सहायतासे छात्रों-द्वारा पूरा जीवन-चरित मौखिक रूपसे कहला लिया जायगा।

प्रयोग : १. श्यामपट्टपर दिए हुए सूत्र छात्रोंसे पुस्तिकाओंमें लिखा लिए जायँगे।

२. निम्नलिखित शब्दों और मुहावरोंके प्रयोगके साथ उपर्युक्त सूत्रोंकी सहायतासे घरपर महामना

मालवीजीयका जीवन-चरित लिखनेको कहा जायगा—

विश्वविद्यालय, भर आँख देखना, आँखें मलते रह जाना, लगन, बपौती, मगन होना, सुध-बुध खोना, झूम उठना, हाथ पसारना, साध होना, समाई, पढ़ाईका बोझ उठाना, महीना बाँधना, विद्या, खानेका ठिकाना न होना, हँसकर टालना, खिल्ली उड़ाना, धुन, आँख बचाना, फूल झड़ना, मीन-मेख निकालना, पटरी न बैठना, महामना, बड़ाघर, वकालत चमक उठना, कट्टर, मोमका मन, आँखें बरसना, नेम, चुनौती, पीठ दिखाकर भागना, लोहा मानना, आदर करना।

२

पाठ-सूत्र

समय : ३० मिनट

कक्षा : ६

विषय : नागरी-व्याकरण

पाठ : विशेषण

पाठन-प्रणाली : परिणाम-प्रणाली (इंडक्टिव मेथड)

प्रस्तावना : एक लाल फूल दिखलाकर प्रश्न करेंगे—

१. यह क्या है ? (फूल)

२. यह फूल किस रंगका है ? (लाल)

(सुँघाकर) ३. सूँघनेमें कैसा है ? (सुगन्धित)

४. 'लाल' और 'सुगन्धित' कहनेसे फूलके विषयमें क्या बातें जानी गईं ? (उसके गुण जाने गए।)

उद्देश्य-कथन : आज हम उन शब्दोंके विषयमें पढ़ेंगे जो

संज्ञाओंके गुण या उनकी विशेषता बताते हैं।

उदाहरण : निम्नलिखित वाक्योंमें ऐसे शब्द ढूँढ़कर निकालो जो संज्ञाओंकी विशेषताएँ बताते हों।

(१) **साँवले** बालकने **दाएँ** हाथमें एक **लचीली** बेंत लेकर **पागल** कुत्तेको मारा।

(२) **थोड़े** समयमें ही **पाँचों** सवारोंने उस **दुर्गम** दुर्गपर **भयानक** धावा बोल दिया।

(३) **रंगबिरंगी** तितलियाँ **मनोहर** फूलोंपर बैठकर उनका **मीठा मीठा** रस ले रही थीं।

(४) **सभी** गँवार अपनेको **बड़ा बुद्धिमान्** समझते हैं।

(५) **महाराज** सगरके **पराक्रमी साठ सहस्र** पुत्रोंने **सम्पूर्ण** पृथ्वी खोज डाली किन्तु **अश्वमेध** यज्ञका **पवित्र** घोड़ा हाथ न लगा।

परिणाम (जनरलाइज़ेशन) : कुछ शब्द ऐसे होते हैं जो संज्ञाओंकी विशेषता (रूप-रंग, उनकी संख्या, उनके आकार-प्रकार, डीलडौल, गुण-दोष) बताते हैं, इसलिये उन्हें 'विशेषण' कहते हैं।

प्रयोग : १. निम्नलिखित वाक्योंमें जहाँ संज्ञाएँ आई हैं उनके साथ उपयुक्त विशेषण जोड़िए—

(क) जितने…लोग होते हैं वे…लोगोंको भी ठगनेमें… संकोच नहीं करते।

(ख) कुन्तीके…पुत्र थे जो परम………और…थे।

(ग) श्रीकृष्ण और सुदामा…मित्र थे।

[क्रमशः उत्तर : दुष्ट, भले, तनिक, पाँच, बलवान्, धार्मिक, वीर, साहसी, परम]

ख. निम्नलिखित वाक्योंमें आए हुए विशेषणोंके आगे उचित संज्ञाएँ जोड़िए—

१. रंगीन…पर…मक्खी बैठकर……मकरन्द चूस लेती है।
२. बड़े-बड़े…पर बैठे हुए सभी बलवान……अपने बलिष्ठ…में चमचमाती……लेकर लड़ रहे थे।
३. अच्छे……अपने……का बड़ा……करते हैं।
४. दुष्ट……के साथ रहनेसे सज्जन……भी……घोर……में पड़ सकता है।
५. चार……ने मिलकर उस सज्जन और धनी……के घरपर चढ़कर उसपर किसी तीक्ष्ण……से वार करके उसकी निर्मम……कर डाली।

क्रमशः उत्तर : फूलों, मधु, मीठा, घोड़ों, योद्धा हाथों, तलवार, बालक, बड़ों, आदर, मनुष्य, व्यक्ति, संकट, डाकुओं, महाजन, शस्त्र, हत्या।

३

गद्य-पाठ

गौतम बुद्ध

ताड़के पत्तों और भोजपत्रो पर लिखी हुई दो पोथियाँ लङ्कासे मिली हैं जिनमें महात्मा गौतमकी बुद्धत्व-प्राप्तिका अत्यन्त रोचक वर्णन किया गया है। कपिलवस्तुका राज्य, वृद्ध पिता, नवपरिणीता वधू तथा सद्यःजात पुत्रका परित्याग करके गौतम घरसे निकल पड़े। इस महाभिनिष्क्रमणसे इतने स्वजनोंका मोह तोड़कर गौतमने समस्त लोकका कल्याण करना अपना धर्म समझा। विद्वान् ब्राह्मणों-से भारतीय दर्शनों का परिशीलन करके उन्होंने तपस्या प्रारम्भ की उन्होंने समझ लिया कि वृद्धता, रोग तथा मृत्युसे पिण्ड छुड़ाना टेढ़ी खीर है। वे गयामें पीपलके वृक्षके नीचे तपस्या करने लगे। शरीर सूखकर काँटा हो गया। वे भूमिस्पर्श-मुद्रामें बैठे ही थे कि सहसा उन्हें ज्ञान हुआ। तभीसे वे बुद्ध हो गए। उन्हीं बुद्धकी कल्याण-

मयी वाणीका प्रभाव था कि दो तीन सौ वर्षों में ही आधा एशिया जाग उठा। बर्बरताने मनुष्यता सीख ली। कलिङ्गके विजयी वीरको भी रणक्षेत्रमें बुद्धकी करुण वाणी सुनाई पड़ गई। बुद्ध न होते तो सम्भवतः अशोकका नाम भी मिहिरकुल और नादिरशाहके साथ ही लिया जाता।

पाठ-सूत्र

कक्षा : ७ **समय :** ३५ मिनट

विषय : इंगलिश **प्रस्तुत विषय :** गौतम बुद्ध

उद्देश्य : १ छात्रोंको पाठका भाव तथा अर्थ समझनेका अभ्यास कराना।

२. गौतमके जीवनका महत्त्व बतलाना।

३. छात्रोंका शब्द-भण्डार तथा सूक्ति-भाण्डार बढ़ाना।

प्रस्तावना : गौतम बुद्धका चित्र दिखलाकर—

प्रश्न : इस चित्रमें किसकी मूर्त्ति है ?

उत्तर : गौतम बुद्धकी।

उद्देश्य-कथन : आज हम लोग इन्हीं बुद्धके विषयमें पढ़ेंगे।

पाठ्य-क्रम : (१) अध्यापक-द्वारा आदर्श-पाठ तथा कक्षा-द्वारा सस्वर (अथवा मूक) पाठ, (२) बोध-परीक्षा, (३) विस्तृत व्याख्या।

बोध-परीक्षा : (१) गौतम किस प्रकार बुद्ध बने ?

(२) अशोकपर भगवान बुद्धका क्या प्रभाव पड़ा ?

विस्तृत व्याख्या

वस्तु	पाठन विधि
भोजपत्र = (संस्कृत) भूर्जपत्र; हिमालयपर होता है।	भोजपत्र दिखलाकर
लङ्का—एक देश कपिलवस्तु — शाक्योंकी राजधानी कलिङ्ग—वर्त्तमान उड़ीसा गया—बिहार प्रदेशका एक नगर और तीर्थ, जहाँ हिन्दू लोग अपने पितरोंको पिण्ड देते हैं।	भारतके मानचित्रपर ये स्थान दिखलाकर
बुद्ध—जागा हुआ। (लाक्षणिक अर्थ ज्ञान-प्राप्त)। बुध् = जागना = जागा हुआ 'बुद्ध'	व्युत्पत्ति-द्वारा
नव-परिणीता-वधू = नई ब्याही हुई बहू	समास-विग्रहके द्वारा
सद्य जात = तुरत + जनमाहुआ	समास तोड़कर अर्थ-कथन द्वारा
महाभिनिष्क्रमण = महा + अभिनिष्क्रमण = किसी बड़े उद्देश्यसे घरसे सदाके लिये निकल जाना।	सन्धि तोड़कर तथा व्याख्या-द्वारा
स्वजन = अपने कुटुम्बी	'पर जन'से तुलना द्वारा।
दर्शन = योग, सांख्य, न्याय, वैशेषिक, पूर्व मीमांसा, उत्तर मीमांसा (वेदान्त)	कथन-द्वारा

वस्तु	पाठन-विधि
परिशीलन = गम्भीर अध्ययन	अर्थ-कथन-द्वारा
टेढ़ी खीर = कठिन काम	मुहावरेकी व्याख्या कथासहित
भूमिस्पर्श-मुद्रा = हथेली सामने करके मध्यमा उँगलीसे भूमि छूकर बैठना।	अभिनय-द्वारा
बर्बरता = असभ्यता	'सभ्यता' से तुलना-द्वारा
कलिंगका विजयी वीर = अशोक।	इतिहासके सहयोगसे
मिहिरकुल-(सन् ५२० से ५४२ तक) उत्तर पश्चिमीय भारतका क्रूर शासक। इसने बौद्धोंपर बड़े अत्याचार किए थे।	इतिहासके सहयोगसे
नादिरशाह—ईरानका बादशाह, इसने सन् १७३९ में भारतपर आक्रमण करके निर्दयताके साथ लूटपाट मचाई थी।	इतिहासके सहयोगसे

विचार-विश्लेषण : (१) बुद्धने किन स्वजनोंका परित्याग किया ?
(२) उनका परित्याग बुद्धने क्यों किया ?
(३) बुद्धके महाभिनिष्क्रमणसे संसारका क्या कल्याण हुआ ?
(४) यदि बुद्ध न होते तो अशोकका नाम मिहिरकुल और नादिरशाहके साथ क्यों लिया जाता ?

आवृत्ति : (१) भगवान् बुद्धके जीवन-चरितका वर्णन करो।
(२) बुद्धके उपदेशोंका क्या परिणाम हुआ ?

प्रयोग : बुद्धका किन भारतीय शासकोंपर प्रभाव पड़ा ?

४

रचना

नारियलकी आत्मकथा

कक्षा : ८ समय : ३५ मिनट

विषय : रचना-शिक्षण।

पाठ : नारियलकी आत्मकथा।

उद्देश्य : छात्रोंको शुद्ध, ललित, रोचक एवं प्रभावोत्पादक भाषामें लिखनेकी कलामें प्रवीण बनाना।

प्रस्तावना : एक नारियल दिखलाया जायगा जिसपर मनुष्यकी आकृति बनी होगी।

प्रश्न—इनका क्या नाम है ?

उत्तर—नारियल बाबा।

उद्देश्य-कथन : आज हम लोग नारियल बाबाकी आत्मकथा सुनेंगे और लिखेंगे।

पाठन-क्रम : (क) विद्यार्थियोंसे नारियलकी आत्मकथा प्रश्नोत्तर-प्रणाली द्वारा कहलाई जायगी। इसके पूर्व उन्हें बतला दिया जायगा कि उक्त आत्मकथामें तीन अवस्थाएँ होंगी—(१) परिचय (२) जीवन-वृत्तान्त (३) उसकी व्यथा और उसका अनुरोध। छात्रको उत्तम पुरुषमें उत्तर देने होंगे।

(ख) प्रत्येक वृत्त श्याम-पट्टपर लिख दिया जायगा। छात्र इन्हें रचना-पुस्तिकापर बाईं ओर लिखते चलेंगे।

विस्तार :

ज्ञातव्य वस्तु	प्रश्नावली
१. परिचय—	
समुद्रके निकटके प्रदेशोंमें हरे-भरे कुटुंबियोंके बीच।	इनका वासस्थान कहाँ है ?
जटा, खोपड़ी, आँख।	इनके कितने अंग हैं ?
कोमल, निर्मल और सरस।	इनका हृदय कैसा है ?
२. जीवन-वृत्तान्त—	इनकी जीवनी संक्षेपमें बताओ।
(क) उत्पत्ति-स्थान : ऊँचा खंभा, कुटुंबियोंके बीच।	
(ख) बाल्य-स्थिति एवं विकास	
(ग) लोगोंका आ-आकर घूरना।	
(घ) वृक्षसे वियोग।	
(च) अन्य भाइयोंके साथ बोरोंमें भरा जाना और यात्रा।	
(छ) काशीमें पहुँचना।	
(ज) काशीमें अन्य साथियोंकी दुर्दशा।	
३. व्यथा और अनुरोध—	
(क) साथियोंके दुःख और उनके साथ होनेवाली क्रूरताकी स्मृति एवं आनेवाले भयकी आशंका।	इनकी मुखाकृतिसे क्या भाव प्रकट हो रहा है ?

ज्ञातव्य वस्तु	प्रश्नावली
(ख) जटासे रस्सा, पत्तोंसे झोंपड़ी या छप्पर, पत्तेकी धज्जीसे पंखे तथा झाड़ू, गरीसे तेल और बरफी तथा पानके पत्तेके साथ चर्वण।	लोग इनके साथ क्या क्रूरता करते हैं?
(ग) निरपराध और परोपकारीके ऊपर होनेवाली क्रूरताओंसे रक्षा और न्याय।	इनकी क्या प्रार्थना है?

आवृत्ति : छात्रों-द्वारा वर्णन-प्रणालीसे संक्षेपतः तथा खण्डशः उत्तम पुरुषमें आवृत्ति कराई जायगी।

आदर्श निबन्ध : अध्यापक निम्नाङ्कित आदर्श निबन्ध 'आमकी राम-कहानी' पढ़कर सुनायँगे।

लँगड़े आमकी राम-कहानी

मुझे वह दिन भूला नहीं है जब वसन्तके दिनोंमें काशिराजकी घनी अमराईके तरुण रसालकी बौराई हुई हरी टहनीकी फुनगीपर मधुगन्धसे गमकती हुई मञ्जरीकी सुकुमार गोदमें मेरा जन्म हुआ। रसीले भौंरोंने अपनी मनहर गुञ्जारकी तानोंसे बधाइयाँ गाईं। मदमत्त कोकिलने अपनी मीठी कूककी लोरियोंसे मुझे दिन-रात हँसाया-खिलाया। शीतल, मन्द, सुगन्ध मलयज पवनने अपनी गोदके हिंडोलेपर साँझ-सबेरे मुझे झूम-झूमकर झुलाया। रङ्ग-बिरङ्गी तितलियों और छोटी-बड़ी चिड़ियोंने देश-विदेशकी कहानियाँ सुना-सुनाकर मेरा जी बहलाया। इस प्रकार राग-रङ्ग और हँसी-खेलमें यही नहीं जान पड़ा कि बचपन कब आया और

कबमें को निकल गया। अब मुझे लोग प्यारमें आँबी, केरी, अँबिया, अँबौली या टिकोरा कहने लगे थे।

मेरे बचपनके साथ-साथ मधुमय बसन्त भी फाग खेलकर बीत चला। सूर्यकी किरणोंमें जलन बैठ चली। धरतीका फाग खेलना सूर्यकी आँखोंमें काँटा बनकर खटकने लगा। पखवाड़े-भर पहले जो पवन शरीरमें फुरफुरी उठाता चलता था वह भी सूर्यकी किरणोंसे तपकर, लू बनकर अपने गरम थपेड़ोंसे सबको झुलसाने लगा। भरी दुपहरीमें लूके वह सनसनाते झोंके और हरहराते बवण्डर चलते कि जी सन्न रह जाता। लूका झोंका न सह सकनेके कारण हमारे बहुतसे साथी तड़प-तड़पकर गिरते जा रहे थे और मालीके लड़के ऐसे निर्दयी, कि झट उठाकर उन्हें कच्चा चबा जाते। मालिन भी जब-तब उठाती तो ऊपरका छिलका छीलकर, सिलपर कूट-पीसकर, नमक-मिर्च मिलाकर, चटनी बनाकर, रोटीके साथ चट कर जाती। अपने साथियोंकी यह दुर्गति देखकर मेरा तो जी थर्रा जाता और यही डर बना रहता कि कहीं मेरी भी यही दशा न हो। जब माली सन्ध्याको अपनी मालिनसे आकर सुनाता कि आज इतने लोग लूसे चल बसे, तो मेरा जी काँप उठता और रहा सहा धीर भी नौ दो ग्यारह हो जाता।

उन्हीं दिनोंकी बात है। एक दिन भरी दुपहरियामें मालिनको मड़ैयामें नाक बजाते देखकर कुछ लड़के घात लगाकर अमराईमें आ घुसे और लगे हम लोगोंकी ओर आँख गड़ा-गड़ाकर घूरने। कुछ देर इधर-उधर यों ही ताक-झाँक करके वे लगे ढेले उठा-उठाकर हम लोगोंपर तड़ातड़ बरसाने। हमारे जो अभागे साथी ढेलोंकी चपेटमें आए वे लगे टूट-टूटकर नीचे गिरने और लड़के भी लगे उन्हें उठा-उठाकर अपने पल्लोंमें भरने। अभी न जाने कितनी देरतक यह सब उजाड़-पजाड़ चलता पर इसी बीच उनकी खटर-पटरसे मालिनकी नींद टूट गई। उसने जो इन लड़कोंको ढेला चलाते और आम बीनते देखा तो उसकी त्योरियाँ चढ़ गईं। वह ललकारती हुई उन लड़कोंके पीछे दौड़ी पर तबतक तो वे सब ले-देकर

हरिण हो चुके थे। जब मालिन उनका कुछ भी न कर पाई तब उसने खीझकर धुँआँधार ऐसी फूहड़-फूहड़ गालियोंकी बौछार की कि एक बार लज्जा भी उन्हें सुनती तो लाजसे सिर झुका लेती। भर-पेट गाली दे चुकनेपर उसका जी ठण्ढा हुआ और वह बचे-खुचे नीचे पड़े सिसकते हुए हमारे साथियोंको छबड़ीमें बटोरकर मड़ैयामें जा लेटी।

एक दिन कुछ बनारसी छैले रंग-पानी करके, छैल-चिकनिया बने, घूमते-घामते वहाँ आ पहुँचे। उनमेंसे एक लगा सब पेड़ोंको दिखा-दिखाकर समझाने कि 'ये देशी पेड़ हैं। इनके फलोंका अचार, अमचूर, अमावट और मुरब्बा बहुत अच्छा पड़ता है। इनमेंसे कुछके टपके बड़े रसदार होते हैं और कुछ पाल डालनेपर मीठे होते हैं।' फिर हम लोगोंकी ओर घूरकर बम्बइया, मालदह, दसहरी, सफ़ेदा, कृष्णभोग, पायरी, हाफुस, फ़ज़ली और तोतेपरीका नाम गिनाकर मेरा परिचय देते हुए वह बोला कि 'यह लँगड़ा है।' अपनेसे कम गुणवालोंके नाम कृष्णभोग और तोतेपरीके सामने अपना नाम 'लँगड़ा' सुनकर जी जल-भुनकर राख हो गया। जीमें आया कि अभी इसके सिरपर बरसकर इसका सिर तोड़ दूँ।

इतनेमें उसके दूसरे साथी वैद्यजीने छेड़ दिया कि—

'पाके आमकी मीठी रसी, खाई न खाई देहे धँसी।'

'चालीस दिनतक कोई आम और गौके दूधपर रह जाय तो बकरा भैंसा हो जाय, भैंसा हाथी हो जाय और सौ बरसका झुलझुल बुड्ढा भी लाल पट्ठा होकर निकले।' यह सुन-सुनकर तो मेरा जी बैठने लगा कि कहीं ये सचमुच मिलकर हमें डकार न जायँ।

तीसरे कविजी थे। उन्होंने तुलसीदासजीका दोहा छेड़ा—

तुलसी संत सुअम्ब तरु, फूलि फलहिं पर-हेत।
इतते ये पाहन हनत, उतते वे फल देत॥

महाकवि गोस्वामी तुलसीदासजीकी वाणीमें अपना यह गौरव सुनकर बड़ा गर्व हुआ कि हम परोपकारी संतके पुत्र हैं और इतने बड़े कविने हमारी इतनी बड़ाई की है। इतनेमें कविजीने दूसरा दोहा सुनाया—

बोलो कैसे छोड़ दें, बेढब काशी-धाम ।
मरनेपर गंगा मिले, जीते लँगड़ा आम ॥

अब तो मैं फूलकर कुप्पा हो गया। क्या सचमुच हमारा इतना बड़ा माहात्म्य है? फिर भी यह बात जीमें खटकती ही रही कि मिठास और गंधमें सबसे बढ़कर होते हुए भी हमें लोग 'लँगड़ा' ही कहते हैं। इसलिये रातको जब कोयल मेरे पास आकर कूकी तो मैंने पूछा—कहो! हममें कोई दोष नहीं है, फिर भी हमें लोग लँगड़ा क्यों कहते हैं? उसने स्नेहपूर्वक समझाते हुए कहा कि मनुष्य लोग सब बड़े मूर्ख होते हैं। इनकी बातका बुरा नहीं मानना चाहिए। ये लोग सभीके नाम ऐसे ऊट-पटाँग रक्खा करते हैं। इसीलिये तो कबीरने इन्हें कोसते हुए कहा था—

चलतीको गाड़ी कहें, फटे दूधको खोवा।
रंगीको नारंगी कहें, देख कबीरा रोवा॥

कबीरकी बात सुनकर मेरे जीमें जी आया, जीको बड़ा ढाढ़स मिला।

अब मैं गदरा चला था। मेरे और मेरे साथियोंके हरे रंगपर कुछ सुनहरापन लिए लाल रंग चढ़ने लगा था। इसी बीच एक दिन मालीने मालिनसे कहा—'अब कल लँगड़े उतार लेंगे। महाराजके यहाँसे माँग आई है।' सुनते ही मेरा तो जी सूख गया। अब क्या होगा मेरे राम! पर फिर तुलसीदासजीका दोहा स्मरण करके जी कड़ा कर लिया। 'मालीके जो जीमें आवे करे न! हम क्या डरते हैं?' अगले दिन तड़के ही माली जाल लेकर चढ़ ही तो आया। उसे देखते ही मेरा जी तो आधा हो गया। बातकी बातमें उसने हम सबको टहनीकी प्यारी गोदसे सदाके लिये बिलगाकर जालमें भर लिया। नीचे लाकर उसने हम सबको एक टोकरीमें पत्तोंके गद्देपर सजाकर बेलेके फूलोंसे ढककर महाराजकी सेवामें पहुँचा दिया, जहाँ तीन दिनतक हम लोग ठंढे डब्बेमें सोते रहे। बड़े दिनोंपर इतनी तरावट मिली थी!

हे छुरी! आज मैं यहाँ चाँदीके थालमें पहुँच गया हूँ। तुम अपने जीमें कोई खटका न करो और झटपट मेरी फाँकें करके थालीमें सजा दो।

जिससे मैं अपनी बलि देकर मनुष्यको स्वाद, स्वास्थ्य और सुख दूँ और अपना जीवन सफल करूँ, क्योंकि उसीका जीवन जीवन है जो सदा दूसरोंके काम आवे।

प्रयोग : 'आमकी आत्मकहानी' की शैलीमें नारियलकी आत्मकथा-लिखो।

५

पद्य-पाठ

कौशल्याका पुत्र-स्नेह

पाठ-सूत्र

औधमहँ निसिदिन अधिक अँधेरो।
बढ़े जात ज्यों-ज्यों रवि-कुल-रवि, त्यों-त्यों घटत उजेरो॥
लखनलाल आँखिनको तारो, औ ससि-बदनी सीता।
अवध-अकास-बास तजि अथए, हौं तम लखि अति भीता॥
इहि घट जरत बरत आँवालौं, लहि सुत-बिरह-दवागी।
मंजारी-सिसु सम तउ आसा, जियत राम-मुख लागी॥
पति न मरत, सुत बन न सिधारत, जीवन होत न भारू।
रखतिउँ सुतहिं सुसील उदरमहँ, जौ होतिउँ कङ्गारू॥
'रुद्र', समुद्र समान निसामहँ, प्रान चोरलौं परिहैं
ह्वै है कौन सुदिन तौनिउँ जब, चरन-किरन इत धरिहैं॥

[श्रीशिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र' द्वारा विशेष रूपसे विरचित]

कक्षा : ६ **समय : ४० मिनट**

विषय तथा पाठ : हिन्दी पद्य (कौशल्याका पुत्र-स्नेह)

प्रणाली : व्याख्या-प्रणाली।

मुख्य उद्देश्य : कविताके प्रति विद्यार्थियोंकी रुचि बढ़ाते हुए उन्हें सन्तानकी ममताका भाव समझाना।

प्रस्तावना : (१) रामको वनवास क्यों दिया गया था?

(२) उनकी माताने उन्हें क्यों नहीं रोका?

उद्देश्य-कथन : आज हम एक पदमें पढ़ेंगे कि रामके वनवासके चले जानेपर माता कौशल्याने किस प्रकार अपने दुःखका वर्णन किया।

विषय-प्रवेश : (१) अध्यापक-द्वारा आदर्श वाचन।

(२) कक्षा-द्वारा सस्वर तथा सुस्वर वाचन।

बोध-परीक्षा : (१) अवधमें कौशल्याजीको अन्धकार क्यों प्रतीत हो रहा है?

(२) उनके मतसे वहाँ सुदिन होनेकी आशा कब की जा सकती है?

आत्मीकरण : (क) विस्तृत व्याख्या

वस्तु	पाठन-विधि
औध—(संस्कृत) अयोध्या = अवध—कोशलकी राजधानीका नाम तथा एक प्राचीन नागरी।	अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची ह्यवन्तिका। पुरी द्वारावती चैव सप्तैताः पुरयः स्मृताः॥ प्रश्न—अयोध्या कहाँ है? (भारतके मानचित्रमें दिखलाकर)
रबि-कुल-रबि = सूर्य्यकुलके सूर्य्य—श्रीरामचन्द्र।	समास-विग्रह और व्युत्पत्ति-द्वारा।

वस्तु	पाठन-विधि
आँखिनको तारो = मुहावरा— आँखका तारा अर्थात् अत्यन्त प्यारा।	तुलना करो— प्रियपति ! वह मेरा प्राण-प्यारा कहाँ है ? दुख-जल-निधि-डूबी- का सहारा कहाँ है ? लख मुख जिसका मैं आज लौं जी सकी हूँ। वह हृदय हमारा नैन-तारा कहाँ है ? [प्रिय-प्रवास]
अवध—अकास-वास = अवध-रूपी आकाशका निवास।	प्रश्न-द्वारा—(१) चन्द्र, सूर्य और तारे कहाँ रहते हैं ? (२) अयोध्यारूपी आकाशसे कौन लोग गए ?
अथए = (संस्कृत) अस्त—अर्थात् चले गए हैं।	व्युत्पत्ति-द्वारा
घट = घड़ा। लाक्षणिक अर्थ— शरीर तथा हृदय।	व्याख्या तथा उदाहरण— घट-घट व्यापक राम जप रे।
आँवाँ = मिट्टीके बर्त्तन पकानेकी भट्टी।	चित्र बनाकर
(बनसे जलनेवाली आग)	अर्थ-कथनद्वारा
मंजारी-सिसु = (संस्कृत) मार्जारी-शिशु = बिल्लीका बच्चा	व्युत्पत्ति, पर्याय तथा समासविग्रह द्वारा
मंजारी-सिसु-सम······ रामसुख लागी। जैसे कुम्हारिनको	प्रह्लाद और कुम्हारिनकी कथा द्वारा। यह कथा भागवतमें नहीं

वस्तु	पाठन-विधि
बिल्लीके बच्चेके जीवित निकलनेकी आशा थी वैसे ही मैं (कौशल्या) रामका मुख देखनेके लिये जीवित हूँ।	है । पंडित राधेश्यामने अपने 'परमभक्त प्रह्लाद' नाटकमें यह कथा जोड़ी है।
आसा जियत = अब भी रामदर्शनकी आशा है।	व्याख्या-द्वारा
सुसील = (संस्कृत) सुशील = शीलवान्, भला।	उदाहरण—भले आदमी सुशील होते हैं, बुरे आदमी दुःशील। मालवीयजी सुशील थे, सबसे अच्छा व्यवहार करते थे।
उदर = पेट।	पर्यायद्वारा
कंगारू = औस्ट्रेलियाका पशु विशेष, जो संकट आनेपर अपने बच्चेको पेटकी थैथीमें रखकर भाग खड़ा होता है।	मूर्त्ति या चित्र दिखलाकर सूचना—यह उपमा भारतीय नहीं है और कवियों-द्वारा अभीतक प्रयोग नहीं की गई है।
समुद्र-समान निशा = गम्भीर, न कटनेवाली रात।	कल्पनाको उद्बोधित करके।
प्रान चोरलौं परिहैं—प्राण चोरके समान व्याकुल तथा भयभीत रहें।	व्याख्या-द्वारा।

(ख) विचार-विश्लेषण

(१) ज्यों-ज्यों रामचन्द्रजी वनकी ओर बढ़े जा रहे हैं त्यों-त्यों कौशल्याजीको अन्धकार क्यों जान पड़ रहा है ?

(२) कौशल्या माताको अपना शरीर जलता-सा क्यों जान पड़ता है ?

(३) उन्होंने कंगारू बनानेकी इच्छा क्यों प्रकट की ?

समीक्षात्मक आवृत्ति : (१) आशाकी तुलना बिल्लीके बच्चेसे क्यों की गई ?

(२) समुद्रसे रात्रिकी समानता किस आधारपर दिखाई गई है ?

प्रयोग : इस पाठके आधारपर कृष्ण-वियोगसे दुखी यशोदाकी व्यथाका वर्णन करो और तुलसीदासजीने गीतावलीमें जो कौशल्याजीके दुःखका वर्णन दिया है उससे तुलना करो—

राघौ ! एक बार फिरि आवौ ।

ए बर बाजि बिलोकि आपने, बहुरे बनहिँ सिधावौ ॥ १ ॥
जे पय प्याइ पोखि कर-पंकज, बार-बार चुचुकारे ।
क्योँ जीवहिँ, मेरे राम लाड़िले ! ते अब निपट बिसारे ॥ २ ॥
भरत सौगुनी सार करत हैँ, अति प्रिय जानि तिहारे ।
तदपि दिनहिँ दिन होत झाँवरे, मनहुँ कँवल हिम-मारे ॥ ३ ॥
सुनहु पथिक ! जौ राम मिलहिँ बन, कहियो मातु-सँदेसो ।
तुलसी मोहिँ और सबहिन तेँ, इन्हको बड़ो अँदेसो ॥ ४ ॥

[गोस्वामी तुलसीदासजी : गीतावली]

६

नाटिका

पन्ना

स्थान : चित्तौड़ गढ़में मेवाड़के महाराणाका राजमहल।

समय : रात्रिका दूसरा प्रहर।

पात्र

उदयसिंह ...	मेवाड़के भावी महाराणा	(६ वर्ष)
बनवीरसिंह ...	उदयसिंहके संरक्षक राणा	(५० वर्ष)
नाई ...	अन्तःपुरका सेवक	(५५ वर्ष)
पन्ना ...	उदयसिंहकी धाय	(६५ वर्ष)
बप्पा ...	पन्नाका पुत्र	(७ वर्ष)

[एक ओर ऊँचे दीपाधारपर एक बड़ा-सा तैल-दीप जल रहा है। उसके एक ओर पलँगपर छह वर्षके राजकुमार उदयसिंह सो रहे हैं और दूसरी ओर चटाईपर पन्नाका पुत्र बप्पा लेटा है। पन्ना दाएँ हाथमें चाँदीका और बाएँमें पीतलका दूध-भरा कटोरा लिए प्रवेश करती है।]

पन्ना : (धीरेसे उदयसिंहसे) कँवरजी! (धीरेसे बप्पासे) गीगा! (स्वयं) हैं! दोनों सो गए।

[इतनेमें बाहर कुछ कोलाहल होता है। पन्ना दूधके कटोरे रखकर खिड़कीसे झाँकती है। हाँफते हुए नाईका प्रवेश]

नाई : (घबराए हुए स्वरमें) भागो बाई! झटपट भागो बच्चोंको लेकर।

पन्ना : (शङ्कित होकर) क्यों! क्यों? क्या हुआ नेवगी?

नाई : (घबराहट-भरे वेगपूर्ण स्वरमें) हुआ क्या! राणा बनवीरसिंहने अभी राणा विक्रमाजीतसिंहजीकी हत्या कर दी है और गढ़के फाटक तोड़ डाले हैं। बस यहाँ पहुँचे ही समझो।

पन्ना : (स्थिर होकर) गढ़के पहरुए कहाँ गए ?

नाई : सब काट डाले गए ।

[फिर कोलाहल होता है । नेपथ्यमें 'राणा बनवीरसिंहकी जय' का कोलाहल सुनाई देता है ।]

पन्ना: (आश्चर्य और आशंकासे) बनवीरसिंहकी जय ! इसका क्या अर्थ है ! (नाईसे) कुछ समझते हो नेवगी ?

नाई : (घबराकर) मैं समझता हूँ बाई ! कँवरजीके प्राण संकटमें हैं । भागो !

पन्ना : (विवशताके स्वरमें) भागा कैसे जा सकता है ?

नाई : (चिन्ताके साथ) तो ?

पन्ना : (धीरतासे) तो क्या ? मेरे प्राण रहते कँवरजीपर कोई संकट नहीं आ सकता । (ऊपर हाथ जोड़कर) भगवती कालिका ! अब तुम्हीं सहायक हो । (उल्लासके साथ) समझ गई । (नाईसे) एक काम कर सकोगे नेवगी ?

नाई : (उत्सुकतासे) क्या ?

पन्ना : (गम्भीरतासे) सौगन्ध खाओ कि प्राण देकर भी कँवरजीकी रक्षा करोगे !

नाई : (दाहिना हाथ ऊपर उठाकर) भगवान् एकलिंगकी आन देकर कहता हूँ कि कँवरजीकी रक्षाके लिये प्राणतक देनेमें नहीं झिझकूँगा ।

पन्ना : तो यह लो तलवार ! (तलवार देती हुई) तुम आधी घड़ीतक बनवीरको बाहर रोके रक्खो । आगे मैं देख लूँगी ।

[नाई तलवार ले लेता है ।]

नाई : (आशंकासे) और कँवरजी ?

पन्ना : (निश्चिन्ततासे) चिन्ता न करो, मैं सब देख लूँगी ।

नाई : (विश्वासपूर्ण सन्तोषके साथ) अच्छा, जाता हूँ । किवाड़पर मूसला दे लो ।

[नाईका प्रस्थान । पन्ना शीघ्रतासे किवाड़पर अर्गला दे आती है । राजकुमार उदयसिंहको उठाकर चटाईपर लिटा देती है और उन्हें कम्बल उढ़ाकर अपने पुत्रको धीरेसे जगाती है ।]

बप्पा : (चौंककर) क्या है माँ ?

पन्ना : (चुप रहनेका संकेत करके) गीगा ! तू अपने कँवरजीके लिये प्राण दे सकेगा ?

बप्पा : (प्रसन्न होकर) हाँ, मैं तैयार हूँ माँ ! क्या करूँ ?

पन्ना : (धीरेसे सशंक मुद्रामें) तू कँवरजीका दुशाला ओढ़कर झटपट उस पलँगपर चुपचाप लेट जा । देर न कर ।

[बाहर 'मारो-मारो' का कोलाहल होता है ।]

बप्पा : (उत्साहसे) समझ गया माँ ! भगवान् एकलिंगकी जय !

[बप्पा पलँगपर दुशाला ओढ़कर लेट जाता है । नेपथ्यमें संवाद सुनाई पड़ता है]

नेपथ्य-संवाद

बनवीर : (नाईसे) हट जाओ नेवगी सामनेसे ।

नाई : (बनवीरसे) प्राण रहते नहीं हटूँगा राणा ! भगवान् एकलिङ्गकी जय !

बनवीर : (नाईसे) हूँऽऽ ! यह बात ! तो सँभल !

नाई : (बनवीरसे) सँभला हूँ ।

[शस्त्रोंके घात-प्रतिघातका और नाईके मुँहसे बीच-बीचमें 'एकलिङ्गकी जय' तथा समवेत स्वरसे महाराणा 'बनवीरसिंहकी जय' और 'मारो-मारो' का कोलाहल हो रहा है ।]

पन्ना : (घुटने टेककर, आँख मूँदकर, हाथ जोड़कर) माई कालिका ! मैं तुम्हारी पुत्री हूँ । मैं परीक्षासे नहीं डरती । मुझे शक्ति दो माँ !

बप्पा : (लेटे लेटे) मैं भी नहीं घबराता माँ ! भगवान् एकलिङ्गकी जय ! कालिका माताकी जय !

[दीपकके प्रकाशमें पन्ना बड़े गर्व, उत्साह और आवेशमें किवाड़से लगकर खड़ी हो जाती है। इतनेमें भड़भड़ करके किवाड़ टूटते हैं। बनवीर तलवार खींचे हुए प्रवेश करता है।]

बनवीर : (आवेशसे) पन्ना !

पन्ना : (स्नेहसे) आओ, बैठो राणा ! आज हाथमें यह खुली तलवार कैसे है ? क्या किसी बाहरी बैरीने चढ़ाई की है ?

बनवीर : (धृष्टतासे) बाहरी बैरियोंसे मैं नहीं डरता पन्ना !

पन्ना : (कृत्रिम विस्मयसे) तो ?

बनवीर : (पलँगकी ओर इंगित करके) यहाँ जो भीतरी बैरी हैं उन्हींका रक्त पीनेके लिये मेरी तलवार व्याकुल हो रही थी। आज उसीकी प्यास बुझाने आया हूँ।

पन्ना : (मार्मिक व्यंग्यसे) तलवारकी प्यास तो ऐसे नहीं बुझती बेटा ! उसके लिये पहले अपना रक्त देनेकी तैयारी करनी पड़ती है।

बनवीर : (उद्दण्डतापूर्वक) मैं यह प्रथा उलट देना चाहता हूँ बाई।

पन्ना : (उपेक्षासे) ठीक है, उलटो । किन्तु इस गढ़में तो तुम्हारा कोई बैरी नहीं है राणा !

बनवीर : (बाएँ हाथसे मूँछ ऐंठते हुए) आज नहीं है, किन्तु कल हो सकता है। मैं सदाके लिये वह काँटा निकाल देना चाहता हूँ। मैं साँपके बच्चेको दूध पिलाकर नहीं पालना चाहता।

पन्ना : (व्यंगसे) जान पड़ता है अमृतके कलशमेंसे तुझे भी कुछ भाग मिला है ?

बनवीर : (अधिकारपूर्ण स्वरमें) मैं यह सब सुनने नहीं आया हूँ।

पन्ना : (तेजःपूर्ण स्वरमें) तो किस लिये आए हो ?

बनबीर : (उसी पहले स्वरमें) अपने भावी शत्रुको सदाके लिये समाप्त करने।

पन्ना : (शान्त जिज्ञासा-भावसे) क्या मैं तेरे भावी शत्रुका नाम जान सकती हूँ?

बनवीर : (तलवारसे इंगित करके) हाँ! वह जो पलँगपर सो रहा है वही मेरा शत्रु है।

पन्ना : (दृढतासे) यह तेरा भ्रम है राणा! मैं क्षत्राणी आन देकर कहती हूँ कि उस पलँगपर सोनेवाले भोले-भाले बालकको तेरे राज्यसे कोई मोह नहीं है।

बनवीर : (निर्लज्जता-पूर्वक) आजका भोला बालक कल चतुर युवक हो जायगा। इसलिये उसकी जवानीको इस गढ़में घुसनेसे पहले ही तलवारसे रोक देना चाहता हूँ।

[तलवारकी नोकसे झालर उठाता है और सोते बच्चाको देखता है।]

पन्ना : (अभ्यर्थनापूर्वक) बनवीर! क्या तेरे हृदयमें दया और क्षमा दोनों नहीं?

बनवीर : (कठोर सूख हँसीके साथ) मैं आजके लिये दया और क्षमाको महलके बाहर छोड़ आया हूँ। यहाँसे जाऊँगा तो फिर उन्हें साथ ले लूँगा।

पन्ना : (आवेशसे) तो निर्दयी! महाराणा विक्रमाजीतसिंहजीकी भी हत्या तूने ही की है?

बनवीर : (कुछ घबराकर) नहीं! तुमसे किसने कहा?

पन्ना : मुझसे कहा तेरे मुँहने, तेरी रँगी हुई तलवारने। क्यों? मुँह काला क्यों पड़ता जा रहा है?

बनवीर : (धृष्टताके साथ) अच्छा यही सही। मेरी यही इच्छा है।

पन्ना : (तेजस्विताके साथ) तो निर्दयी! कर ले हत्या! यही हत्या तेरे सिरपर चढ़कर तेरा नाश करेगी।

बनवीर : (हँसते हुए) मैं शापसे नहीं डरता बाई ! देख अपने राज-कुमारका अन्त !

[बप्पापर तलवार चलाता है । एक हलकी सी गूँ-गूँ के पश्चात् सब समाप्त । पन्ना दीएकी लौके पास स्तब्ध खड़ी रह जाती है । बनवीर वेगसे चला जाता है । पन्ना धीरे-धीरे आगे बढ़ती है और मृत पुत्रका माथा छूकर भावमग्न हो जाती है ।]

पन्ना : तू धन्य है बेटा ! तूने मेवाड़के राणाके लिये अपने प्राण देकर मेरे दूधकी लाज रख ली ।

[धीरे-धीरे उठकर चटाई-परसे राजकुमारको गोदमें उठा लेती है ।]

पन्ना : (राजकुमारकी ओर देखकर कुछ भावमय होकर) मेवाड़के महाराणाकी जय !

उदयसिंह : (जागकर) क्या है ?

पन्ना : (दूधका कटोरा उठाकर उदयसिंहके मुँहसे लगाते हुए) कुछ नहीं । लो, दूध पी लो ।

[उदयसिंह दूध पीते हैं । सहसा दीपक मन्द होने लगता है । उसके धुँधले प्रकाशमें मुँहसे कटोरा लगाते हुए राजकुमारको गोदमें लिए हुए पन्ना निकल जाती है ।]

[यवनिका-पतन]

कक्षा : १०

समय : ४० मिनट

पाठ तथा विषय : नाटिका (पन्ना)

उद्देश्य : भाषाका ज्ञान बढ़ाते हुए विभिन्न प्रकारके मनुष्योंका मनोवैज्ञानिक अध्ययन कराना तथा बालकोंमें वीरता और कर्त्तव्य-शीलताका भाव भरना ।

मुख्य उद्देश्य : पन्नाकी स्वामिभक्तिका अनुभव कराते हुए मोहपर कर्त्तव्यके विजयका औचित्य तथा महत्त्व

समझाना।

पाठ्य-क्रम (१) छात्रों-द्वारा मौन पाठ
(२) आदर्श नाट्य-प्रणालीसे अध्यापक-द्वारा पाठ
(३) कक्षाभिनय-प्रणालीसे छात्रों-द्वारा पाठ
(४) व्याख्या-प्रणालीसे प्रश्नोत्तर
(५) पुनरावृत्ति
(६) प्रयोग

मौन पाठ : विद्यार्थी प्रायः ५ मिनटतक ध्यानपूर्वक मौन पाठ करेंगे।

आदर्श नाट्य-प्रणाली: अब विद्यार्थी पुस्तक बन्द कर देंगे और अध्यापक स्वयं सभी पात्रोंका वाचिक और आङ्गिक अभिनय करते हुए ७ मिनटतक नाटकका पाठ करेगा।

कक्षाभिनय-प्रणाली : पन्ना, बनवीर और नाई आदिकी भूमिकामें विद्यार्थी खड़े होकर नाटकका साभिनय पाठ करेंगे।

व्याख्या—

(१) चरित्र-व्याख्या—

प्रश्न : पन्नाके चरित्रमें क्या विशेषताएँ मिलती हैं ?

उत्तर : माता होकर भी कर्त्तव्यके लिये पुत्रकी ममताका त्याग, स्वामिभक्ति, दृढ़ता, उत्साह, निर्भयता और तेज।

प्रश्न : बप्पाके चरित्रमें क्या विशेषता दिखाई पड़ती है ?

उत्तर : कर्त्तव्यशील माताका पुत्र भी अपना कर्त्तव्य पहचानता है। क्षत्रियका बालक बचपनमें भी मृत्युसे नहीं डरता। वह साहसी, उत्साही और वीर है।

प्रश्न : नाई कैसा व्यक्ति है ?

उत्तर : वह स्वामिभक्त है।

प्रश्न : बनवीर किस प्रकारका व्यक्ति है ?

उत्तर : अधम, स्वार्थी, निर्दय, कायर, हत्यारा तथा राजमदमें अन्धा।

(२) कथा-व्याख्या —

प्रश्न : नाटककारने ऐतिहासिक घटनामें क्या परिवर्त्तन किया है ?

उत्तर : ऐतिहासिक घटनाके अनुसार सोते हुए बप्पाको ही बनवीरने मार डाला था और उदयसिंहको पन्नाने टोकरीमें रखकर पहले ही नाईके हाथ बाहर भेज दिया था।

प्रश्न : नाटककारने ये परिवर्त्तन क्यों किए ?

उत्तर : यदि सोते हुए बप्पाका मारा जाना दिखाया जाता तो इसमें बप्पाके चरित्रका और उसकी वीरताका कोई महत्त्व न होता। जान-बूझकर मौतसे खेलना बड़ी भारी वीरता है, फिर बप्पा जैसी कच्ची अवस्थाके बालकके लिये तो वह और अधिक प्रशंसात्मक है। उदयसिंहको दृश्यमें उपस्थित रखनेसे दर्शकोंका कुतूहल तीव्र हो जाता है और पन्नाके अन्तिम वाक्य 'लो दूध पी लो' पर दर्शक रो उठते हैं।

(३) संवाद-व्याख्या—

प्रश्न : पन्नाने कहा कि 'आज तुम्हारे हाथमें खुली हुई तलवार कैसे है ? क्या किसी बाहरी शत्रुने चढ़ाई की है ?' इसमें क्या व्यंग्य है ?

उत्तर : पन्ना इसके द्वारा समझाना चाहती है कि इस तलवारका प्रयोग बाहरी शत्रुओंपर ही करना चाहिए। घरवालोंपर तलवार उठाना उचित नहीं है।

प्रश्न : बनवीर उत्तर देता है कि 'यहाँ जो भीतरी शत्रु हैं उन्हींका रक्त पीनेको मेरी तलवार व्याकुल थी । आज उसीकी प्यास बुझाने आया हूँ ।' इस कथनसे उसका क्या उद्देश्य है ?

उत्तर : वह संकेतसे ही कह देना चाहता है कि उदयसिंह मेरा शत्रु है । मैं उसे मार डालना चाहता हूँ ।

प्रश्न : यह सुन और समझकर भी पन्नाने वाद-विवाद क्यों किया ?

उत्तर : उसे आशा थी कि सम्भवतः बनवीरका हृदय बदल जाय ।

प्रश्न : पन्नाके इस कथनका क्या महत्त्व है कि 'जान पड़ता है अमृत-कलशमेंसे तुम्हें भी कुछ भाग मिला है ।

उत्तर : वह समझना चाहती है कि तू अमर नहीं है, तेरी मृत्यु भी निश्चित है । इसलिये बालककी हत्याका पाप न ले ।'

प्रश्न : पन्नाके यह कहनेपर भी बनवीरने उसका विश्वास क्यों नहीं किया कि 'उस पलँगपर सोनेवाले भोला-भाले बालकको तेरे राज्यसे कोई मोह नहीं है ।'

उत्तर : नाटककार यह प्रदर्शित करना चाहता है कि बनवीर मदमत्त था । उसे भले-बुरेका कुछ भी ज्ञान न था ।

प्रश्न : 'महाराणा विक्रमाजीतसिंहकी भी हत्या तूने ही की है ।' यह सुनकर बनवीर घबरा क्यों गया ?

उत्तर : क्योंकि वह समझता था कि यह कुकांड किसीको ज्ञात नहीं है ।

(४) रस-व्याख्या—

प्रश्न : इस नाटकको देखकर या पढ़कर तुम्हारे मनमें कौनसा भाव उत्पन्न होता है ?

उत्तर : क्रोध ।

प्रश्न : किसपर और क्यों ?

उत्तर : बनवीरपर, क्योंकि उसने कोमल बालककी हत्या कर डाली ।

प्रश्न : और किसके प्रति क्या भाव उत्पन्न होता है और क्यों ?

उत्तर : पन्ना और बप्पाके प्रति श्रद्धा और आदरका, क्योंकि पन्नाने पुत्रकी ममता छोड़कर उसका बलिदान करके राजाकी रक्षा की और छोटी अवस्थामें भी कर्त्तव्यको प्राणोंसे अधिक समझा।

कथनीय : १. राजपूतानेमें 'बाई' शब्द महिलाओंके लिये, 'कँवरजी' राजकुमारके लिये, 'नेवगी' बूढ़े नाइयोंके लिये तथा 'गीगा' बेटेके लिये सम्बोधन होता है। पन्ना वृद्धा राजधात्री है इसलिये बनवीरको राणा, बेटा, बनवीर कहती है।

२. भगवान् एकलिङ्ग महादेवजी मेवाड़के राज्य-स्वामी माने जाते हैं। मेवाड़के महाराणा उनके दीवान कहलाते हैं। कालिकाजी चित्तौड़की अधिष्ठात्री देवी हैं।

३. उदयसिंह राणा साँगा (संग्रामसिंह) के कनिष्ठ पुत्र थे। राणा साँगाकी मृत्युके समय उदयसिंह छह वर्षके थे। अतः सामन्तोंने उनके होनेतक पृथ्वीराजके पुत्र बनवीरको गद्दीपर बैठा दिया। राणा विक्रमाजीतसिंह उदयसिंहके बड़े भाई थे।

पुनरावृत्ति : १. बनवीर और पन्नाके चरित्रोंकी तुलना करो।

२. नाईने उदयसिंहकी रक्षामें क्या भाग लिया ?

३. बप्पाके स्थानपर तुम होते तो क्या करते और क्यों

प्रयोग : १. इस नाटिकाको कथाके रूपमें लिखो तथा उचि[त] वेश-भूषा और रङ्गसज्जाके साथ इसे खेलो।